मनाव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तर
ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशि

Swasthya Vigyan

प्रथम संस्करण : 1976
द्वितीय संस्करण : 1980
तृतीय संस्करण : 1985
चतुर्थ संस्करण : 1987

मूल्य . 25.00

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर-302 004

मुद्रक :
राजस्थान प्रिन्टिंग वर्क्स
किशनपोल बाजार, जयपुर ।

भारत सरकार द्वारा रियायती
पर उपलब्ध कराये गये कागज
मुद्रित ।

स्वास्थ्य विज्ञान

(HEALTH-SCIENCES)

(प्रिवेन्टिव एण्ड सोशल मेडिसिन)

लेखक
डॉ० सत्यदेव आर्य
एम० बी० बी० एस०; डी० पी० एच० (इङ्गलैण्ड)
भू० पू० निदेशक, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाएँ, राजस्थान

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

8. पौष्टिक आहार-दुग्ध पाउडर से तैयार किये गये दूध से बच्चों एवं माताओं का संभरण (Feeding) एवं व्यावहारिक पोषण योजना (Applied Nutrition Programme) के अभियान में योगदान।
9. स्कूलीय स्वास्थ्य सेवाएँ।
10. स्वास्थ्य शिक्षा प्रसार।
11. जीव सांख्यिकी संग्रह आदि।

प्राथमिक एवं द्वितीयक स्वास्थ्य केन्द्रों के लिये प्रस्तावित स्वास्थ्य कर्मचारियों की संख्या :—

प्रा. स्वा. केन्द्र		द्वि. स्वा. केन्द्र	
चिकित्सक	2	प्रशासनिक मेडिकल ऑफीसर	1
पब्लिक हेल्थ नर्स	4	डिप्टी प्रशासनिक मेडिकल ऑफीसर	1
नर्स	1	ऐसिस्टेन्ट प्रशासनिक ,, ,, (महिला)	1
मिडवाइफ	4	,, पब्लिक हेल्थ इन्जीनियर	1
प्रशिक्षित दाई	4	सीनियर सेनिटरी इन्स्पेक्टर	2
हेल्थ इन्स्पेक्टर	2	,, हेल्थ विजिटर	2
हेल्थ ऐसिस्टेन्ट	2	मेडिकल, सर्जिकल और प्रसूति एवं स्त्री रोग वार्डों के लिये एक-एक चिकित्सक	3
फारमेसिस्ट	1	'एक्सरे' व 'प्रयोगशाला' के लिये एक-एक चिकित्सक	2
लिपिक	2	दन्त-चिकित्सक	1
मिस्त्री	1	हाउस सर्जन्स व हाउस फिजिसियन्स	6
निम्नश्रेणी कर्मचारी	15	आवश्यकतानुसार पार्ट-टाइम चिकित्सक	
		,, अन्य निम्न श्रेणी कर्मचारी आदि।	

सन् 1959 में एक और कमेटी, डॉ. लक्ष्मणास्वामी मुडालियार की अध्यक्षता में, नियुक्त की गई जो मुडालियार कमेटी के नाम से प्रख्यात हुई। इस कमेटी को भोर कमेटी की सिफारिशों पर बनाई गई योजनाओं के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करने, व्यावहारिक कठिनाइयों का निरूपण करने और अग्रिम सुझाव देने का कार्य सौंपा गया। इस कमेटी ने तब तक की हुई प्रगति का अध्ययन किया और मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का दिग्दर्शन कराते हुए योजनाओं में आवश्यकतानुसार परिवर्तन एवं परिवर्धन के महत्वपूर्ण सुझाव 1962 में दिये जिन पर कार्यवाही प्रारम्भ की गई लेकिन इनके क्रियान्वयन के दौरान कुछ और परिवर्तन/परिवर्धन की आवश्यकता अनुभूतित हुई अतः थोड़े-थोड़े समय ही से अन्य समितियों का गठन करना पड़ा जो चड्ढा कमेटी (1963), मुकर्जी कमेटी (1965), जंगलवाला कमेटी (1967), करतारसिंह कमेटी (1977) तथा श्रीवास्तव कमेटी (1975) के नाम से गठित की गई। इन कमेटियों की सिफारिश पर यथेष्ट योजनाएँ एवं कार्यक्रम तैयार

4

स्वच्छ वातावरण--

जल

जल

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, वायु के बाद, जल हमारे जीवन का दूसरा मुख्य उपयोगी पदार्थ है। जल हमारी सभी शरीरवृत्तिक क्रियाओं (Physiological functions) में प्रमुख भूमिका निभाता है। हमारे शारीरिक वजन का लगभग 2/3 भाग जल ही का होता है। जल स्वयं एक पोषक तत्व होने के अनन्तर हमारे अन्य सभी पोषक तत्वों का वाहक बनता है; रक्त का 80% अंश होने से रक्त-परिसंचरण (Circulation) में सहायक होता है, पोषक तत्वों को कोशिकाओं में पहुँचाने और चयापचय के फलस्वरूप उत्पन्न हुए विकारयुक्त पदार्थों का निष्कासन कराता है, और आन्तरिक ग्रन्थियों के स्राव व हार्मोन्स का मौलिक अंश बनता है। अतः स्वच्छ एवं शुद्ध जल हमारे स्वास्थ्य के लिये परम उपयोगी तत्व है। शारीरिक उपभोग के अलावा जल की हमें निम्नलिखित कार्यों में आवश्यकता होती है :—

घरेलू कार्यों के लिये—नहाने-धोने, खाना पकाने, बरतन, साज-सामान, वस्त्र एवं मकान आदि धोने और शौचालय-मूत्रालय के प्रक्षालन आदि में।

नागरिक कार्यों के लिए—शहर सफाई; सड़कों, नालियों की धुलाई; गटर-ड्रेन (Drain) आदि की सफाई; जानवरों की पिलाई, धुलाई व सफाई; आग बुझाने में दमकल कार्यवाही, बाग-बगीचों, वाटिकाओं व पार्कों की सिंचाई; तरण-ताल, सजावटी-ताल एवं फौवारे, नौका-विहार-ताल, मत्स्य-पालन-ताल आदि के रख-रखाव में।

कृषि के लिए— खेतों, उद्यानों, उपवनों आदि की सिंचाई में.

औद्योगिक कार्यों के लिए—शक्ति-उत्पादन–वाष्प एवं विद्युत् व

प्रस्तावना

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 17 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1986 को 18 वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी मे प्रकाशित कर अकादमी ने हिन्दी जगत् के शिक्षकों, छात्रों एव अन्य पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी मे शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हो। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रन्थ जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नही पा सकते हो और ऐसे ग्रन्थ भी जो अग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नही पाते हो, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रन्थों को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नही गौरवान्वित भी हो सकें। हमे यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 325 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यों के बोर्डों एव अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत किये गये हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना-काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति मे उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

हमे हर्ष है कि हम "स्वास्थ्य विज्ञान" पुस्तक का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं। इसे गृह विज्ञान की स्नातक एव स्नातकोत्तर कक्षाओ के पाठ्यक्रमानुसार संशोधित एव परिवर्धित किया गया है। आशा है पुस्तक वर्तमान रूप मे छात्रों के लिए ही उपयोगी नही सिद्ध होगी, बल्कि सामान्य जन समुदाय भी इससे लाभान्वित होगा, क्योंकि इसमें पर्यावरण, वातावरण, रोगोपचार, मातृ एव शिशु स्वास्थ्य-

औद्योगिक उत्पादन प्रक्रियाओं में जल की विभि आवश्यकता होती है।

प्रतिदिन प्रति व्यक्ति की आवश्यकता :—

घरेलू उपभोग लगभग 20 गैलन जिसमें पीने के लिये 0·35, रसोई के के लिए 0·65, नहाने-धोने के लिए 8·0, कपड़े बरतन आदि धोने के लिए 6·0, और शौचालय (मलीय) प्रक्षालन के लिए 5·0 गैलन।

नागरिक सेवा उपभोग— लगभग 5 गैलन

और औद्योगिक उपभोग—लगभग 5 गैलन

कुल योग 30 गैलन (अस्पतालों में 40 से 50 गैलन की आवश्यकता होती है)

कस्बों व नगरों की आबादी के लिहाज से इस दर में कुछ हेर-फेर भी किया सकता है, जैसे 10,000 तक की आबादी पर 16 से 20 गैलन; 10,00[illegible] 50,000 की आबादी पर 20 से 25 गैलन और 50,000 से ऊपर की आबादी 25 से 45 गैलन। ग्रामीण क्षेत्रों में न्यूनतम मात्रा 5 गैलन से कम नहीं होन चाहिये।

जल स्रोत

जल का प्रमुख स्रोत वर्षा ही है। वर्षा का जल भूमि पर पड़ने पर या पहाड़ों पर गिर कर बर्फ के रूप में जमने और पिघलने पर उसका कुछ भाग पहाड़ी या मैदानी झीलों, बांधों या तालाबों में जमा हो जाता है और कुछ नदी नालों में बह कर समुद्र में जा मिलता है। इस जल को हम भूपृष्ठ जल (Surface Water) कहते हैं। कुछ जल रिसर कर भूमि में चला जाता है जिसे हम भूमिगत (Underground) जल कहते हैं। इस प्रकार जल की उपलब्धि हमें तीन प्रकार के स्रोतों से होती है।

1. वर्षा जल—(Rain Water)

2. भूपृष्ठ जल—(a) उच्चस्तर भूपृष्ठ जल (Upland Surface Water) जो पहाड़ी या पहाड़ी क्षेत्रों में झीलों, बांधों आदि जमा होता है, और

(b) निम्नस्थ भूपृष्ठ जल (Low Land Surface Water) जो मैदानी [illegible] में झीलों, बांधों या तालाबों में जमा होता है, और

3. भूमिगत जल—(Underground Water)

रक्षण, ग्रामीण स्वास्थ्य आदि अनेक ऐसे विषयों का विवेचन किया गया है। सामान्य व्यक्ति भी रुचि ले सकता है। स्वास्थ्य रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वास्थ्य-विज्ञान का ज्ञान होना परमावश्यक है।

अकादमी इसके लेखक डा. सत्यदेव आर्य की आभारी है जिन्होंने श्रम· इसे संशोधित एव परिवर्द्धित किया है।

आशा है पुस्तक पाठकों को रुचिकर प्रतीत होगी।

रणजीतसिंह कूमट
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी एव
शिक्षा सचिव, राजस्थान सरकार
जयपुर।

डॉ. राघव प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अका
जयपुर।

वांछित होता है। वैसे यह जल स्वतः शुद्ध, निर्मल और संदूषण रहित होता बशर्ते इकट्ठा करते समय या उसके बाद इसमे कोई संदूषण (Contamination न होने पाये।

भूपृष्ठ जल

(1) उच्च स्तर भूपृष्ठ जल (Upland Surface Water)—चूँकि यह जल पहाड़ी क्षेत्रो की झीलों व बाधो आदि मे जमा होता है और अधिकांश में Ca व mg क्षारविहीन होता है, अतः यह कोमल प्रकृति का होता है, और स्वच्छ व निर्मल होता है। इसमे निलम्बित द्रव्य (Suspended Matter) थोड़ा बहुत होता भी है तो वह स्वाभाविकतया अवसादन प्रक्रिया (Sedimentation) से नीचे पैठ जाता है। यदि इसका अधिग्रहण या आवाह क्षेत्र (Catchment Area) मानव एवं पशु मलमूत्र से सुरक्षित रखा जाय तो इसमें कार्बनिक द्रव्यो (Organic Matter) का घुलन मिलन नही हो पाता और ऐसी दशा मे यह सदूषित भी नही हो पाता। अतः यह जल सभी दृष्टि से सभी कार्यों के लिए उपयुक्त होता है लेकिन पीने के काम मे लाने के पूर्व इसका निस्यन्दन (Filteration) एव क्लोरीनिकरण (Chlorination) कर लेना वाछनीय होता है।

निम्नस्थ भूपृष्ठ जल (Low Land Surface Water)–यह जल मैदानी क्षेत्रों मे झीलो, बाधो व छोटे तथा बड़े तालाबो मे भरा रहता है। इस जल की प्रकृति जल-ग्रहण क्षेत्र की प्रकृति एवं उसकी सुरक्षा आदि पर निर्भर करती है। यह जल कोमल भी हो सकता है और कठोर (Hard) भी। कार्बनिक (Organic) एवं अकार्बनिक द्रव्य (Inorganic Matter) भी इसमे घुले-मिले (Dissolved) रह सकते है। सुरक्षा के अभाव मे यह सदूषित भी हो जाता है। अतः ऐसे जल के उपयोग के पूर्व वृहद स्तर पर इसका निस्यन्दन एव क्लोरीनिकरण अनिवार्य हो जाता है। वैसे हमारे यहा गावो मे भूपृष्ठ जल के स्रोत तो अधिकाशतः ग्रामीण तालाब ही होते हैं अतः इन तालावो को सुरक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है और इसके अनन्तर इस जल का घरेलू तरीके से स्वच्छीकरण कर लेना भी वाछनीय हो जाता है।

ग्रामीण तालाबो को सुरक्षित बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके चारो ओर के तट पक्के बनाये जायें और उन्हे भूतल से 4—5 फुट ऊँचा उठाया जाय जिससे मवेशी अन्दर न जा सकें और किनारो पर गिरने वाला दूषित जल भी अन्दर प्रवेश न पा सके। किनारे बाहर की ओर ढालू रक्खे जाय और उन पर दूब लगा दी जाय। तालाव के किनारों पर पेड़ न लगाये जाये, वे किनारो से कुछ दूरी पर लगाये जायें जिससे उनके सूखे पत्ते पानी में न गिरें। तालाब मे उतरने के लिये सीढ़ियाँ न हों। उसमे नहाना धोना वर्जित हो। किनारो पर भी नहाने धोने पर प्रतिबन्ध हो। पानी खीचने के लिए हैण्ड पम्प लगे हो या चरखी-डोल-डोरी की व्यवस्था हो। घर-घर की डोल-डोरी काम मे नही लाने दी जाय, तालाब के आस-

प्राक्कथन

"स्वास्थ्य विज्ञान" अपने सरलतम रूप में वस्तुतः सार्वजनिक रुचि का विषय है, क्योंकि व्यक्ति शत प्रतिशत स्वस्थ रहना चाहता है और स्वास्थ्य संबंधी ज्ञातव्य जानकारी प्राप्त करने को सदा उत्सुक रहता है। विज्ञान के बढ़ते चरणों के साथ-साथ स्वास्थ्य विज्ञान ने पिछले दिनो में जो उल्लेखनीय प्रगति की है और उपचारीय एवं निरोधक सेवाओं की जो विशिष्ट एवं विस्तृत वैज्ञानिक सामग्री प्रस्तुत की है, उसे सीमाङ्कित करना और संक्षेप रूप में प्रस्तुत करना सचमुच मे एक दु:साध्य कार्य ही है। अतः इस विषय पर संक्षेप मे कुछ लिखने में मेरे सामने भी यही समस्या आ खड़ी हुई है। यद्यपि मुझे इस विज्ञान की निरोधक शाखा—"प्रिवेंटिव एव सोशल मेडिसिन" पर ही कतिपय विवेचन करना है, तथापि यह शाखा भी विशिष्टता एवं विस्तीर्णता में अपना सानी नही रखती। इतने विशिष्ट एवं विस्तृत विषय पर प्रस्तुत लघु पुस्तक मे कितना क्या लिखा जाय और किन-किन पहलुओ पर विशेष प्रकाश डाला जाय, यह मेरे लिए विचारणीय विषय ही बना रहा। फिर भी राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की प्रेरणा से मैं यह लेखन-कार्य हाथ में ले ही बैठा। अकादमी का अनुरोध यह रहा कि पुस्तक स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर के पाठ्यक्रम की हो, अत. उसी के अनुरूप यह प्रयास किया गया है।

स्वस्थ रहने का हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और स्वास्थ्य-सम्पदा के सरक्षण का हमारा गुरुतम दायित्व भी। लेकिन इसके लिए हमें सामान्य स्वास्थ्य-सिद्धान्तो से विज्ञ होने के साथ-साथ स्वास्थ्यकर नियमों के पालन एव उपलब्ध स्वास्थ्य सेवाओं से यथोचित लाभ उठाने में प्रयत्नशील भी होना होता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी भारतीय पृष्ठभूमि में स्वास्थ्य-समस्याओं की तथा उनके समाधानार्थ नियोजित योजनाओं एवं उपायों की सामान्य जानकारी प्राप्त करें। इसी उद्देश्य से यह पुस्तक पाठकों की सेवा मे प्रस्तुत की जा रही है।

प्रस्तुत पुस्तक में स्वास्थ्य संरक्षण, स्वास्थ्य-संवर्धन एवं रोग-निरोधन सम्बन्धी विषयों पर यथोचित प्रकाश डाला गया है। स्वास्थ्य-संरक्षण में अन्यान्य उपायों के साथ-साथ स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर वातावरण का विशेष महत्त्व है क्योकि स्वच्छ वातावरण से स्वास्थ्य की अनेकानेक समस्याओं का स्वतः ही समाधान हो जाता है; अतः वातावरण की स्वच्छता के महत्त्व को इस पुस्तक में विशेष स्थान दिया गया है। वातावरण की स्वच्छता में संवातन एवं वायु-प्रदूषण, स्वच्छ एवं सुरक्षित जल-व्यवस्था; कूड़े-कचरे व मानव-मल-मूत्र का यथोचित निकास एवं निस्तारण, तथा जैविक वातावरण आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। संक्रमण, संक्रामक
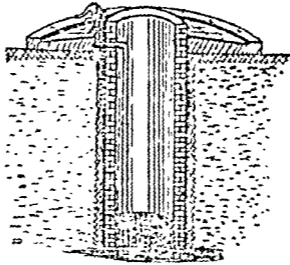
चित्र 4.3 (b) सुरक्षित कुआँ

पक्का चबूतरा बनाया जाय। कुएँ की मुंडेर लगभग 3' ऊँची रखी जाय और उसे बाहर की ओर ढालू बनाया जाय। कुआँ भीतर में ऊपर से जलस्तर तक सीमेंट कंकरीट से पक्का किया जाय। उसे सम्यक् रूप से ढका जाय। उस पर जल खींचने के लिए हैण्ड पम्प लगाये जायँ या स्थायी डोल-डोरी-चरखी की व्यवस्था की जाय। घर-घर की डोल-डोरी, जिससे दूषण एवं संदूषण हो सकता है, काम में नहीं लाने दी जाय। कुए के आस-पास कम से कम 250'-300' की परिधि में शौचालय, मूत्रालय, सारते गड्ढे, पशुशालायें न हो और कूड़े-करकट के ढेर न लगने दिये जायं। आस-पास बिखरे गन्दे जल के निकास की सुव्यवस्था की जाय। कुएं के जल का समय-समय पर रासायनिक (Chemical) एवं जीवाणुक (Bacteriological) परीक्षण किया जाय और तदनुसार क्लोरीनिकरण की व्यवस्था की जाय।

उथले कुए के स्थान पर कई जगह उथली बावड़ियां (Step well) होती हैं जिनमें जलस्तर तक बनी सीढ़ियां होती हैं। इन सीढ़ियों के जरिये लोग पानी भरने या नहाने-धोने के लिये जल तक पहुँचने में समर्थ हो पाते हैं। यह बावड़िया उथले कुओं से भी अधिक खतरनाक होती हैं। इनका जल उथले कुओं की भाँति दूषित एवं संदूषित तो होता ही रहता है, लेकिन इसके पानी में उतर कर लोग इसे और भी अधिक दूषित कर देते हैं। जल से फैलने वाले अनेकानेक रोगों में नारू रोग (Guinea worm) के फैलाव में यह बावड़िया बड़ा उत्पात मचाती हैं। सौभाग्य से बावड़ियों का उपयोग अब वैसे ही कम होता जा रहा है लेकिन परिस्थितिवश यदि इनके जल का प्रयोग करना ही पड़े तो सर्वप्रथम इनको कुएं में परिवर्तित किया जाय अर्थात् इनकी सीढ़ियों पर दीवार खिंचवा कर लोगों को इनके जल में प्रवेश करने से

एव निवार्य रोग, और उनके नियन्त्रण व उन्मूलन पर विशेष चिन्तन किया गया है। वैयक्तिक स्वास्थ्य, मातृ एवं शिशु कल्याण सेवाएँ, ग्रामीण स्वास्थ्य, स्कूलीय स्वास्थ्य सेवाएँ, भारतीय स्वास्थ्य समस्याएँ और उनके समाधानार्थ कार्यान्वित की गई योजनाओं पर भी आवश्यक प्रकाश डाला गया है। पोषण एवं पोषाहार पर विशेष विवेचन नही किया गया है क्योंकि इस विषय पर स्नातक-स्नातकोत्तर स्तर के पाठ्यक्रम के अनुरूप अलग ही से एक पुस्तक लिखी जा चुकी है; फिर भी अत्यन्त ही सक्षिप्त रूप मे इस विषय पर भी अत्यावश्यक जानकारी वैयक्तिक स्वास्थ्य और मातृ एव शिशु कल्याण विषयक अध्यायो मे दी गई है।

प्रस्तुत पुस्तक गृह-विज्ञान के स्नातक एव स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिए तो उपयोगी सिद्ध होगी ही, क्योंकि इसमे जो भी सामग्री सकलित की गई है वह उनके निर्धारित पाठ्यरूप के अनुरूप ही है, लेकिन प्रिवेंटिव एव सोशल मेडिसिन के विद्यार्थियो, ऑक्जीलरी हेल्थ वर्कर्स, स्वास्थ्य निरीक्षक, बेसिक हेल्थ वर्कर्स, नर्सिङ्ग ट्रेनिंग के छात्र-छात्राओ एव स्वास्थ्य सेवाओ मे कार्यरत विभिन्न श्रेणी के कार्यकर्ताओ के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है। आशा है पाठकगण मेरे इस यत्किञ्चित् प्रयास से यथोचित लाभ उठा सकेंगे।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी का मैं आभारी हूँ जिसने मुझे यह पुस्तक प्रस्तुत करने की सम्यक् प्रेरणा एव सुअवसर प्रदान किया।

S. B. 161, बापू नगर
जयपुर

सत्यदेव आर्य

रोका जाय और इनके जल का एक बार पूर्ण निकास करके नया जल संकलित किया जाय। तदुपरान्त वह सभी संरक्षण उपाय किये जांय जो उथले कुएं के लिए करने होते हैं (चित्र 4.4)।
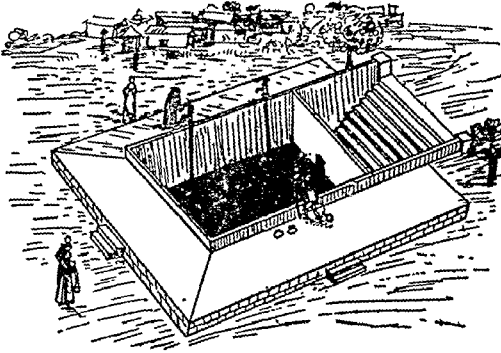
चित्र 4.4 सुरक्षित बावड़ी

गहरे या गभीर कुएं—यह कुएं अनिवार्य रूप से भूमि की प्रथम अप्रवेश्य तह के नीचे तक खोदे जाते हैं। कभी-कभी द्वितीय, तृतीय या उससे भी अधिक नीचे तक की अप्रवेश्य तह तक खोदने होते हैं। इनमें प्राप्त होने वाला जल दो अप्रवेश्य तहों के बीच का जल होता है। यह जल–जैसा कि पूर्व मे लिख आये हैं–अधिक निथार के कारण तथा अप्रवेश्य तह से होकर दूषण एवं सदूषण से प्रभावित नहीं होने के कारण स्वच्छ, सुरक्षित एव स्वास्थ्यकर होता है। यह कुएं सामान्यतया खोदे गये कुएं होते हैं या फिर नलकूप। इन कूपों में कुछ कूप ऐसे भी होते हैं जिनमें जल स्वतः ही ऊपर की ओर उछाल करता रहता है। ये कूप कहाँ बन पाते हैं और इनमे जल स्वतः ही क्यों उछाल करता है। इसको समझने के लिए हमे जल के समतल रहने की प्रकृति को ध्यान में रखना होगा। जल सदा अपना समतल बनाये रखता है (Water finds its own level)। दो अप्रवेश्य तहों मे बधा जल जब ऐसे स्थान पर बेधा जाय जहां उसका तल (level) अप्रवेश्य तहों की भुजाओं मे बधे जल तल से नीचा हो तो उस स्थिति में बेधा गया यह जल स्वतः ही भुजा-जल-तल तक ऊपर उठेगा, अर्थात् फंवारे की तरह उत्सृत होगा (चित्र 4.5)। इसलिये ऐसे कुओं को उत्सृत कुए या

भूमिका (चतुर्थ संस्करण)

'स्वास्थ्य विज्ञान' पुस्तक का तृतीय संस्करण इतनी जल्दी समाप्त हो जायेगा इसका पूर्वानुमान नही था। लेकिन अब जब कि यह समाप्त हो गया है तो इसका चतुर्थ संस्करण भी पाठको की सेवा मे प्रस्तुत किया जा रहा है। पिछले संस्करणों के प्रति पाठकवृन्द की इतनी अधिक अभिरुचि जहां पुस्तक की सार्थकता एवं उपयोगिता को उजागर करती है वहां मेरे यत्किञ्चित् प्रयास के लिए मुझे प्रोत्साहित भी।

चतुर्थ सस्करण मे विषयों की सैद्धांतिकता को गृह-विज्ञान के स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम के अनुरूप बनाये रखते हुए स्वास्थ्य सेवाओ के उत्तरोत्तर बढते कदमों के फलस्वरूप अब तक के सुधरे स्वास्थ्य स्तर; ग्रामीण क्षेत्रों मे स्वास्थ्य सेवाओ के अन्तर्गत प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र (P H C.) व उसके उपकेन्द्रो के लघुकृत क्षेत्र के कारण इनका विस्तार तथा इनके कार्य विधि-विधान में यथोचित परिवर्तन, द्वितीयक स्वास्थ्य केन्द्र के स्थान पर विकास खण्ड स्तर पर कम्युनिटी हेल्थ सेन्टर (C H.C) के स्थापन; व ग्राम स्तर पर सुलभ प्राथमिक उपचारीय सेवाओं की व्यवस्था आदि पर यथोचित प्रकाश डाला गया है। विभिन्न तालिकाओं मे प्रस्तुत अङ्को व अन्यथा भी जीवन सांख्यिकी तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी अङ्कों मे यथोचित अद्यतन परिवर्तन कर दिया गया है। पिछले संस्करण में मुद्रण सम्बन्धी या अन्य जो भी त्रुटियां रह गईं थी उनका भी निराकरण कर दिया गया है।

आशा है यह संस्करण भी पाठकों के लिए उतना ही उपयोगी सिद्ध होगा और उनकी इतनी ही अभिरुचि अर्जित कर पायेगा जितने कि पूर्वगामी संस्करण।

2 अक्टूबर, 1986 सत्यदेव आर्य

S- B. 161 बापू नगर
जयपुर 302015

कतानुसार समय-समय पर सफ़ाई की जाती है और रख-रखाव की समुचित की जाती है (चित्र 4 6)
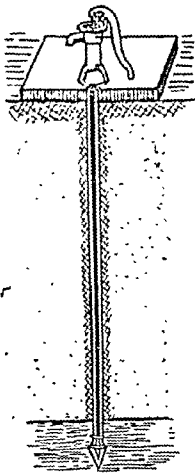
चित्र 4.6 नलकूप

जलीय अपद्रव्यता—कारण और प्रभाव

(1) निम्नलिखित पदार्थ जल में आविलता (Turbidity) पैदा करते हैं, जल को गंदला करते हैं।

(2) कार्बनिक पदार्थ-विशेषकर वनस्पति के विघटन से उत्पन्न तत्व एवं कुछ जीवाणु जल मे अवाञ्छनीय रंगत पैदा करते हैं।

(3) कार्बनिक पदार्थों के विघटन ही से, वॉलेटाइल (Volatile) द्रव्यो के मिश्रण से जैसे एमोनिया(NH_3), हाइड्रोजन सल्फाइड (H_2S) आदि से, अत्यधिक
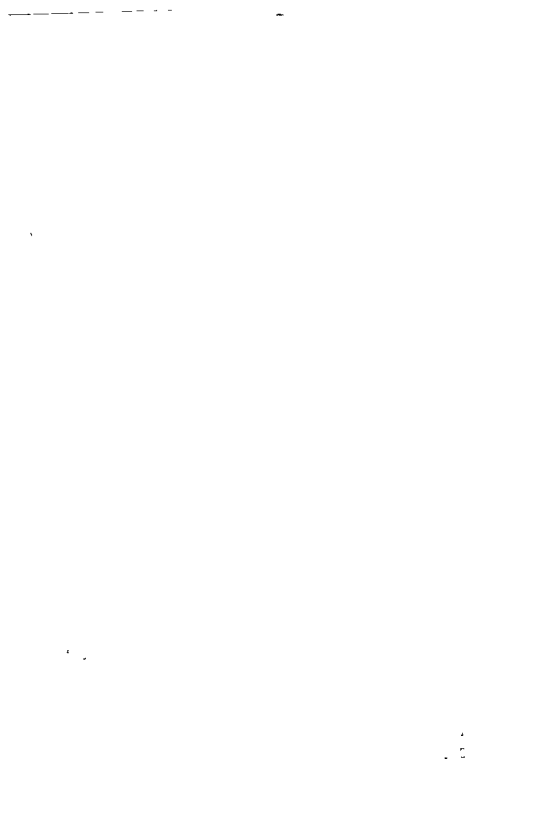
क्लोरीनिकरण से या काई (Algae) आदि से जल में गन्ध पैदा होती है और स्वाद भी बिगड़ जाता है।

(4) भूमि की परतों से विलीन होने वाले कैलशियम (Ca) व मेगनेशियम (. के लवण — बाइ-कार्बोनेट्स कार्बोनेट्स, सल्फेट्स एवं क्लोराइड्स जल में रा स्वाद पैदा करते हैं और कठोरता (Hardness) उत्पन्न करते हैं। कठोर कोष्टबद्धता या प्रवाहिका (Constipation or diarrhoea) पैदा करता है; नह पर कभी-कभी खराश व खुजली पैदा करता है; भोजन पकाने में देरी लगाता है, दाल आदि को देर से गलाता है जिससे ईंधन का व्यर्थ में अपव्यय होता है; नहा व कपड़े धोने में साबुन के तुरन्त झाग पैदा नहीं करने से साबुन का अधिक अपव्यय होता है; भांति-भांति के इन्जिन बॉयलरों (Boilers) में पपड़ी पैदा करता है जिससे उनके फटने का डर रहता है।

(5) सीसे (lead) का मिश्रण सीसे के बने नलों व टंकियों से होता है। सीसा अधिकांश कोमल (soft) जल में विलीन हो पाता है। इसकी मात्रा किसी भी लवण के रूप में 0·05 mg/litre से अधिक नहीं होनी चाहिये। सीसा मिश्रित जल लम्बे समय के प्रयोग पर संचित विषाक्त प्रभाव पैदा करता है जिससे कोष्टबद्धता, उदर-शूल, जोड़ों में दर्द, रक्त की लाल कणियों व हीमोग्लोबिन की कमी वृक्कशोथ (nephritis), मानसिक विकृति और मणिबन्ध-पात (wrist-drop) व पाद-पात (foot-drop) की शिकायत होती है।

(6) आइरन भूमिगत जल में फेरस बाइ-कार्बोनेट के रूप में विलीन होता है जिससे बदहजमी व कोष्टबद्धता पैदा होती है।

(7) सोडियम सल्फेट व क्लोराइड जल में नमकीन स्वाद पैदा करने के अनन्तर बहुधा उल्टी (Vomiting) व प्रवाहिका की शिकायत पैदा करते हैं।

(8) फ्लूओरीन (Fluorine) या फ्लूओरिड्स (Fluorides) यदि जल में 1 mg/Litre से अधिक हों तो कालान्तर में दांतों को कुर्बरित (mottled) करते हैं, हड्डियां मुड़ने लगती हैं, हाथ-पांव टेढ़े-मेढे होने लगते हैं और व्यक्ति कुबड़े होने लगते हैं; पर यदि इसकी मात्रा 0·5mg/Litre से कम होती है तो दांतों में कोचर होने लगते हैं। राजस्थान के नागौर जिले के कुछ गांवों में फ्लूओरीन की अधिकता की शिकायत है।

(9) आइडीन (iodine) जल मे स्वाभाविकतया विलीन रहता है लेकिन यदि इसकी कमी हो तो ग्वाइटर (Goitre) की बीमारी होती है।

(10) रोग कीटाणुओं एवं कृमि आदि से संदूषित जल अनेकानेक रोग फैलाता है जिनमें बहुत से रोग महामारी के रूप में फैलते हैं। इन रोगों मे :—

जीवाणु उत्पादित रोग—हैजा, आंत्रशोथ, मोतीझरा, पैरॉटाइफाइड, प्रवाहिका एवं पेचिश है।

विषय-सूची

करते । B. coli यदि जल में पाया जाय तो इसका तात्पर्य होता है जल में मान या पशु मलमूत्र का संदूषण होना जिससे रोगोत्पादक कीटाणुओं के होने की सं. सम्भावना रहती है। अतः जल मे यदि प्रति 100ml में एक भी B coli पाया जाय या 10 से अधिक अन्य कोलीफार्म बेक्टीरिया पाये जायं तो यह जल पीने योग्य सुरक्षित नहीं माना जाता। इसका सम्यक् क्लोरीनिकरण करना अनिवार्य हो जाता है। जल मे नाइट्राइट्स भी नहीं होने चाहिये क्योंकि इसका अर्थ होता है हाल में हुए मलमूत्र से सदूषण।

जल शोधन (Purification of water)

जल शोधन मे हम दो बातों पर विशेष ध्यान देते हैं :—

1. कठोरता निष्कासन, और
2. स्वच्छीकरण एवं संदूषण निवारण

कठोरता निष्कासन (Removal of Hardness)

W. H O के अनुसार यदि जल मे कठोरता 1 से 3 mEq/litre अर्थात् 50 से 150 mg $CaCO_3$ तक की होती है तो इसे साधारण श्रेणी की कठोरता माना जाता है, लेकिन यदि यह इससे अधिक हो तो इसका निष्कासन करना ही होता है। कठोरता 2 प्रकार की होती है। 1 अस्थायी (Temporary), व 2 स्थायी (Permanent)।

अस्थायी कठोरता जल मे Ca एवं Mg बाइकार्बोनेट्स की अधिकता से होती है। इसके निष्कासन के लिए छोटे पैमाने पर तो जल को केवल उबाल लेना ही पर्याप्त होता है। जल के उबलने पर CO_2 निष्कासित हो जाता है जिससे बाइकार्बोनेट्स कार्बोनेट्स मे परिवर्तित हो जाते हैं, और चूंकि यह जल मे विलीन नहीं होते अतः नियर कर नीचे पैठ जाते हैं जिससे जल कोमल हो जाता है। चूंकि उबला जल नि.स्वाद होता है अतः इसे वातित कर लेना वाञ्छनीय हो जाता है। जल के उबालने पर जो प्रतिक्रिया होती है वह है :

$$Ca(HCO_3)_2 \rightleftharpoons CaCO_3 + H_2O + CO_2$$
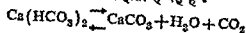
चूने का प्रयोग—चूना, कैल्शियम हाइड्रोक्साइड $Ca(OH)_2$ के रूप मे, काम लाया जाता है। $Ca(OH)_2$ बाइकार्बोनेट्स के CO_2 को अवशोषित कर लेता जिससे यह कार्बोनेट्स मे परिवर्तित हो जाते हैं।

$$Ca(HCO_3)_2 + (CaOH)_2 = 2CaCO_3 + 2H_2O$$

$$Mg(HCO_3)_2 + Ca(OH)_2 = Mg\ CO_3 + CaCO_2 + 2H_2O$$
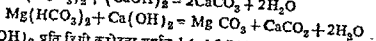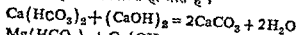
$Ca(OH)_2$ प्रति डिग्री कठोरता अर्थात् 14–15 PPM या 14–25 mg/litre O_3 तक की कठोरता में 1 oz प्रति 700 गैलन जल के हिसाब से मिलाया है।
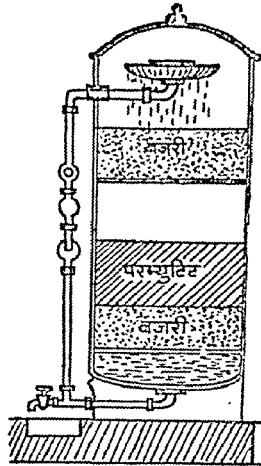
चित्र 4.7 परम्यूटिट उपकरण

स्वच्छीकरण एवं संदूषण निवारण

छोटे पैमाने पर घरेलू स्वच्छीकरण—1. उबालना 2. रासायनिक विसंक्रमण (disinfection) व 3. निस्यन्दन (Filteration)।

बड़े पैमाने पर 1. संग्रह (Stórtage) 2. निस्यन्दन व 3. क्लोरीनिकरण।

छोटे पैमाने पर 1. उबालना—घरेलू उपभोग के लिए उपर्युक्त तीनो तरीको में से कोई भी एक तरीका या तीनो ही संयुक्त रूप से काम में लाये जा सकते है। जल को उबाल कर स्वच्छ कर लेना अत्यन्त ही सुरक्षित तरीका है। इससे उसमें जो भी रोग-कीटाणु होगे वह और कृमि के अण्डे आदि भी नष्ट हो जावेंगे और जल की अस्थायी कठोरता भी निष्कासित हो जावेगी। यदि जल गँदला है तो उसे उबालने के पहले मोटे कपड़े से छान लेना श्रेयस्कर होता है। उबले जल को का

सुस्वास्थ्य एवं उससे सम्बन्धित कुछ तथ्यों पर प्रारम्भिक विचार

सुख की कामना सभी करते हैं; दु:ख कोई नहीं चाहता। वस्तुत: सुख-दुःख का सम्बन्ध हमारे भौतिक शरीर और मन से ही होता है। शरीर स्वस्थ हो, निरोग हो, सबल एवं सक्षम हो और मन शुद्ध, पवित्र, मननशील एवं शुभ संकल्प वाला हो तो इस अवस्था को मोटे-तौर पर हम शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता की ही संज्ञा देते हैं। इस अवस्था में हम कार्य-कुशलता और सद्व्यवहार का परिचय दे पाते है और वस्तुतः सुख की अनुभूति करते है। इसके विपरीत यदि शरीर रोगग्रस्त है, त्रुटिपूर्ण (defective) है, तो हम दु:ख, कष्ट, वेदना और हीन-भावना का अनुभव करते हैं। अतः स्वस्थ शरीर से हम सुख के पहले सोपान पर पदारूढ हो पाते हैं। ठीक ही तो कहा है "पहला सुख निरोगी काया"। दूसरा सुख "धनैश्वर्य और माया" जिसे हम निरोग एवं सक्षम रह कर ही परिश्रम द्वारा प्राप्त कर पाते हैं। तीसरा और सर्वोत्तम सुख–परमानन्द का है–जो आत्मा से सम्बन्ध रखता है–जिसे प्रभु–आदेशों का पालन करने, सत्याचरण एवं धर्माचरण का जीवनयापन करने और पूर्ण श्रद्धा, भक्ति एवं समर्पण-भावना से आत्मा को परमात्मा में लीन करने पर प्राप्त होता है। धन्य हैं वे आप्तजन जो इस सुख को भी प्राप्त कर पाते हैं। अस्तु–

चूंकि सुस्वास्थ्य प्राणीमात्र की सुखद सम्पदा है अत: वह इसे प्राप्त करने के लिए सदा इच्छुक रहता है। निम्न श्रेणी का प्राणीवर्ग तो यथा-सम्भव प्रकृति के नियमों का पालन करके अपने आपको कुछ हद तक स्वस्थ बनाये रख पाता है, पर मनुष्य–जो प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और जिसे प्रभु ने ज्ञान एवं कर्म इन्द्रियों के साथ-साथ बुद्धि का अनुपम उपहार भी दिया है, स्वास्थ्य-सिद्धि के लिये कुछ विशेष उपाय अपनाता है। विज्ञान के आधार पर की गई नयी-नयी खोजों के अनुरूप मानव नयी-नयी योजनायें बनाता है, विधान बनाता है, नियम उपनियम बनाता है, नये-नये साधन तैयार करता है और उसके माध्यम से वाञ्छित स्वास्थ्य उपार्जित करने का प्रयास करता है तथा उपार्जित स्वास्थ्य की रक्षा भी करता है। लेकिन उसे व्यक्तिगत स्वास्थ्य-सिद्धि ही से सन्तुष्ट नहीं होना होता है, वरन् अपने स्वजन, समाज, समुदाय और राष्ट्र के स्वास्थ्य का भी हित-चिन्तन करना होता है। "सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामयः" अर्थात् सभी निरोग हों और सभी सुखी हों, के लक्ष्य को पूरा

(a) पास्चर चेम्बरलैंड फिल्टर (Pasteur Chamberland filter) 2 या 2 से अधिक नलिकाएं होती हैं। जल इन नलिकाओं के अन्दर से छन बाहर आता है और ढोल में एकत्रित होता है (चित्र 4·8)।
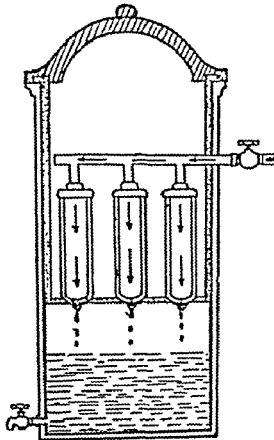
चित्र 4·8 पास्चर चेम्बरलैंड फिल्टर

(b) बर्कफेल्ड फिल्टर (Berkefeld filter)—इसमें किसलगूर नामक एक प्रकार की चीनी मिट्टी की एक ही नली लगी होती है। इसमें जल बाहर से भीतर की ओर प्रवाहित होकर छनता है और इसमे से निकल कर ढोल के निचले कक्ष मे एकत्रित होता है (चित्र 4·9)।

(c) केटाडिन फिल्टर (Katadyn filter)—इसमें भी चीनी मिट्टी की एक नलिका होती है जिस पर चांदी के घोल का लेप किया हुआ होता है। यह लेप कीटाणुओं को नष्ट करने मे उत्प्रेरक (Catalyst) का काम करता है।

करना होता है । इसी लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त मानव-स्वास्थ्य-विज्ञान का गहन अध्ययन व अन्वेषण करता आया है और उसी के आधार पर स्वास्थ्य सेवाओं का अधिकाधिक विस्तार भी हुआ है ।

पाश्चात्य चिकित्सा वैज्ञानिकों ने स्वास्थ्य सेवाओं का जो कुछ भी विस्तार किया है, वह लगभग पिछले 100–125 वर्षों में हुआ है, लेकिन हमारी युगों पुरानी भारतीय संस्कृति में स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान का अत्यन्त ही विशिष्ट उल्लेख मिलता है । व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए वेद, उपवेद-आयुर्वेद, मनुस्मृति, दर्शनशास्त्र एवं सम्बन्धित आर्ष ग्रन्थों में नियमित दिनचर्या, नैतिक आचार-विचार, सदाचार एवं सद्व्यवहार, इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, शुद्ध एवं पौष्टिक आहार, स्वच्छ वातावरण, रोगोपचार, रोग-निवारण आदि विषयों का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया गया है । इन्हीं के अनुसार जीवनयापन करते हुए उस समय का मानव सौ वर्ष तक जीते रहने का सौभाग्य प्राप्त करता था । यजुर्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि मानव 'जीवेम शरदः शतम्" सौ वर्ष तक जीये लेकिन 'अदीना स्याम शरदः शतम्" अदीन होकर अर्थात् दीन-हीन और शारीरिक लाचारी के कारण अन्यों पर आश्रित होकर नहीं, बल्कि पूर्ण स्वस्थ और स्वावलम्बी होकर सौ वर्ष तक जीये । स्वावलम्बी होने के लिये सभी इन्द्रियां सक्षम हों; अतः वेद-मन्त्र आगे स्पष्ट करता है कि "पश्येम शरदः शत, शृणुयाम शरदः शत, प्रब्रवाम शरदः शत" अर्थात् पूर्ण दृष्टि, श्रवण एवं वाणी शक्ति को प्राप्त होकर देखता हुआ, सुनता हुआ और बोलता हुआ सौ वर्षों तक जीये । इतना ही नहीं "भूयश्च शरदः शतात्" सौ से भी अधिक वर्षों तक जीये ।

उस समय की प्राचीन भारतीय सभ्यता में मानव के रहन-सहन, आवास-निवास, स्वच्छ वातावरण आदि का स्तर कितना ऊँचा था, इसका प्रमाण हमें मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई में पाये गये अवशेषों से प्राप्त होता है । इस खुदाई में नगर-शहर या कस्बे बसाने की सुव्यवस्थित योजना; सड़कों, उप-सड़कों व गलियों का सुव्यवस्थित निर्माण; सड़कों के नीचे डाली गई गन्दे पानी व बरसाती पानी के निकास की पक्की निकासिकाएँ (Drains); मकानों में पक्की ईंटों का प्रयोग; सीलन की रोकथाम के लिये दीवारों की निचली तहों में धातु-मिश्रित ईंटों का प्रयोग; संवातन (Ventilation) के लिए खिड़कियों व रोशनदानों का प्रयोग आदि ऐसे तथ्य हमारे सामने आये हैं, जिनसे ईसा से लगभग 6000 वर्ष पूर्व की सभ्यता एवं स्वास्थ्य ज्ञान की विशिष्टता का परिचय मिलता है । समयान्तर में हमारी इस प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पर विदेशी आक्रमणों का प्रभाव पड़ा और परिणामस्वरूप उसका दिन-प्रतिदिन ह्रास ही होता गया; हम अधिकांश में अपने पूर्वजों के उस व्यावहारिक ज्ञान-विज्ञान की गरिमा से हाथ धो बैठे; लेकिन हमारे सत्य, सनातन, वैदिक शास्त्रों और संहिताओं का समुचित उपयोग ग्रीस, रोम, मिस्र व अन्य योरोपीय देशों में पनपने

1. संग्रह—वैसे तो जल झीलों, बांधों या बड़े-बड़े तालाबों में स्वतः ही संग्रहीत रहता है जिससे उसमे पाये जाने वाले निलम्बित पदार्थ अपने आप ही नियर कर नीचे पैठ जाते हैं और जल का गँदलापन बहुत अंशों मे मिट जाता है। इसके अतिरिक्त जल पर सूर्य की किरणों का प्रभाव पड़ता रहता है जिससे बहुत से रोग-कीटाणु स्वतः नष्ट हो जाते हैं और ऑक्सीकरण के कारण कार्बनिक पदार्थ भी प्रायः विघटित हो जाते हैं। पर नदी के जल मे—जो संग्रहीत नही होता—ये सब प्रतिक्रियाएँ नही हो पाती। झीलो आदि का जल भी वाटरवर्क्स पर नालियों, नलों आदि से लाते समय दूषित हो सकता है। अतः वाटरवर्क्स पर विशेष अवसाद कुण्डो (Settling tank) की व्यवस्था करनी होती है जिसमे जल को 36 से 48 घन्टो तक संग्रहीत रखा जाता है ताकि उसमें वही ऊपर लिखित प्रतिक्रियाएँ हो सकें।

2. निस्यन्दन—जल निस्यन्दन हेतु 2 प्रकार के निस्यन्दक काम मे ल[illegible] जाते हैं :—

(a) मन्द बालू निस्यन्दक (Slow Sand filter), और
(b) त्वरित बालू निस्यन्दक (Rapid Sand filter)

(a) मन्द बालू निस्यन्दक

यह निस्यन्दक एक या एक से अधिक, लगभग $\frac{1}{10}$ से 1 एकड़ भूमि पर आयताकार (Rectangular) बनाये जाते हैं। इनकी दीवारे सीमेंट-कंकरीट से पक्की बनाई जाती हैं। गहराई लगभग 12′ के होती है। पैदे मे कंकरीट की पक्की तह पर छिद्रदार न[illegible] जमाये जात हैं या ईंटो की पक्की नालियाँ बनाई जाती हैं जिन्हे इस तरह ढँक दिया जाता है कि इनमे कंकरीट या मिट्टी प्रवेश न पा सके पर छना हुआ जल प्रवाहित हो सके। इन पर 6″ से 12″ की कंकरीट की तह जमाई जाती है, और इसके ऊपर बालू मिट्टी की 3 से 5 ft. मोटी तह जमाई जाती है बालू पर 5 से 6 ft गहराई तक जल भरा जाता है। शेष फिल्टर का भाग खाली रहता है। [illegible]गभग 3 दिन मे बालू पर कार्बनिक पदार्थों एवं काई आदि की जैली जैसी 3″-4″ [illegible]ोटी तह जम जाती है, जिसे जैव तह (Vital layer) कहते हैं। इस तह मे [illegible]नेकानेक निरापद जीवाणु पनपते हैं जो रोग-कीटाणुओ को नष्ट करते रहते हैं। [illegible] तक यह तह नही बन जाती तब तक छने हुए जल का प्रयोग नही किया जाता। [illegible] तह इस फिल्टर का प्रमुख अङ्ग बनती है क्योकि इसी मे से जल का अधिकांश [illegible]न्दन होता है, कार्बनिक पदार्थों का ऑक्सीकरण होता है, निलम्बित पदार्थों [illegible] निष्कासन होता है और रोग-कीटाणुओ का जवी क्रिया (Biological [illegible]n) से नाश होता है। इसके बाद जल बालू मे से छनता हुआ छिद्रदार नलो मे [illegible]त होता है जिसे सुरक्षित जल-संग्रहालयो, कुओं आदि मे इकट्ठा किया जाता [illegible] नलो द्वारा नगरो मे वितरित किया जाता है। यदि यह फिल्टर ठीक ढंग से [illegible]ते हैं और इनका रख-रखाव समुचित होता है तो इनसे शुद्ध किया गया

वाली सभ्यताओं ने किया और भारतीय आयुर्वेदिक विज्ञान व स्वास्थ्य संविधान की आधारशिला पर अधिकाश पाश्चात्य स्वास्थ्य विज्ञान का विस्तार हुआ।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने प्रारम्भ में स्वास्थ्य विज्ञान को केवल हाईजीन (Hygiene) की संज्ञा दी जिसमें स्वास्थ्य शिक्षा के उद्देश्यों को प्रतिपादित किया गया और अधिकांश में व्यक्तिगत स्वास्थ्य साधन के विषय पर ही बल दिया गया। समयान्तर में आवश्यकतानुसार इस विषय को अधिक व्यापकता प्रदान की गई और इसे "जनस्वास्थ्य" का विषय बनाया गया। तब इसका "हाईजीन एवं पब्लिक हैल्थ" (Hygiene & Public Health) नामकरण किया गया और इसके अन्तर्गत सार्वजनिक स्वास्थ्य के कार्यक्रमों को हाथ में लिया गया। इनमें निम्न कार्यक्रम आयोजित किये गये—

1. रोगों का उपचार।
2. स्वच्छ वातावरण का प्रबन्ध जिसमें—
   व्यक्तिगत स्वच्छता, शहर सफाई, कूड़ा-करकट, मल-मूत्र व गन्दे पानी का निकास व उनका यथोचित निस्तारण (Disposal), स्वच्छ हवादार मकानों का निर्माण, समुचित संवातन, वायु-दूषण की रोकथाम, स्वच्छ जल-व्यवस्था आदि।
3. संक्रामक रोगों का उपचार एवं प्रतिकार तथा निवारण।
4. रोग वाहक कीटाणुओं का निराकरण-विसंक्रमण (Disinfection), पीड़क जन्तु नाशन (Disinfestation), रोग वाहक कीट पतगों का नाश—निष्कीटीकरण (Disinsectization) आदि।
5. पौष्टिक आहार और खाद्य पदार्थों की शुद्धता एवं स्वच्छता।
6. मातृ एवं शिशु-कल्याण।
7. विद्यार्थी वर्ग के लिये स्कूलीय स्वास्थ्य सेवाएं (School Health Services) जिसमें स्वास्थ्य निरीक्षण और रोग या आङ्गिक दोषों (Defects) का उपचार।
8. व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रतिष्ठानों में स्वास्थ्य संरक्षण और यथासाध्य दुर्घटना निवारण।
9. जीव साख्यिकी संग्रह (Collection of Vital Statistics) अर्थात् जन्म-मरण संख्या, जन्म-मरण दर, मातृ-मृत्यु दर, शिशु-मृत्यु दर, विभिन्न बीमारियों से मृत्यु-दर आदि की गणना।
10. स्वास्थ्य सम्बन्धी कानून और उनके अन्तर्गत नियम-उपनियम बनाना और उन्हें लागू करना।

ज्यों-ज्यों स्वास्थ्य विज्ञान पर अधिकाधिक अध्ययन एवं अन्वेषण होता गया त्यों-त्यों इसका अधिकाधिक विस्तार होता गया और इसके नामकरण में भी परिवर्तन होता गया, जैसे प्रिवेन्टिव् मेडिसिन एण्ड पब्लिक हैल्थ (Preventive Medicine &

संग्रहीत रक्खा जाता है, जिससे उसके निलम्बित पदार्थ बहुत कुछ निथर जायें। इसके बाद जल को पक्के बने मिश्रण हौज मे लाया जाता है जहाँ इसमें एलम (Alum) 1 से 4 ग्रेन प्रति गैलन के हिसाब से, घोल के रूप में, मिलाया जाता है। तदुपरान्त यह जल एक विशेष नाली द्वारा ऊर्णिका हौज (Flocculation Tank) में पहुँचाया जाता है। इस नाली में तिरछी प्लेट्स लगी होती हैं—जिससे एलम का घोल इस नाली में होकर जल के बहने पर उसमें अच्छी तरह घुल-मिल जाय। ऊर्णिका हौज में एलम की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जल में जो भी निलम्बित पदार्थ शेष रहते हैं, वे ऊर्णिका (Floccules) में परिवर्तित हो जाते हैं। हल्की ऊर्णिकाएँ ऊपर तैरने लगती हैं, जिन्हें निकाल लिया जाता है और उसके बाद जल को अवसादन कुण्ड (Sedimentation Tank) में पहुँचाया जाता है, जहां सभी भारी ऊर्णिकाएं नीचे बैठ जाती हैं। इसके बाद यह जल फिल्टर मे पहुँचाया जाता है।

फिल्टर पक्के कक्ष में बना होता है। इसके अलग-अलग डिजायन होते हैं पर सैद्धान्तिक रूप से इसमें केवल बालू व मोटी बजरी ही काम में लाई जाती है। बालू की तह लगभग 30" की होती है और इसके नीचे बजरी की तह लगभग 18" की। इसके नीचे छिद्रदार पाइप लगे रहते हैं जिनमे होकर निस्यन्दित जल संग्रहालय कक्ष में पहुँचता है (चित्र 4.11 b)। मन्द बालू फिल्टर में जहां जैव तह बनती है वहां इस फिल्टर मे एलम (Alum) की प्रतिक्रिया एल्यूमिनियम हाइड्रोक्साइड $AL(HO)_3$ ऊर्णिकाओ की तह बनती हैं जो अवसादन कुण्ड मे अवसादित नहीं होती और अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे फिल्टर मे पहुँचती हैं। इस तह मे रोग-कीटाणु फँस

[illegible] ...शोधक व्यवस्था
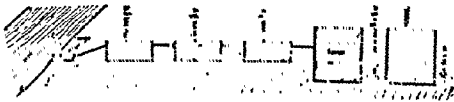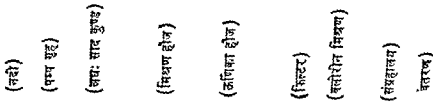
[illegible] भी यह जल पूर्ण रूप से कीटाणु-रहित हो नहीं पाता—[illegible].95% ही कीटाणु-रहित हो पाता है, अतः इसका क्लोरीनिकरण अनिवार्य

Public Health) और प्रिवेन्टिव एवं सोशल मेडिसिन (Preventive & Social Medicine) इस समय यह विषय प्रिवेन्टिव एवं सोशल मेडिसिन के नाम ही से प्रख्यात है।

सार्वजनिक क्षेत्र मे प्रिवेन्टिव एव सोशल मेडिसिन के अन्तर्गत स्वास्थ्य सेवाओं का और अधिक विस्तार हुआ और इस विषय को कोम्प्रिहेन्सिव मेडिसिन (Comprehensive Medicine) का रूप दिया गया जिसमे स्वास्थ्य-सेवाओं के चहुँमुखी विकास के लिये व्यापक एवं विस्तीर्ण कार्यक्रमों का समावेश किया गया जिसमे पूर्वोक्त कार्यक्रमो के अतिरिक्त निम्न कार्यक्रमों को प्रधानता दी गई :—

1 सभी निवार्य (Preventable) रोगों का—चाहे वे संक्रामक हों या असक्रामक—उचित निदान, उपचार एवं निवारण अथवा उन्मूलन।

2. संक्रामक रोग के रोगी का समूल इलाज (Radical Treatment) अर्थात् रोगी को पूर्ण रोग-मुक्त—कीटाणुरहित—करना ताकि वह रोग का आगार (Reservoir) न बना रहे और अन्यों मे रोग न फैला पाये; जैसे कोई मलेरिया का रोगी तात्कालिक इलाज से ठीक तो हो जाय पर यदि उसमे विद्यमान मलेरिया जीवाणुओं के गेमेटोसाइट्स (Gametocytes) अशो का नाश नही हो पाये तो मच्छर के काटने पर ये अश उसके पेट में पहुँच कर फिर से संक्रमी (Infective) अवस्था मे पनप जाते है और उसके अन्य स्वस्थ व्यक्तियो को काटने पर उनमे भी रोग फैला देते है।

3. उन रोगों का भी सम्यक् निदान, उपचार, निराकरण या यथासम्भव नियन्त्रण जो सामाजिक शक्ति का ह्रास करते हैं और जिन पर अब तक अधिक ध्यान नहीं दिया गया जैसे मानसिक-रोग या विकार, हृदय-रोग, रक्तदाब—उच्च या निम्न—मधुमेह, केन्सर आदि।

4. रोग या दुर्घटना के फलस्वरूप क्षतिग्रस्त अंगों का उपचार और विकलांगो का यथेष्ट पुनर्वासन (Rehabilitation)।

5. परिवार नियोजन एवं परिवार कल्याण।

6. कुपोषण और अल्पपोषण के परिणामस्वरूप पैदा होने वाले अभाव-मूलक रोगो का निराकरण एवं अन्य सम्बद्ध समस्याओं का समाधान।

7. दन्त-स्वास्थ्य सेवा (Dental Health Services)।

8. मादक वस्तु-शराब, भांग, गाजा, अफीम, मोर्फिया (Morphia), हिरोइन (Heroin), स्मेक, एल. एस डी.(L S D), बारबीट्यूरेट्स (Barbiturates) आदि के व्यसनी व्यक्तियों का व्यसन छुड़ाना और उनका यथेष्ट पुनर्वासन करना।

9. वायुदूषण और रेडियेशन के कुप्रभावो का यथा-सम्भव निराकरण।

10. कोम्प्रिहेन्सिव चिकित्सा पद्धति का चिकित्सकों को सम्यक् प्रशिक्षण।

11. जनमानस को समुचित स्वास्थ्य शिक्षा का प्रशिक्षण।

करते हैं। शक्कर-मिलों, कागज-मिलों, कपड़ा-मिलों, शराब-भट्टियों, चमड़ा तैयार करने और रंगने वाले कारखानों, कोयला धोने वाले संस्थानों आदि से निकला निस्राव, जल को दूषित और मलिन तो करता ही है साथ ही उसमें दुर्गन्ध भी पैदा कर देता है।

कीटनाशक औषधियाँ भी जो अधिकांश कृषि-क्षेत्र में काम में लायी जाती है, निथार पाकर जल को दूषित करती रहती है।

इस सम्बन्ध मे जो कुछ भी सीमित सर्वेक्षण अब तक हुआ है उसके आधार पर उपचारण उपाय-विशेषकर औद्योगिक उत्सर्जन के लिये-अवश्य निर्देशित किये गये हैं, पर इस दिशा में और भी अधिक सक्रिय कार्य करने की आवश्यकता है।

सौभाग्य से हाल ही मे केन्द्रीय सरकार ने जल-दूषण निवारक कानून (Water Prevention and control of pollution Act) लागू किया है जिसके अन्तर्गत केन्द्र और प्रान्तीय सरकारो को समुचित कार्यवाही करने के अधिकार दिये गये हैं। इस कानून के अन्तर्गत केन्द्र एवं प्रान्तीय सरकारो को निवारक बोर्डों की स्थापना करनी होगी है। कई प्रान्तों मे यह कानून लागू हो गया है और उक्त बोर्डों की स्थापना भी हो गई है। केन्द्रीय बोर्ड सर्वेक्षण करने, अनुसन्धान करने, विभिन्न निस्रावों के स्टैण्डर्ड निर्धारित करने, तथा उनके यथोचित उपचार के प्रति संहिता, नियमावली, प्रदर्शिका (Guide) आदि बनाने और तकनीकी जानकारी देने का काम करता है और प्रान्तीय बोर्डों का इस कार्य में मार्ग-दर्शन करता है।

---

12. अन्वेपण और खोज कार्य और
13. सामाजिक सुस्थापन

सामाजिक सुस्थापन से हमारा तात्पर्य है सामाजिक कुशल मंगल का अनुकूल वातावरण, जिससे व्यक्ति को समुचित सुरक्षा मिले व उसके स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव न पड़े। इस दिशा मे व्यक्ति के पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धो मे यथार्थ सामञ्जस्य, समाज के रीति-रिवाज व कायदे-कानून में समन्वय, आर्थिक स्थिति में यथा-सम्भव स्वावलम्बन आदि बातों का विशेष महत्व होता है। व्यक्ति का पारिवारिक या सामाजिक सुस्थापन न होने पर उसके स्वास्थ्य पर कैसा विपरीत प्रभाव पड़ सकता है इसे हम एक या दो उदाहरणों से स्पष्ट करते है।

मान लीजिये एक किशोरावस्था का लड़का परिवार के अनुपयुक्त वातावरण के कारण मनोविक्षिप्ति (Psychosis) का शिकार होता है। इलाज के लिए मानसिक अस्पताल मे भर्ती कराया जाता है। ठीक होने पर जब वह घर आता है तो उसे फिर वही वातावरण मिलता है जो पूर्व में था और जिसके कारण उसकी वह स्थिति बनी थी। उसकी विमाता उसे तिरस्कृत करती है, पिता उसकी कोई बात नही सुनता, अकारण उसे ही डांटता फटकारता रहता है; सौतेले भाई-बहिन उसके साथ व्यंगात्मक दुर्व्यवहार करते हैं; अड़ोसी-पडोसी व दूर के रिश्तेदार भी उसे ही भला बुरा कहते हैं, उसी की आलोचना करते है और कही से भी उसे सान्त्वना व सद्भाव प्राप्त नही होता; तो निश्चय है कि वह पुन: मानसिक अस्पताल का मेहमान बनेगा।

एक और उदाहरण हम ऐसे व्यक्ति का प्रस्तुत करते है जिसे दिल का दौरा पड़ता है। इलाज के लिये वह अस्पताल मे भर्ती होता है। वहाँ भी उसे पारिवारिक, आर्थिक या व्यावसायिक चिन्ताएं घेरे रहती है तो सम्भव है उसे स्वस्थ होने मे अधिक समय लगे। स्वस्थ होने पर जब वह घर आता है तो पारिवारिक समस्याएं उसे व्यथित किये रहती हैं, नौकरी या व्यावसायिक परेशानियां उसके मानसिक तनाव को बढाये रखती है, काम-काज का भार वह वहन कर नही पाता, हल्का काम उसे दिया नही जाता या उसे उपलब्ध नही होता तो सम्भव है उसे समयान्तर में फिर से दिल का दौरा पड़े।

इन दोनो ही उदाहरणों मे हम देखते है कि इन व्यक्तियो का पारिवारिक या सामाजिक सुस्थापन नही हो पाया। परिवार समाज का लघु अङ्ग ही है; समाज की एक इकाई है। पहले व्यक्ति के लिये जहाँ पारिवारिक वातावरण मे समुचित सुधार की आवश्यकता थी या उसे कही और अनुकूल वातावरण में संस्थापित करने की आवश्यकता थी वहाँ दूसरे व्यक्ति के लिये परिवार एवं व्यवसाय के वातावरण को अनुकूल बनाने की आवश्यकता थी। पर यह हो नहीं पाया। अत स्वास्थ्य सेवा को सोशल मेडिसिन के सन्दर्भ मे रोगी के पारिवारिक एवं सामाजिक क्षेत्र तक पहुंचाने का प्रयास अब इस सेवा का आवश्यक अङ्ग माना जाने लगा है। इसी उद्देश्य से अस्पताल, क्लिनिक (Clinic), परिचर्या-गृह (Nursing-homes) आदि में प्रशिक्षित

2. गीले पदार्थ—इन्हें हम कूड़ा कहते हैं जिसमें रसोई घर के कूड़े को गारबेज (Garbage) कहते हैं।

   (a) रसोई घर का कूड़ा—घरों, होटलों, ढाबों, जलपान-गृहों, खाद्य पदार्थ बनाने वाले व्यावसायिक संस्थानों आदि से निकलता है जिसमें—फलों, सब्जियों व दालों आदि के छिलके या निरर्थक कतरन, सड़े गले फल, फलों के बीज या गुठलियाँ, ठण्डी दाल व शाक-सब्जी, दोने-पत्तल, चाय की पत्तियाँ, अण्डों के छिलके आदि होते हैं। गारबेज की मात्रा प्र व्यक्ति प्रति वर्ष लगभग 150 से 250 lb. तक की होती है।

   (b) ऐसा ही फलों एवं सब्जियों का कूड़ा, फल व सब्जी मार्केट से निकलता है और मात्रा में इससे भी अधिक होता है।

   (c) गलियों, सड़कों, नालियों व गटरों (drains) आदि से निकला कूड़ा।

   (d) औद्योगिक संस्थानों का कूड़ा।

   (e) पशुशालाओं का कूड़ा—पशुमल-गोबर, लीद, आदि जिसमें उच्छिष्ट पशु-चारा भी मिश्रित रहता है।

   (f) वध-शालाओं का उच्छिष्ट कूड़ा।

   (g) शिशुओं एवं बच्चों का मल जो बहुधा वैसे ही या चिथड़ों में लपेटा कूड़े कचरे में फेंक दिया जाता है।

   (h) मरे जानवर—छोटे जानवर—कुत्ते, बिल्ली, चूहे या पक्षी आदि जहाँ कचरे के ढेर पर फेंक दिये जाते हैं वहाँ बड़े जानवर—गाय, बैल, घोड़े, गधे आदि को अलग से हटाना होता है।

   (i) बगीचों व वाटिकाओं का—पौधे, वनस्पति आदि के निकास का कूड़ा।

3. इमारती अवशिष्ट—भवन एवं सड़क-निर्माण स्थानों पर शेष बचा कंकर रोड़ी, चूना आदि का अवशिष्ट मलबा।

उपर्युक्त सभी प्रकार का कूड़ा-करकट प्रति-व्यक्ति प्रतिदिन लगभग 1 lb क जाता है जिसके निष्कासन एवं निस्तारण की समुचित व्यवस्था करनी होती है।

कूड़े-करकट के संग्रहण (collection), निष्कासन (Removal) एवं निस्तारण posal) को हम अपमार्जन (Scavenging) कहते हैं और मानव मल-मूत्र के संग्रहण एवं निस्तारण को मलवाहन (Conservancy) कहते

आमनर (Almonor) अर्थात् मेडिकल सोशल वर्कर (Medico-social worker) की सेवाएँ उपलब्ध कराई जा रही हैं जो रोगी से, उसके स्वजनों से और उसके संसर्ग मे आने वाले सभी सज्जनो से निरन्तर सम्पर्क स्थापित करते हैं; रोगी की पारिवारिक एव सामाजिक समस्याओ का अध्ययन करते हैं और उनको यथा-सम्भव सुलझाने का प्रयास करते है। सक्रामक रोग के रोगी के सम्पर्क मे आने वाले सभी व्यक्तियों के स्वास्थ्य-निरीक्षण और टीके आदि से वे उनके रोग-निवारण की व्यवस्था करते हैं। रोगी को आवश्यकतानुसार सवेतन लम्बी छुट्टी दिलवाने या हल्का काम दिलवाने, नौकरी पेशा रोगी को औषध खर्च दिलवाने, अतिरिक्त खुराक भत्ता दिलवाने, और आर्थिक सकट की अवस्था मे बीमा प्रोविडेन्ट फण्ड, ग्रेचुटि, बोनस आदि से अग्रिम राशि दिलवाने, दुर्घटना सम्बन्धी मुआवजा दिलवाने, और सरकार या समाजसेवी सस्थाओ से विशेप आर्थिक अनुदान दिलवाने की व्यवस्था करते हैं।

इस प्रकार सोशल एण्ड प्रिवेन्टिव मेडिसिन मे रोगी का केवल तात्कालिक इलाज कर लेने मात्र का उद्देश्य नही रखा गया है वरन् रोगी की पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओ का समाधान करने और रोगी का पुनः स्थायी स्थापन करने का उद्देश्य भी रक्खा गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति मे, स्पष्ट है कि चिकित्सकों और सहायक कर्मचारियो को कोम्प्रिहेन्सिव चिकित्सा-पद्धति से पूर्ण प्रशिक्षित करना होता है जिसके लिये समुचित प्रबन्ध किये गये हैं।

इन सब आवश्यक तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए विश्व स्वास्थ्य सघ (W.H.O) ने स्वास्थ्य की जो नवीनतम परिभाषा निर्धारित की है वह "Health is the State of Complete physical, mental and social well-being and not only the absence of disease or infirmity." अर्थात् केवल बीमारी, व्याधि या दौर्बल्यावस्था से ही छुटकारा नही वरन् पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक क्षमता का विकास और सामाजिक सुस्थापन ही सुस्वास्थ्य है। इस परिभाषा मे हमारी सभ्यता एव सस्कृति के अनुरूप सत्याचरण, धर्माचरण और नैतिक आचरण से आत्मिक उत्थान एवं कल्याण के विचार का समावेश नहीं है वह भी कर लेना उचित होगा। अतः स्वास्थ्य की इस परिभाषा को हम इस रूप मे भी प्रस्तुत कर सकते हैं कि "रोग व्याधि या दौर्बल्यावस्था से ही छुटकारा नही वरन् पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक क्षमता का विकास, आयु-वर्धन और अनुकूल वातावरण मे पारिवारिक एवं सामाजिक सुस्थापन तथा शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ कुशल मङ्गल की अनुभूति और सुसस्कृत वातावरण मे नैतिक और चारित्रिक अभ्युत्थान से आत्मिक उत्थान और सर्वाङ्गिक कल्याण ही सुस्वास्थ्य है।

भारतीय स्वास्थ्य सेवाओं का विकास

भारतीय जन-स्वास्थ्य-सेवाओ का श्री-गणेश 19 वी शताब्दी के उत्तरार्ध में होना प्रारम्भ हुआ। सन् 1859 मे सर्वप्रथम एक रायल कमीशन की नियुक्ति की गई जिसे सेना की स्वास्थ्य समस्याओ का अध्ययन करने और उनके समाधान के

कुण्डो की व्यवस्था करनी ही चाहिये। कचरा-कुण्ड अधिकांश उन मोहल्लो या मार्केटो के लिये बनाये जाते है जहाँ प्रतिदिन कचरे की मात्रा अधिक होती है।
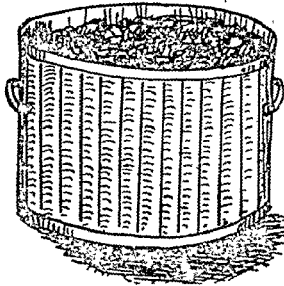
चित्र 5.2 कचरा ढोल
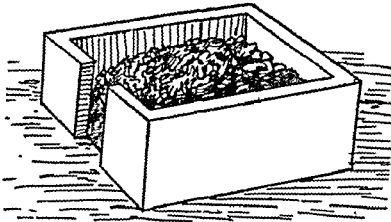
चित्र 5 3 कचरा कुण्ड

गलियो, सड़को, बाजारो, नालियो आदि की सफाई पालिका कर्मचारियो को दिन करनी होती है। इन स्थानों से इकट्ठा किया गया कूड़ा-कचरा नगरपालि—

लिए सुझाव देने का कार्य सौपा गया । कमीशन ने जो सुझाव दिये उनमें कैंन्टोनमेट की समुचित सफाई और उपलब्ध साधनों से प्रचलित सक्रामक रोगो की रोक-थाम मुख्य थे । इन सुझावो के अनुसार कार्यक्रम की योजनायें बनाई गईं । सन् 1864 मे वम्बई, मद्रास एवं बङ्गाल प्रान्तों में स्वास्थ्य कमीशनो की स्थापना की गई और स्वास्थ्य कमिश्नरों की नियुक्ति की गई । उन्ही दिनो कुछ वड़े-बड़े शहरों मे नगर-पालिकाएँ स्थापित की गई जिनका स्वास्थ्य-कार्य केवल आशिक रूप मे नगर सफाई तक ही सीमित रहा । स्वास्थ्य कमिश्नरो का इन नगर-पालिकाओ के साथ सम्बन्ध केवल सलाहकार के रूप मे ही रहा । सक्रामक रोगो की रोकथाम के प्रति अधिकाश में चेचक निवारक टीके लगाने का काम ही हाथ मे लिया गया । सन् 1880 मे बंगाल वेक्सीनेशन एक्ट पास किया गया । सन् 1869 में गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ने केन्द्र मे स्वास्थ्य कमिश्नरो की नियुक्ति की और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त, अवध, पजाब, व सेन्ट्रल प्रान्तों मे भी स्वास्थ्य कमिश्नरो की नियुक्तियाँ की गई । चिकित्सा के क्षेत्र मे अस्पताल, जो उन दिनों अधिकतर बड़े-बड़े शहरो मे ही थे, रोगों का चालू इलाज ही कर पाते थे । रोग-निवारण की दिशा मे समूल (Radical) इलाज हो नही पाता था । लेकिन उस समय की 80 प्रतिशत ग्रामीण जनता ऐसे इलाज से भी वचित ही रहती थी । अतः केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारो, स्वयं-सेवी सस्थाओं और दानी दाता महानुभावों का अधिकाधिक ध्यान उस समय अस्पताल व डिस्पेन्सरियाँ स्थापित करने में ही लगा रहा । सन् 1886-88 मे मेडिकल एक्ट पास किया गया और केन्द्रीय स्वास्थ्य कमिश्नर का पद डाइरेक्टर जनरल इण्डियन मेडिकल सर्विस के पद में विलय कर दिया गया ।

सन् 1896 मे भयंकर प्लेग की महामारी फैली । इसकी रोकथाम में अनेक कठिनाइयाँ सामने आईं । अतः 1897 में एपिडेमिक डिजीजेज एक्ट (Epidemic Diseases Act) लागू किया गया और सन् 1904 मे प्लेग कमीशन की नियुक्ति की गई । इस कमीशन ने शहर सफाई (Sanitation), शुद्ध जल-व्यवस्था, गन्दे पानी का निकास (Drainage), मल-मूत्र कूड़े-करकट का निकास, संक्रामक रोगो के टीके तैयार करने की प्रयोगशालाओ की स्थापना, नगरपालिकाओं में स्वास्थ्य अधिकारियों और सहायक कर्मचारियों की नियुक्ति एवं उनका यथोचित प्रशिक्षण और प्रान्तीय स्वास्थ्य कमीशनो के विस्तार आदि के सुझाव दिये । फलस्वरूप इन सुझावो के अनुरूप कई कार्य हाथ में लिये गये और कुछ प्रयोगशालायें एवं प्रशिक्षण संस्थायें स्थापित की गईं जिनमें मुख्यतः (1) बेक्टीरियोलोजिकल लैबोरेटरी वम्बई (1906) डॉ० डब्लू० एम० हेफकिन (W M Haffkine) की अध्यक्षता मे स्थापित की गई जो बाद में हेफकिन इन्स्टीट्यूट के नाम से प्रख्यात हुई; (2) पास्च्यौर इन्स्टीट्यूट (Pasteur Institute), कसौली (1900); (3) किंग इन्स्टीट्यूट ऑफ प्रिवेन्टिव मेडिसिन, गुइन्डी (Guindy), मद्रास (1903); (4) पास्च्यौर इन्स्टीट्यूट, कुनूर (1907); (5) ट्रोपिकल मेडिकल स्कूल, कलकत्ता (1922); (6) ऑल

बड़े शहरों या नगरों के कूड़े-करकट को निम्न विधियों से निस्तारित किया जाता है :—

(1) भूमि के निचले तलों को भरना (Dumping in low lying land)
(2) नियन्त्रित भूमि-भरण (Controlled tipping)
(3) समुद्र में प्रवाहन (Dumping in the Sea)
(4) भस्मीकरण (Incineration)
(5) कम्पोस्ट बनाना (Composting)
(6) पृथक्करण एवं किण्वन (Separation & fermentation)—इसे हाइजिनिक विधि भी कहते हैं।

(1) भूमि के निचले तलों को भरना—यह अति ही सरल एवं सस्ती विधि है। कूड़ा-कचरा शहर के बाहर निचले स्थानों पर ले जाया जाता है जहाँ इसे समरूप बिछाया जाता है और उन स्थलों के भर जाने पर कम से कम 12" की मिट्टी की तह बिछा दी जाती है। समयान्तर में यह स्थल खेती या बाग-बगीचों के लिये उपलब्ध हो जाता है। हालांकि कई शहरों व नगरों का कूड़ा-करकट इसी विधि से निस्तारित किया जाता है लेकिन यह तरीका अधिकांशतः स्वस्थ, स्वच्छ एवं सतोषप्रद नहीं माना जाता। निचले स्थलों को जब कूड़े-करकट से भरना प्रारम्भ किया जाता है तब जब तक वह भर नहीं जाते, लापरवाही से इन्हें खुला ही पड़ा रहने दिया जाता है. प्रत्येक भरण पर मिट्टी नहीं बिछाई जाती, जिससे यह हवा में उड़ता रहता है, जगली जानवर इसे खोदते रहते है, चूहे उत्पात मचाते रहते हैं, मक्खियाँ पैदा होती हैं और पूयन के कारण सड़ांध भी पैदा होती रहती है। W.H.O. ने इस विधि को अनुपयुक्त घोषित किया है। लाभ केवल इतना ही है कि कम खर्च में समतल भूमि की उपलब्धि हो जाती है जो खेती या उद्यान आदि के लिये उपयुक्त सिद्ध होती हैं।

(2) नियन्त्रित भूमि-भरण—निचले स्थानों को या कार्यवश खोदे गये लम्बे-चौड़े भू-तलों को नियन्त्रित रूप से भरने के लिये यह विधि अपनायी जाती है, जिसमें कूड़े-करकट की तहें तरतीब से जमाई जाती हैं। सबसे नीचे टीन, ककरीट, कांच या चीनी के टूटे बरतन, बोतलें कार्डबोर्ड, लकड़ी के खोखे आदि जमाये जाते हैं; फिर अन्य कूड़े-कचरे की तहें जमाई जाती हैं। प्रत्येक 6" मोटाई की तह को 9" मिट्टी की तह से ढका जाता है। इस प्रकार तह पर तह जमाते हुए उस निचले स्थल को ...रा भर दिया जाता है और सबसे ऊपर की मिट्टी की तह को लगभग 1 या 1½ फुट ...र तक उठा दिया जाता है जिससे समयान्तर में कूड़े-कचरे के विघटन से जो ...पात होता है, उसके बाद इस स्थल का तल समतल बना रहे। लगभग 6 से 8 ... में यह स्थल पूर्ण उपभोग योग्य बन पाता है। इस प्रकार प्राप्त की गई भूमि

इण्डिया इन्स्टीट्यूट ऑफ हाइजीन एवं पब्लिक हेल्थ, कलकत्ता (1932) स्थापित की गई। इनके साथ-साथ कई मेडिकल कॉलेज एवं स्कूल भी स्थापित हुए और 1939 मे ऑल इण्डिया मलेरिया इन्स्टीट्यूट की स्थापना दिल्ली में हुई। 1919 और 1933 के गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत क्रमश: प्रान्तीय स्वास्थ्य कमिश्नरी एव प्रान्तीय सरकारो को स्वास्थ्य सेवाओं के लिये केन्द्रीय सरकार की ओर से अधिक स्वायत्तता एव आर्थिक अनुदान की स्वीकृति दी गई। सन् 1937 मे केन्द्रीय स्वास्थ्य सलाहकार बोर्ड की स्थापना की गई और 1939 मे मद्रास पब्लिक हेल्थ एक्ट को देश का पहला पब्लिक हेल्थ एक्ट घोषित किया गया। 1955 में ड्रग्स एक्ट (Drugs Act) लागू किया गया।

इतना करने पर भी भारत जैसे विशाल देश की अधिकाश ग्रामीण जनता के लिए स्वास्थ्य सेवाओ का गाँवो मे अधिक प्रसार नही हो पाया, अत. द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के आस-पास एक और कमीशन — हेल्थ सर्वे एण्ड डेवलपमेंट कमेटी की नियुक्ति सर जोसेफ भोर (Sir Joseph Bhore) की अध्यक्षता मे की गई जो भोर कमेटी के नाम से प्रख्यात हुई। इस कमेटी ने सन् 1945 में अपने अत्यन्त महत्वपूर्ण सुझावो की एक विस्तृत रिपोर्ट पेश की।

इसी रिपोर्ट के आधार पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद स्वाधीन भारत की विस्तृत स्वास्थ्य योजनायें बनी और उनके क्रियान्वयन का कार्य लगन से हाथ मे लिया गया। भोर कमेटी की मुख्य-मुख्य सिफारिशें साराश मे निम्न है—

1. चिकित्सा एव स्वास्थ्य सेवाओ का समाकलन (Integration) किया जाय और प्रत्येक भारतवासी को— चाहे वह देश के किसी कोने मे रहता हो और खर्च करने योग्य हो या नही —स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जाय।

नोट—इस सिफारिश मे ग्रामीण क्षेत्रो मे चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाओ को प्राथमिकता से प्रधानता देने का स्पष्ट उल्लेख है।

2. उपयुक्त आवास, शुद्ध-जल और स्वच्छ वातावरण (Sanitary Environment) की समुचित व्यवस्था की जाय।
3. रोग-निवारण एवं रोग-उन्मूलन कार्य को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जाय और वे संस्थाएँ या संगठन स्थापित किये जाये जो इस कार्य के लिए अत्यावश्यक है।
4. स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी सामाजिक सेवाओं का यथोचित विकास एव विस्तार किया जाय जैसे—मातृ एवं शिशु-कल्याण, परिवार नियोजन एव परिवार कल्याण, स्कूलीय स्वास्थ्य-सेवा, उपयुक्त आहार एव पोषाहार, यथोचित रोजगार, बेकारी निराकरण, अधिकाधिक कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन, संचार-व्यवस्था आदि।
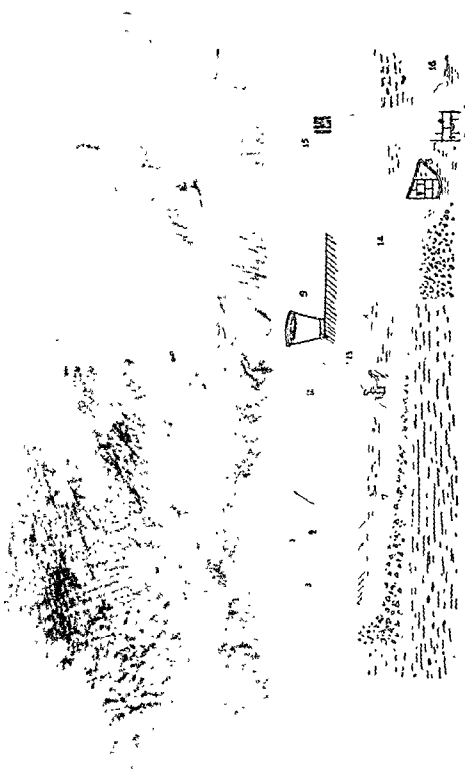
चित्र 6 10

1. शौचपात्र, 2. ट्रैप, 3. सयोजी-पाइप, 4 एन्टी-साइफन-पाइप, 5. सायल-पाइप, 6. सम्प्रवाहक-कुण्ड 7 गृह-निकास-नाली 8 विच्छेदक-ट्रैप, 9. स्नान गार, 10. बेसिन, 11. उच्छिष्ट नल, 12. बरसाती पानी नल 13. गलि ट्रैप, 14. निरीक्षण कक्ष, 15. माइका वाल्व, 16. मलनल ।

5. समुचित स्वास्थ्य शिक्षा और स्वास्थ्य के प्रति जन-जागरण पैदा किया जाय और अधिकाधिक जन-सहयोग प्राप्त किया जाय। ग्राम, पंचायत, जिला एवं क्षेत्रीय स्वास्थ्य समितियों का गठन किया जाय।
6. चिकित्सकों एवं सभी अन्य सहयोगी कर्मचारियों को समाकलित (Integrated) स्वास्थ्य विज्ञान का सम्यक् बोध कराया जाय, प्रशिक्षण दिया जाय, और बेसिक डॉक्टर्स (Basic Doctors) तैयार किये जायें जो रोग-निवारण को प्राथमिकता दें।
7. चिकित्सकों की यथासम्भव प्राइवेट प्रैक्टिस बन्द की जाय।
8. समय-समय पर आवश्यक अन्वेषण एवं शोध-कार्य किये जायें।
9. स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार प्रस्तावित अल्पकालीन (Short Term) व दीर्घकालीन (Long Term) योजनाओं के अनुरूप किया जाय।

इन योजनाओं में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र (Primary Health Centre) को सेवा की आधारभूत इकाई बनाया गया और इसके माध्यम से, निर्धारित क्षेत्र व निर्धारित जनसंख्या के लिये सभी समाकलित स्वास्थ्य सेवाओं के क्रियान्वयन का ध्येय निर्धारित किया गया। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों की सहायतार्थ 30 रोगी शैय्याओं का अस्पताल, द्वितीयक स्वास्थ्य केन्द्र (Secondary Health Centres) और जिला स्तरीय स्वास्थ्य यूनिट की स्थापना का प्रस्ताव किया गया। इनके अतिरिक्त मलेरिया, तपेदिक, कुष्टरोग, मानसिक रोग, रति-रोग (Venereal Diseases) मातृ एवं शिशु-कल्याण, स्कूलीय स्वास्थ्य सेवा व पोषाहार के लिए विशेष योजनाओं का सुझाव दिया गया और केन्द्रीय व प्रान्तीय प्रशासनिक सेवा व्यवस्था मे वांछित परिवर्तन एवं संवर्धन के महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये।

अल्पकालिक योजना के प्रति 40,000 की आवादी पर 4 रोगी शैय्याओं का एक प्राथमिक स्वास्थ्य-केन्द्र, प्रत्येक 4 प्रा. स्वा. केन्द्रो पर 30 रोगी शैय्याओं का एक अस्पताल और जिला-स्तर पर उपलब्ध चिकित्सा संस्थाओ के अतिरिक्त 200 रोगी शैय्याओ का एक द्वितीयक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। दीर्घकालिक योजना में–जिसे लगभग 40 वर्षों में पूरी करना है–प्रत्येक 10,000 से 20,000 की आवादी पर 75 रोगी शैय्याओं का एक प्रा. स्वा. केन्द्र, प्रत्येक 2 प्रा. स्वा. केन्द्रों पर एक 30 रोगी शैय्याओं का अस्पताल, प्रत्येक 6,00,000 की आवादी पर एक द्वितीयक स्वास्थ्य केन्द्र–जिसमे 200 से 500 रोगी शैय्याएँ, और प्रत्येक जिला-स्तर पर 2500 रोगी शैय्याओं का जिला-स्तरीय अस्पताल नियोजित करने की प्रस्तावना की गई। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों एवं उनसे सम्बन्धित अस्पतालों के निरीक्षण, मार्ग-दर्शन, साधन-सामान सम्भरण और तकनीकी सहयोग का दायित्व द्वितीयक स्वास्थ्य केन्द्रों पर रक्खा गया और द्वितीयक स्वास्थ्य केन्द्रों के ऐसे ही सहायता-सहयोग का दायित्व जिला स्तरीय स्वास्थ्य सेवा यूनिटों पर रक्खा गया।

जैसे शौचालय, स्नानागार, वस्तु भण्डार, अलमारियों के पीछे, जीने के नीचे के रिक्त स्थानों आदि में।

मच्छरों की मोटे तौर पर पहिचान—प्रत्येक मच्छर के सिर, सीना और उदर होता है। सिर में शुण्ड (Probosis), स्पर्शक (Palpii) व शृंगिका (Antennii) होते हैं। शुण्ड से वह खून पीते हैं या रस चूसते हैं। मर्दों की शृंगिका पर अधिक बाल होते हैं–मूछों जैसे। तीनों जातियों के मच्छरों का मुख्य भेद निम्न प्रकार का होता है (चित्र 7 1)।
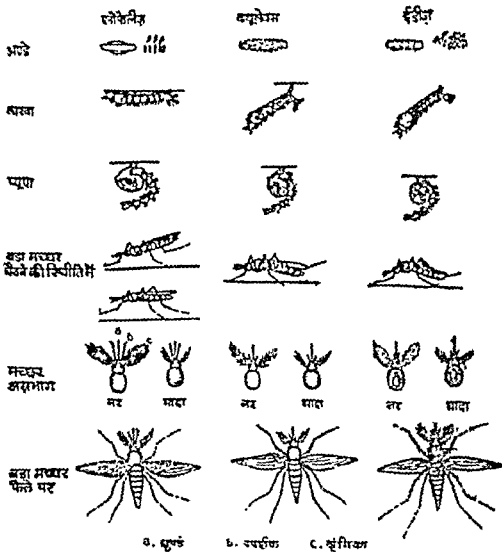
चित्र 7.1 मच्छर

अल्पकालिक योजना के क्रियान्वयन में सीमित साधनों—अर्थाभाव एवं तकनीकी प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी -के कारण प्रस्तावित लक्ष्य को अब तक अधिकांश प्रान्तों मे प्राप्त नही किया जा सका है, पर प्रत्येक पंचायत समिति क्षेत्र में जिसकी आबादी लगभग 70,000 से 80,000 की है एक प्रा. स्वा. केन्द्र 6 रोगी शैय्याओं का स्थापित किया जा चुका है और प्रत्येक प्रा. स्वा. केन्द्र के लिए प्रति 10,000 की आबादी पर एक उप स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किया गया है जिसे निकट भविष्य मे पूर्ण स्वास्थ्य केन्द्र मे परिवर्तित करने का ध्येय है। प्रत्येक उपकेन्द्र मे एक मिडवाइफ, एक ऑक्जिलरी हेल्थ वर्कर और परिवार नियोजन कार्य के लिए एक अतिरिक्त मिडवाइफ एव सोशल वर्कर (महिला) की नियुक्ति की गई है। उपकेन्द्र–प्रा. स्वा. केन्द्र के चिकित्सा अधिकारी की देख-रेख मे प्राथमिक चिकित्सा, ग्राम-सफाई, मातृ एवं शिशु-कल्याण सेवा, परिवार नियोजन, सक्रामक रोगो के निवारणार्थ निरोधक टीके आदि लगाने का कार्य करता है। फिलहाल जिले के बड़े अस्पताल को द्वितीयक स्वास्थ्य केन्द्र का आंशिक स्वरूप दे दिया गया है।

प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के कार्य (Functions)

1. प्रचलित रोगो की चिकित्सा,
2. सक्रामक रोगो की समूल चिकित्सा जिससे रोग के कीटाणु रोगी में शेष न रहे और वह अन्यो मे रोग न फैला पायें,
3. संक्रामक एव निवार्य रोगो का निवारण - निवारक टीके लगाने का कार्य,
4. कुछ सक्रामक रोगो के विशेष नियन्त्रण या उन्मूलन (Eradication), अभियानों का परिवेक्षण (Follow up) जैसे–मलेरिया, चेचक, ट्रेकोमा आदि,
5. क्षेत्र मे स्वास्थ्य समस्याओ का सर्वेक्षण और आवश्यक निराकरण अभियान,
6. स्वच्छ वातावरण अभियान,
   शुद्ध जल-व्यवस्था–कुएं, बावड़ी, तालाब आदि को आदर्श रूप से स्वच्छ बनवा कर जल की सुरक्षा, जल का समय-समय पर वैज्ञानिक परीक्षण, और उपयुक्त रासायनिक पदार्थों से जल शुद्धिकरण-क्लोरीनेशन (Chlorination),
   ग्राम सफाई–कूड़े-कचरे का निकास एवं निस्तारण (Disposal)–खाद के खड्डो मे।
   मल-मूत्र का निकास—स्वतः साफ होने वाले शौचालयों एवं मूत्रालयों का निर्माण।
   गन्दे पानी का निकास—सोख्ते खड्डो का निर्माण।
7. मातृ एव शिशु कल्याण व परिवार नियोजन एवं परिवार कल्याण।

चित्र 7·5 सूक्ष्म जीव
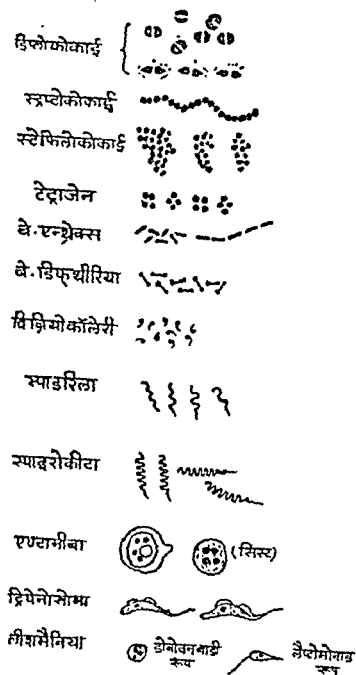
जैव वातावरण पर हमारा संक्षिप्त विचार-विमर्श अधूरा ही रह जायगा यदि हम कुछ अग्रगामी जीवाणु-विज्ञानी महानुभावों के प्रारम्भिक अन्वेषणों पर थोड़ा सा दृष्टिपात न कर लें। इन महानुभावों ने अपनी खोज तलाश से जीवाणु विज्ञान को जो दिव्य देन दी है, वह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इन वैज्ञानिकों में से हम केवल कुछ ही के अन्वेषणों पर यहाँ विचार करेंगे।

ऐडवर्ड जेनर (Ed. Jenner : 1749–1823)—ऐडवर्ड जेनर इंग्लैण्ड में एक चिकित्सक थे। उन्होंने शीतला प्रतिरोधक टीके का अभूतपूर्व आविष्कार किया। उन्हें यह तो ज्ञात नहीं था कि शीतला बीमारी के जीवाणु क्या है। उन्होंने एक लम्बे समय तक इस तथ्य का प्रेक्षण किया कि कुछ ग्वालिनों को गायों में होने वाली गोशीतला (Cow-Pox) की हल्की बीमारी तो हो जाती है—अधिकांशतः उनके हाथ पर व्रण निकल आते हैं—किन्तु उन्हें शीतला की बीमारी नहीं होती। उन्होंने सोचा कि हो न हो गोशीतला की बीमारी शीतला से बचाव की शक्ति अवश्य पैदा करती होगी। अतः उन्होंने अपने इस अनुभव का विधिवत् प्रयोग करने का निश्चय किया। उन्होंने 1796 में गोशीतला व्रण के लेप का टीका एक बालक को लगाया जिससे उसे गोशीतला की हल्की बीमारी हो गई। उसके ठीक होने पर उन्होंने उस लड़के को उग्र शीतला व्रण के लेप का टीका लगाया। उनकी खुशी का ठिकाना न रहा जब उन्होंने देखा कि उसे तब भी शीतला की बीमारी नहीं हुई। इससे उन्हें यह निश्चय हो गया कि गोशीतला के जीवाणु शीतला जीवाणुओं के खिलाफ प्रतिरोधात्मक शक्ति पैदा करते हैं और इसी निष्कर्ष पर आधारित सिद्धान्त से उन्होंने शीतला के टीके का आविष्कार किया जो मानव-समाज के लिये अभूतपूर्व कल्याणकारी सिद्ध हुआ। समयान्तर में इसी सिद्धान्त पर इस टीके का सार्वजनिक निर्माण का कार्य हाथ में लिया गया।

लुई पास्चूर (Louis Pasteur : 1822–1895)—पास्चूर फ्रांस में एक रसायनज्ञ (chemist) का कार्य करते थे। उन्हें फ्रांस में शराब उद्योग को दोषपूर्ण किण्वन से होने वाली भारी क्षति के कारणों का पता लगाने का काम सौंपा गया। अपने विविध प्रयोगों से उन्होंने सन् 1856 में यह पता लगाया कि वायु में असंख्य जीवाणु हैं और उनमें से कुछ शलाका आकार के जीवाणु शराब में अवांछनीय किण्वन पैदा करते हैं। उन्होंने इन जीवाणुओं की प्रतिक्रिया के निराकरण के कुछ उपाय सुझाये और तभी से उन्होंने जीवाणुओं पर अपनी गहन खोज प्रारम्भ कर दी। उन्हीं दिनों रेशम उद्योग को भी भारी क्षति हो रही थी। रेशम के कीड़े अत्यधिक संख्या में मर रहे थे। पास्चूर ने पांच वर्ष के लम्बे अध्ययन के बाद पता लगाया कि रेशम के कीड़ों को एक विशेष प्रोटोज़ोआ की बीमारी लगी हुई है। उन्होंने सभी रुग्ण कीड़ों का पृथक्करण किया और स्वस्थ कीड़ों का अलग से समूह बनाया। प्रोटोज़ोआ पर प्रथम अध्ययन पास्चूर ही ने किया। तभी यहाँ भेड़ों में भी एक विचित्र बीमारी फैली हुई थी। इसका अध्ययन भी पास्चूर ने किया। उधर जर्मनी में इसी बीमारी पर रोबर्ट कॉक (Robert Koch) भी अध्ययन कर रहे थे; उन्होंने इस बीमारी का कारण

करने के लिये 1981 में केन्द्रीय सचिव स्वास्थ्य मन्त्रालय की अध्यक्षता में एक कार्यकारिणी समिति (Working Group) का गठन किया गया जिसे सन् 2000 ई० तक 'हेल्थ फॉर ऑल' (Health for All by 2000 A.D) के प्रस्तावित लक्ष्यों को पूरा करने की दिशा मे नियत समय-सारिणी के आधार पर विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत मूल स्वास्थ्य सेवा इकाइयो के स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन-परिवर्धन करने और उपयुक्त कार्य-विधि निर्धारित करने का कार्य सौंपा गया। इस कमेटी ने अत्यन्त ही महत्वपूर्ण व व्यावहारिक सुझाव दिये जिनके अनुरूप अब कार्य हो रहा है। इसके पहले कि हम इस पर यथेष्ट विचार करें एक नजर हमें स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय के राष्ट्रीय स्वास्थ्य स्तर पर तथा उस समय उपलब्ध स्वास्थ्य सेवा सुविधाओं पर और वर्तमान की स्थिति पर भी डाल लेना चाहिये जिससे हमे अब तक की अर्जित सफलता का ठीक-ठीक बोध हो सके।

स्वतन्त्रता प्राप्ति पर	(1951)	अब (1981–84)*	
जीवन साख्यिकी (Vital Statistics)			
जन्म-दर-जन्म प्रति हजार आबादी पर	40.0	33.3	(1980)
मृत्यु-दर-मृत्यु ,, ,, ,, ,,	21·8	12·4	(1980)
मातृ मृत्यु-दर—मातृ मृत्यु प्रति हजार प्रसव या बाल जन्म पर	20 0	4 से 5	(1982)
शिशु मृत्यु-दर—शिशु मृत्यु प्रति हजार जीवित शिशु जन्म पर	158·0	114·0	(1982)
औसत आयु	32·0 वर्ष	54 7	(1982)
स्वास्थ्य सेवा संस्थाएँ			
रोगी शैय्याएँ	1,13,000	5,32,472	(1984)
प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र	कुछ नही	5739	(1981–82)
उपकेन्द्र	,, ,,	59,511	,,
स्वास्थ्य कर्मचारी			
चिकित्सक	61,846	2,97,228	(1984)
नर्स	16,550	1,64,421	(1983)
पब्लिक हेल्थ नर्स/हेल्थ विजिटर	521	9,486	(1981)
ऑक्जिलरी नर्स मिडवाइफ	8,000	73,161	(1981)
फार्मसिस्ट्स	75	1,07,452	(1978)
दन्त चिकित्सक	3290	8,725	(1981)
शिक्षण संस्थाएँ (केवल मेडिकल कॉलेज)	28	106	(1982)

* Health Statistics of India—Ministry of Health, 1985

जोसेफ लिस्टर (Joseph lister, 1827–1912)—जोसेफ लिस्टर ग्लासगो सर्जरी के प्रोफेसर थे। उन्होंने वायुवाहित जीवाणुओं के कारण सर्जरी में होने व संक्रामक पूतिता (Sepsis) का पता लगाया और इन जीवाणुओं के निराकरण लिए पूतिरोधी (Anti-septic) उपायों का आविष्कार किया। सर्वप्रथम उन्होंने कार्बोलिक एसिड के घोल से ऑपरेशन कक्ष, औज़ार और मरीज़ के ऑपरेशन स्थल को साफ करने की विधि अपनायी जो काफी संतोष-प्रद सिद्ध हुई और उसी के परिणामस्वरूप समयान्तर में पूतिरोधी उपायों का अत्यधिक विस्तार हुआ।

रोनाल्ड रॉस (Ronald Ross–1857–1932)—सर रोनाल्ड रॉस इंगलिश फिज़ीशियन थे। उन्होंने भारत में सेना-चिकित्सक के पद पर कार्य करते हुए सिकन्दराबाद एवं कलकत्ता में सन् 1897–98 में मच्छरों की आहार नली (Gut) में मानव मलेरिया परजीवी (Malaria Parasites) को युग्मकपुटी (oocyst) के रूप में प्रदर्शित कर यह सिद्ध किया कि मलेरिया एनोफेलीज मच्छरों द्वारा प्रसारित किया जाता है और इन मच्छरों में मलेरिया परजीवी अपना लैंगिक प्रजनन पूरा करते हैं।

एलेक्जेंडर फ्लेमिंग (Alexander Fleming–1881से1955)—सर फ्लेमिंग स्कोटिश फिज़ीशियन एवं जीवाणु-विज्ञानी थे। उन्होंने सन् 1929 में पेनिसीलियम मोल्ड (Penicillium mould) की अकस्मात् खोज की। उन्होंने इस हरे रंग के मोल्ड को स्टेफिलोकाकस की संवर्धन प्लेट्स पर पनपते देखा और यह भी देखा कि जहाँ-जहाँ यह पनपा है वहाँ स्टेफिलोकोकस नहीं पनप पाया। उन्होंने यह धारणा प्रतिपादित की कि इस मोल्ड से उत्पादित तत्व स्टेफिलोकोकस का विध्वंस करते हैं। उनकी इस धारणा पर और अधिक अन्वेषण किया गया और सन् 1938 तक यह सिद्ध किया गया कि यह तत्व अन्य बहुत से जीवाणुओं पर भी विध्वंसक प्रभाव पैदा करता है। अतः इसके बाद इस मोल्ड को बड़े पैमाने पर पैदा करने का काम हाथ में लिया गया और इससे उत्पादित तत्व से पेनिसिलीन औषधि का निर्माण किया गया जो आज चिकित्सा क्षेत्र में अत्यन्त ही विशिष्ट स्थान रखती है।

इस प्रकार उपर्युक्त महानुभावों ने तथा अन्य कई जीवाणु विज्ञान-वेत्ताओं ने जो समय-समय पर प्रारम्भिक मौलिक आविष्कार किये उससे जीवाणु विज्ञान और स्वास्थ्य विज्ञान को अनुपम देन मिली और स्वास्थ्य के क्षेत्र में अकथनीय उपलब्धि प्राप्त हुई।

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में कुल वित्तीय प्रावधान में से स्वास्थ्य सेवाओं पर जो राशि आवंटित की गई उसकी तालिका—

*पंचवर्षीय योजनाएँ	कुल प्रावधान करोड़ रुपयों में	स्वास्थ्य सेवा प्रावधान		
		स्वास्थ्य	प.नि.	कुल
प्रथम (51–56)	1960.00	65.2	0.1	65.3
द्वितीय (56–61)	4672.00	140.8	2.2	143.0
तृतीय (61–66)	8576.50	225.9	24.9	250.8
चतुर्थ (69–74)	15778.80	335.5	278.0	613.5
पंचम (74–79)	39426.20	760.8	491.8	1252.6
छठी (80–85)	97500.00	1821.1	1010.0	2831.1

इस प्रकार पिछले 30–32 वर्षों में जो प्रगति हुई है वह उत्साहवर्धक अवश्य है पर अभी हमें बहुत कुछ करना बाकी है। अन्य विकसित देशों की तुलना में अभी हमारा स्वास्थ्य निम्न-स्तर का ही है। बहुत से निवार्य रोग जिनका विकसित देशों से लगभग पूर्णतया निवारण हो चुका है हमारे यहाँ अभी भी प्रचलित हैं। हमारे शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के वातावरण की स्वच्छता भी अभी अपेक्षित है। ग्रामीण क्षेत्रों मे स्वच्छ जल-व्यवस्था, कूड़े-कचरे व मल-मूत्र का यथोचित निकास एवं निस्तारण, स्वच्छ आवासीय-व्यवस्था, उपचारीय सेवा व्यवस्था आदि का अधिक विस्तार करना है। विकसित देशो की तुलना मे हमारी जन्म, मृत्यु तथा मातृ एवं शिशु मृत्यु-दर भी अभी अधिक है; और हमारा पोषण भी निम्न-स्तर का ही है। बड़े परिवार, बढ़ती हुई आबादी, निम्न-स्तर की प्रति व्यक्ति आय, अशिक्षा, अन्ध-विश्वास आदि ऐसे कारण हैं जो स्वास्थ्य स्तर की उन्नति में बाधक रहे है, फिर भी अब तक की प्रगति को देखते हुए हमें पूर्ण विश्वास है कि आगे कुछ ही वर्षों में हम अपने स्वास्थ्य-स्तर को समुचित रूप से उन्नत कर पायेंगे।

"सन् 2000 तक हेल्थ फॉर ऑल" (Health for All by 2000 A.D.) के अन्तर्गत जो कार्यक्रम हाथ में लिये जा रहे है उनसे आशा है हम वांछित स्वास्थ्य स्तर की उन्नति के लक्ष्य प्राप्त कर पायेंगे। यह लक्ष्य निम्न है—

प. नि. = परिवार नियोजन

*Health Statistics of India, 1982.

देशो मे या विश्व भर मे फैलती है तब इसे विश्वमारी (Pandemic) कहते हैं जानवरों से फैलने वाली बीमारियो को पशु-जन्य-रोग (Zoonosis) कहते हैं और जो रोग महामारी के रूप मे केवल पशुओ में ही फैलते है, उन्हें पशुव्यापक या पशु-पदिक रोग (Eqizootic) कहते हैं।

संक्रमण होने के समय से लेकर लक्षण उत्पत्ति तक के समय को उद्भवन काल (Incubation period) कहते हैं और जब तक रोगी संक्रामक बना रहता है— अर्थात् रोग-जनक-सूक्ष्म जीवो को प्रसारित करता रहता है—उस समय को संक्रामक अवधि (Infective or communicability period) कहते हैं। वह रोगी जो रोग-मुक्त हो जाने पर भी या वह व्यक्ति जो रोगी न होने पर भी, यदि रोग-वाहक-सूक्ष्म-जीवों का प्रसार करता रहता है तो उसे वाहक (Carrier) की संज्ञा दी जाती है। इन पदो पर विशेष चर्चा आगे चलकर करेंगे।

संक्रमण संचारण (Spread of Infection)

संक्रमण प्रसार में निम्न बातों का होना आवश्यक होता है—

1 रोग जनक सूक्ष्म जीवों का स्रोत या आगार (Source or Reservior of Infection)
2. रोग जनक सूक्ष्म जीवों की सचार पद्धति (Mode of transmission).
3. स्वस्थ व्यक्ति मे रोगजनक सूक्ष्म जीवों का प्रवेश (Mode of Entry-channels of Entry) और
4 व्यक्ति की सुग्राह्यता (Susceptibility of individual)

1. संक्रमण स्रोत या आगार—जहाँ रोग जनक सूक्ष्म जीव स्वाभाविक रूप से पनप सकें, विकसित हो सकें, संख्या में बढ सकें और अन्यों में प्रसारित हो सकें उसे सक्रमण स्रोत या संक्रमण आगार कहते हैं। इनमे मनुष्य, पशु, पक्षी, मिट्टी या अन्य कार्बनिक जड पदार्थ सम्मिलित हैं। वैसे मानव रोग के संक्रमण आगार अधिकांशतः मानव ही बनते हैं किन्तु पशु-पक्षी भी सीमित मात्रा मे संक्रमण आगार बनते हैं। पशु जिन रोगों के स्रोत बनते हैं उनका वर्णन हम पिछले अध्याय मे कर चुके है। पक्षी बहुधा शुकरोग (Psittacosis) तथा साल्मोनेला जीवाणुओं के स्रोत बन पाते हैं। मिट्टी टेटनस व गैस गैन्ग्रीन के जीवाणु और हुकवर्म के अण्डे, लारवा आदि से युक्त होती है।

मानव-आगार से संक्रमण का प्रसार स्वयं रोग-लक्षण युक्त व्यक्ति से होता है या लक्षणहीन रोगी से, अथवा किसी ऐसे स्वस्थ व्यक्ति से, जो स्वयं बीमार नहीं होता लेकिन रोग-जनक सूक्ष्म जीवो का वाहक बनता है। रोगी व्यक्ति जब रोग से पूरी तरह आक्रांत होता है तब तो वह बिस्तर मे पड़ा रहता है, और अन्य लोग जो उसके सम्पर्क में आते है, यथा-साध्य सावधानी बरत लेते हैं जिससे उन्हे सक्रमण होने की सम्भावना कम ही रहती है पर जब रोगी रोग-लक्षणहीन होता है (Sub-clinical case) तब तो वह चलता-फिरता रहता है और अन्यो के सम्पर्क में आता ही रहता

4 व्यक्ति(पोषद) की ग्राह्यता (Susceptibility of Host)–निम्न अवस्था में स्वस्थ व्यक्ति रोग-जनक सूक्ष्म जीवों को ग्रहण करने और उन्हें प्रश्रय देने योग्य होता है—

(i) व्यक्ति (पोषद) में सम्बन्धित रोगाणुओं के प्रति रोग-निरोध-क्षमता (immunity) का अभाव।

(a) स्वाभाविक या कृत्रिम उपार्जित रोग-निरोध-क्षमता या प्रतिरक्षा-शक्ति का अभाव।

(b) अन्यथा शारीरिक कमजोरी—अल्प या अपर्याप्त पोषण—(under nourishment); भुखमरी (Starvation); अत्यधिक थकावट; तनाव-पूर्ण खपयमय दिन-चर्या (Stress & Strain) आदि के कारण।

इनके अनन्तर पोषद की आयु, लिङ्ग, जलवायु व ऋतु आदि भी उसकी ग्रहणशीलता को प्रभावित करते हैं।

(ii) रोग-जनक-सूक्ष्म जीवों की उग्रता (Virulence) और उनकी संख्या, रोग सुलभ व्यक्ति की रोग-ग्राहिता को अधिक बढ़ाते है। उदाहरणार्थ चूँकि शीतला के वाइरस छोटी माता के वाइरस से अधिक उग्र होते हैं अतः शीतला की बीमारी छोटी माता की बीमारी से अधिक उग्र होती है। यदि संक्रमण भारी मात्रा में हुआ है तो पोषद की प्रतिरक्षा शक्तियाँ उसके निराकरण में सक्षम नहीं हो पायेंगी और उस स्थिति में उसकी ग्राहिता भी बढ़ेगी ही।

उद्भवन काल (Incubation Period)

संक्रमण होने के समय से लक्षण उत्पत्ति तक की अवधि को—जिसमें रोगाणु युक्ततम (Optimum) संख्या में बढ़ते है और यथेष्ठ मात्रा में अपने टॉक्सीन (Toxin) पैदा करते है—उद्भवन काल कहते हैं। मुख्य-मुख्य बीमारियों के उद्भवन काल और संक्रामक अवधि निम्न प्रकार से होती है—

बीमारी	उद्भवन काल	संक्रामक अवधि
छोटी माता (Chicken-Pox)	14 से 21 दिन	प्रथम पत्तिका (Rash) निकालने के 1 दिन पूर्व से 6 दिन बाद तक।
शीतला (Small-Pox)	7 से 17 दिन (व्यावहारिक 12 दिन)	जब तक सब पपड़ियाँ न उतर जाये।
खसरा (Measles)	10 से 14 दिन	पित्तिका निकलने के 4 दिन पूर्व और 5 दिन बाद तक।
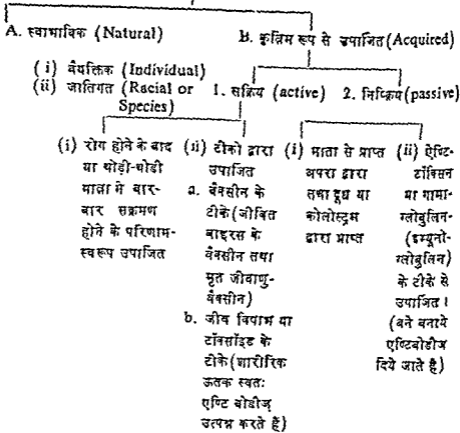
A स्वाभाविक रोग-निरोध-क्षमता

(i) वैयक्तिक—अमुक रोग कुछ व्यक्तियों में तो होता है, कुछ में नहीं जैसे इन्फ्लुएन्जा की महामारी में कई लोग रोग से बचे रहते हैं। जो लोग रोग-ग्रसित नही होते, उनमें उक्त वाइरस के खिलाफ स्वाभाविक प्रतिरोधात्मक ऐण्टिबोडीज् मौजूद होते हैं। वैसे प्रत्येक व्यक्ति में रोगोत्पादक सूक्ष्म जीवों के खिलाफ सामान्यतया कुछ प्रतिरोधात्मक शक्तियाँ काम करती हैं जिनमें त्वचा, श्लेष्मल-कला, रक्त-श्वेत-कणिये, ऊतक-कोशिकायें व देहद्रवी-तत्व (Humoral Factors) प्रमुख रक्षा-पंक्तियाँ बनती हैं। त्वचा व श्लेष्मल कला पहली रक्षा-पंक्ति है। लेकिन इसे पार करके जब रोगाणु शरीर में प्रवेश करते हैं तो ऊतकीय कोशिकाओं से निकले देहद्रवी तत्व एवं श्वेत रक्त-कणियाँ इन पर प्रहार करती हैं। यह दूसरी रक्षा पंक्ति होती है। देहद्रवी तत्व जैसे लाइसोजाइम (Lysozyme) प्रोपर्डीन (Properdin), बीटालाइसिन

रोग	टीका	मात्रा	कब लगाना चाहिए	रोगक्षमता अवधि
शीतला	शीतला वैक्सीन (Freeze dried Vaccine) (जीवित अनुग्र वाइरस)	0 0014–0 0025ml (मल्टिपल प्रेशर या वेधन विधि)	प्राथमिक टीका- 0-3 माह की आयु में । री-वेक्सीनेशन पांचवें वर्ष और बाद मे हर तीसरे वर्ष ।	प्राथमिक टीका- 5 वर्ष तक । चूंकि भारत व सम्पूर्ण विश्व इस रोग से पूर्णतया मुक्त हो गया है, अतः सामान्यतया अब यह टीके नहीं लगाये जाते ।
पोलियो	पोलियो वैक्सीन बताशे ग्लूकोज या शरबत मे मिलाकर दिया जाता है (जीवित अनुग्र वाइरस)	0 5 ml. लगभग 3 बूंद	प्रथम–तीसरे माह मे द्वितीय–चौथे माह मे तृतीय–पाचवें माह मे बूस्टर (अनुवर्धक)-1 वर्ष व 2 वर्ष की आयु मे	अधिकांश आक्रमण अवधि के परे तक
डिफ्थीरिया, टटनस व कुकर खांसी	D P.T. डिफ्थीरिया टेटनस टाक्साइड व कुकर खासी (Pertussis) वैक्सीन	0.5 ml प्रत्येक बार	प्रथम–तीसरे माह द्वितीय–चौथे माह तृतीय–पाचवें माह बूस्टर–दूसरे वर्ष और बाद में स्कूल प्रवेश के समय, यदि आवश्यकता हो तो	
क्षय	बी सी जी. वैक्सीन (जीवित अनुग्र जीवाणु)	0.05 ml	एक ही टीका 0–1 माह मे	अधिकांश सुग्राह्यता अवधि के परे तक
हैजा	कॉलरा वैक्सीन मृत जीवाणु	प्रथम–0 5ml. द्वितीय–0.5ml 4 से 6 सप्ताह बाद । महामारी के समय एक ही टीका 1 ml का	अधिकांश अब भी [illegible] खतरा [illegible] मे	3 [illegible]

Govt. of India ministry of Health 198[illegible]

2

पर्यावरण या वातावरण

हमारे आसपास की वे सभी वाह्य परिस्थितियाँ, वस्तुएँ एवं भिन्न-भिन्न अवस्थाएं जो हमारे आयुमान और जीवनयापन को प्रभावित करती हैं और हमारे शारीरिक एवं मानसिक विकास पर प्रभाव डालती हैं, हमारा वातावरण बनाती हैं।

मानव के वातावरण में हम उसके भौतिक (Physical), आर्थिक, सामाजिक (Social), सांस्कृतिक (Cultural) एवं जीवी (Biological) वातावरण को अंकित करते हैं।

भौतिक वातावरण में—जलवायु (Climate) अर्थात् सूर्यताप, सूर्यप्रकाश, स्थानीय तापमान, आर्द्रता (Humidity) वायु-दबाव आदि; वायु, जल, भोजन, आवासन, कूडा-करकट, मल-मूत्र, औद्योगिक उत्सर्जन (*Industrial Waste*), रासायनिक व रेडियो-धर्मी धूल, शोरगुल, भूमि की किस्म आदि की गणना की जाती है। **सूर्य-ताप एवं प्रकाश** के अभाव में रिकेट्स (Rickets), अस्थि-मृदुता (Osteomalacia), दन्त कोचर, चर्म रोग आदि होने का भय रहता है। अधिक तापमान से ऊष्माघात (Heat Stroke) और आतप-श्रान्ति (Heat Exhaustion) होने की आशंका रहती है। **शीत वातावरण** जहाँ स्वास्थ्य-वर्धक होता है वहाँ गठिया या श्वसन (Respiratory) रोगों को भी प्रोत्साहन देता है। आर्द्रता कार्य-क्षमता में कमी और रोगोत्पादक जीवाणुओं की गतिविधि में वृद्धि करती है। अतः आर्द्र वातावरण स्वास्थ्य-वर्धक नहीं होता। **वायु दबाव** समुद्र तल पर 760 mm. Hg. होता है या 15 lb प्रेशर प्रति वर्ग इंच का होता है। ज्यों-ज्यों ऊँचाई पर जाते हैं यह दबाव कम होता जाता है और यदि समुद्र की गहराई में जाने के लिए विशेष वायु दबाव के संयन्त्रों का प्रयोग किया जाय तो भी वहां वायु दबाव बढ़ा हुआ ही रहेगा। *सहसा कम वायु-दबाव की स्थिति में मानसिक थकावट*, चिड़चिड़ापन, सिर दर्द, नींद की कमी, सांस की वेग-गति, हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) का गाढ़ापन, हृदयधड़कन आदि की शिकायत हो सकती है और अधिक दबाव में ऑक्सीजन, नाइट्रोजन व कार्बन-डाइ-ऑक्साइड गैस रक्त में अधिक अवशोषित होते हैं जिससे अधिक ऑक्सीजन के कारण मानसिक आक्षेप (Convulsions), अधिक नाइट्रोजन के कारण मानसिक कार्य-दक्षता की कमी व संज्ञालोप (Loss of

प्रभाव अल्पकालिक ही होता है—केवल खतरे को टालना ही इनके प्रयोग का मुख्य उद्देश्य होता है। गामाग्लोबुलिन को अन्तर्राष्ट्रीय सहमति से अब इम्यूनोग्लोबुलिन के नाम से जाना जाने लगा है।

जिन रोगों के निवारणार्थ ये टीके काम में लाये जाते हैं वे हैं—डिफ्थीरिया, टेटनस, खसरा आदि।

संक्रमण से उत्पन्न विभिन्न अवस्थाएं (Stages following infection)

वैसे तो संक्रमण से विभिन्न अवस्थाओं का पूर्व पृष्ठों में यथास्थान वर्णन कर ही चुके हैं फिर भी सुभाते के लिये इनका निम्नांकित उद्धरण यहाँ कर देना उपयुक्त ही होगा।

संक्रमण के बाद "उद्भवन काल" में रोगजनक सूक्ष्म जीव पोषद शरीर में पनपते हैं, संख्या में बढ़ते हैं, अथवा टॉक्सीन विसर्जित करते हैं और रोग लक्षण उत्पन्न करते हैं। यदि संक्रमण अति ही हल्की मात्रा का होता है तो रोग-लक्षण कभी-कभी इतने नगण्य होते हैं कि व्यक्ति को इनका भान भी नहीं होता। इस अवस्था को "लक्षणहीन (Sub-clinical) संक्रमण" या बीमारी की संज्ञा दी जाती है। इस अवस्था में अनुपात में रोग-निरोध-क्षमता उत्पन्न होती ही है। लक्षण उत्पन्न होने के साथ ही बीमारी अपनी यथार्थ अवस्था में विकसित होने लगती है और इस अवस्था की निर्धारित अवधि तक बनी रहती है। यदि संक्रमण कुछ भीषण रूप धारण करता है और आन्तरिक रक्षा-शक्तियाँ उसका समुचित सामना करने में सक्षम नहीं हो पाती, तो रोगी की मृत्यु हो जाती है, लेकिन यदि रक्षा-शक्तियाँ समय से सक्रिय होकर रोग-निरोध-क्षमता उत्पादित करती है—विशेषकर जालीय अन्त कला तत्व द्वारा उत्पादित देहद्रवी तत्व एवं ऐण्टिबॉडीज, तब बीमारी ढलने लगती है और रोगी "उल्लाघ" की अवस्था में पहुँचता है। इस समय उसमें पर्याप्त रोग-निरोध-क्षमता पनप पाती है जो लम्बे समय तक बनी रहती है। यदि दुर्भाग्यवश यह क्षमता पर्याप्त मात्रा में नहीं पनप पाती तो उसी बीमारी से दुबारा ग्रसित होने (Relapse) की सम्भावना रहती है। उद्भवन एवं उल्लाघ अवस्था में अधिकांश रोगी अल्पकालिक रोगवाहक बने रहते हैं और कुछ तो पूर्ण स्वस्थ होने पर भी चिरकारी रोगवाहक बन जाते है। रोगी के स्वस्थ होने पर कई बीमारियों में उनके पश्च प्रभाव (after effects) बने रहते हैं जैसे शीतला में विकृत दाग या अन्धापन, पोलियो में आंशिकपात (Paresis) और मम्प्स में वन्ध्यापन आदि।

संक्रमण प्रतिरोध (Restraint of Infection)

संक्रामक रोगों के प्रति मुख्य-मुख्य निम्न मुद्दों पर प्रतिरोधात्मक कार्यवाही की ती है :—

1. शीघ्र एवं सही निदान और समुचित उपचार—निदान के लिये डाक्टरों, आदि के सहायतार्थ प्रयोगशालाओं की समुचित व्यवस्था, संक्रामक रोग सम्बन्धी अस्पतालों की व्यवस्था और निजी प्रैक्टिस में लगे डॉक्टरों, वैद्यों को ...

Consciousness) और अधिक कार्बन-डाइ-ऑक्साइड के कारण स्वापक स्थिति (Narcotic Condition) जिसमें नींद की प्रचुरता और नाइट्रोजन के प्रभाव से बेहोशी व संज्ञालोप आदि की शिकायत हो सकती है। भोजन ठण्डा बासी हो; मक्खियों या चूहों द्वारा दूषित किया गया हो; रोगोत्पादक कीटाणुओं से संदूषित (Contaminated) हो गया हो, खाद्य पदार्थ स्वत: में विषैले हो जैसे अमुक मछली, अण्डे, कुकुरमुत्ता आदि; उनमे विषाक्त अभोज्य पदार्थों की मिलावट की गई हो; रंगरूप सुधारने हेतु या रक्षण (Preservation) हेतु वर्जित रासायनिक पदार्थों की अधिक मात्रा मिलाई गई हो; अमुक खाद्य पदार्थ विशेषकर प्रोटीन युक्त पदार्थ अमुक व्यक्ति को माफिक न आता हो जिससे उसे ऐलर्जी (Allergy) प्रतिक्रिया होती हो, तो यह भोजनीय वातावरण स्वास्थ्य पर कुप्रभाव डालने वाला होता है। आवास गन्दी बस्ती मे हो, रोशनी और ताजी हवा (संवातन) का समुचित प्रबन्धन न हो, आस-पास गन्दगी हो, गन्दे पानी का जमाव हो, अधिक जनवास (Overcrowded) हो, शौचालय, स्नानागार, रसोईघर आदि की सुव्यवस्था न हो, पशु आदि भी वही चौक या आंगन में रक्खे जाते हो, तो यह आवासीय वातावरण सुस्वास्थ्य के लिये हितकर नही होता। कूड़ा-करकट, मल-मूत्र, औद्योगिक उत्सर्जन आदि के समुचित निकास और निस्तारण की उचित व्यवस्था न हो तो प्रवाहिका (Diarrhoea) पेचिश, मोतीझरा, हैजा, आंत्रशोथ, आंतों के कृमि, संक्रामी यकृत-शोथ (Infective Hepatitis), पोलियो आदि बीमारियां होने का भय रहता है। रासायनिक व रेडियोधर्मी धूल रक्त-रोग, ल्यूकीमिया (Leukaemia), हड्डियो की कमजोरी केन्सर एवं जन्म-जात दोष (Congenital Defects) पैदा करती है। शोरगुल मानसिक व्यथा पैदा करता है, कार्यक्षमता मे कमी लाता है, लम्बी अवधि का निरन्तर शोरगुलीय वातावरण श्रवण शक्ति को क्षति पहुंचाता है और कुछ लोगों मे तो मनोविक्षिप्ति (Psychosis) तक पैदा कर देता है। भूमि अवशिष्ट (Residual) हो, भराव वाली (Maid-up Soil) हो, रेतीली हो, चिकनी मिट्टी की हो, पथरीली हो, खड़िया या कछारी हो तो यह सभी किसी न किसी रूप में स्वास्थ्य पर प्रभाव डालती ही हैं, जैसे कछारी भूमि में जल जमाव रहेगा, खड़िया मिट्टी मे भूमिगत जल स्तर ऊपर रहेगा जिससे रोग वाहक जन्तु पैदा होगे, मकानो मे सीलन बनी रहेगी, आब-हवा में अधिक आर्द्रता बनी रहेगी जो स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव डालेगी। रेतीली भूमि मे रेत-कण हवा में बिखरे रहेंगे, आंखो को कष्टदायी होंगे और ट्रेकोमा जैसी बीमारियां फैलाने मे सहायक होंगे। मिट्टी में आंत कृमियों के अण्डे, रोग कीटाणु व उनके स्पोर (Spore) आदि भी मिले रहते हैं जिससे हुक वर्म (Hook-worm), टेटनस (Tetanus), एन्थ्रेक्स (Anthrax), गेस गैंग्रीन (Gas Gangrene) आदि रोग फैलते हैं। वायु, स्वच्छ जल, कूड़ा-करकट निकास आदि पर हम विस्तार से विवेचन अगले अध्यायों मे करेंगे।

आर्थिक वातावरण

इस वातावरण से हम अर्थाभाव या अर्थ-सम्पन्नता को अंकित करते हैं। अर्थाभाव के कारण व्यक्ति को निम्न स्तर का जीवनयापन करना होता है, अधिक परिश्रम

7. विसंक्रमण (disinfection)—रोगजनक सूक्ष्मजीवों का विनाश।

(i) समकालिक (Concurrent)

(ii) अन्तिम (Terminal)

(i) समकालिक—रुग्णावस्था काल में रोगी के मलमूत्र, थूक, उल्टी, वस्त्र, बर्तन आदि का विसंक्रमण समकालिक विसंक्रमण कहलाता है। सर्वप्रथम तो ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि रोगी को एकान्त कमरे में, जिसमें खुली हवा एवं रोशनी हो; रक्खा जाय और उस कमरे में व्यर्थ का सामान व दरी, कालीन, पर्दे आदि न रहने दिये जायें।

कफ थूक आदि को गॉज (Gauze) के टुकड़ों, कागज के रूमालों, गत्ते के बने कप-गिलासों आदि में ले जाकर जला देना चाहिये। यदि मात्रा अधिक हो, जैसे अस्पतालों में, तो 5% (8oz, 1 गैलन) फीनोल में मिलाकर 2 घण्टे तक रखना और बाद में भूमि में गाड़ देना उपयुक्त होगा।

मलमूत्र को यदि सम्भव हो तो लकड़ी के बुरादे में मिलाकर जला देना उत्तम होगा अन्यथा उसमें समभाग अनबुझा चूना (Quick lime) या 8oz प्रति गैलन ब्लीचिंग पाउडर या फीनोल, या 16oz क्रूड कार्बोलिक मिलाकर 2 घण्टे पड़े रखने के बाद मलनल में बहना या भूमि में गाड़ना उचित होगा।

वस्त्र—छोटे-मोटे चिथड़े, अनुपयोगी वस्त्र आदि जला देना ही समुचित होगा अन्यथा उन्हें उबाल लेना उपयुक्त होता है; लेकिन ऐसे वस्त्र जिन पर रक्त, पूय (Pus) या मलमूत्र लगा हो उबालने के पूर्व 2½% फीनोल घोल में लगभग 12 घण्टे तक भिगोये रखना उचित होता है जिससे इन पर दाग न पड़ने पायें। यदि संतप्त वाष्प (Saturated Steam) विसंक्रमक की सुविधा उपलब्ध हो तो इन्हें स्टीम से विसंक्रमित करना अधिक समुचित होता है। ऊनी वस्त्र, कम्बल या पशुलोम (Fur) के वस्त्रों को भी स्टीम ही से या फॉर्मेल्डिहाइड गैस से (Formaldehyde Gas) विसक्रमित किया जाता है। उबालने पर यह सिकुड़ कर खराब हो जाते हैं।

बर्तन, धातु या रबड़ के बने खिलौने, रबड़ के बने दस्ताने, सिरिंज आदि उबाले जा सकते हैं।

थर्मामीटर 5% फीनोल घोल या लाइसोल घोल में धो दिये जाते हैं।

हाथ—साबुन या ब्रश से रगड़कर धोने के बाद शुद्ध ऐल्कोहॉल में भिगोकर ½ to 1% लाइसोल में डुबो लेना उपयुक्त होता है।

(ii) अन्तिम (Terminal) विसंक्रमण—रोगी को अस्पताल में स्थानान्तरित करने के बाद, उसके ठीक हो जाने या मर जाने पर जो विसंक्रमण किया जाता है उसे "अन्तिम विसंक्रमण" की संज्ञा दी जाती है। यदि समकालिक विसंक्रमण अच्छी तरह किया जाता है तो इसकी अधिक आवश्यकता ही नहीं रहती, फिर भी कुछ रोगों जैसे शीतला, हैजा, प्लेग आदि में इसे भी काम में लाना होता है। इसमें ...

से पैसा कमाना होता है मेहनत मजदूरी का जीवन व्यतीत करना होता है, शिक्षा एवं सामाजिक सेवाओं से अधिकांशतः वंचित रहना होता है और बीमारी की अवस्था में समुचित इलाज से भी अक्सर महरूम ही रहना पड़ता है। पोषण समुचित हो नहीं पाता। पोषणहीनता के रोगों का शिकार होना पड़ता है। बच्चों में अधिकांश क्वाशियोरकोर (Kwashiorkor), मेरास्मस (Marasmus), मानसिक विकास की कमी, बुद्धिहीनता, रिकेट्स (Rickets) और अधिकांश बड़े लोगों में अस्थिमृदुता, रक्तहीनता, स्कर्वी (Scurvy), पेलाग्रा (Pellagra), बेरी-बेरी (Beri-Beri) आदि अनेक विकार पैदा हो जाते हैं; शरीर सक्षम नहीं रह पाता और अनेकानेक संक्रामक व अन्य रोग उभर आते हैं। इसके विपरीत आर्थिक सम्पन्नता भी कई बार स्वास्थ्य के लिए अभिशाप बन जाती है। ऐशो-आराम की जिन्दगी, शारीरिक श्रम की कमी, अधिक वसा एवं मिष्टान्नयुक्त गरिष्ठ भोजन, जिसमें कोलेस्ट्रॉल (Cholesterol) की मात्रा अधिक होती है और रक्त कोलेस्ट्रॉल बढ़ाने की क्षमता अधिक होती है, के कारण रक्त धमनियों के रोग व हार्ट अटेक होने की सम्भावना बनी रहती है और रक्तचाप की अधिकता, मधुमेह व चयापचय की अव्यवस्था बनी रहती है। सम्पन्नता में बहुधा सात्विक वृत्ति भी नहीं रह पाती। व्यक्ति कई एक व्यसनों में लिप्त हो जाता है और परिणाम दुःखद ही होता है।

सामाजिक वातावरण

परिवार समाज की केन्द्रिक इकाई है; परिवारों के समूह से समाज बनता है। अतः पारिवारिक व सामाजिक व्यवस्था एक-दूसरे पर निर्भर करती है। परिवार छोटा है, स्वस्थ है, यथा-सम्भव सम्पन्न है, परिवार का प्रत्येक सदस्य सुव्यवस्थित है तो परिवार सुखी होता है और इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव समाज की सुख-सम्पन्नता पर पड़ता है। इसके विपरीत यदि परिवार बड़ा है, निम्न या मध्यम वर्ग का है, तो आर्थिक परिस्थितियों के कारण पति-पत्नी दोनों ही को अर्थोपार्जन में लगे रहना होता है, मानसिक तनाव एवं विक्षिप्त मनःस्थिति का सामना करना होता है और आपसी सद्व्यवहार और सहृदयता का भी अभाव अनुभव होता रहता है। इससे बच्चों का लालन-पालन ठीक से नहीं हो पाता, उनकी घरेलू शिक्षा-दीक्षा भी यथेष्ठ नहीं हो पाती; और परिणामतः उनका व्यक्तित्व पनप नहीं पाता, उनमें उच्छृंखलता और अनुशासनहीनता उत्पन्न होती है और अवाञ्छनीय प्रवृत्तियां पैदा होती हैं, तो यह पारिवारिक वातावरण उस परिवार एवं क्षेत्र में समाज के लिये हानिकारक ही सिद्ध होता है। औद्योगीकरण के बढ़ते चरणों में ऐसे परिवारों के समूह औद्योगिक बस्तियों में अपना अलग ही समाज स्थापित कर लेते हैं। इनका रहन-सहन, खान-पान, आवास-निवास कुछ भी स्वस्थ वातावरण का नहीं होता। रोग और बीमारियाँ वहाँ घर कर लेती हैं। संक्रामक रोग फैलते हैं और उस समाज के लिये अस्वस्थ वातावरण पैदा करते हैं।

7. विसंक्रमण (disinfection)—रोगजनक सूक्ष्मजीवों का विनाश।
 (i) समकालिक (Concurrent)
 (ii) अन्तिम (Terminal)

(i) समकालिक—रुग्णावस्था काल में रोगी के मलमूत्र, थूक, उल्टी, वस्त्र, बर्तन आदि का विसंक्रमण समकालिक विसंक्रमण कहलाता है। सर्वप्रथम तो ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि रोगी को एकान्त कमरे में, जिसमें खुली हवा एवं धूप आती हो; रक्खा जाय और उस कमरे में व्यर्थ का सामान व दरी, कालीन, परदे आदि न रहने दिये जायें।

कफ थूक आदि को गॉज (Gauze) के टुकड़ों, कागज के रूमालों, गत्ते कप-गिलासों आदि में ले जाकर जला देना चाहिये। यदि मात्रा अधिक हे अस्पतालों में, तो 5% (8oz, 1 गैलन) क्रीसोल में मिलाकर 2 घण्टे तक और बाद में भूमि में गाड़ देना उपयुक्त होगा।

मलमूत्र को यदि सम्भव हो तो लकड़ी के बुरादे में मिलाकर जला देना उ होगा अन्यथा उसमें समभाग अनबुझा चूना (Quick lime) या 8oz प्रति गै ब्लीचिंग पाउडर या क्रीसोल, या 16oz क्रूड कार्बोलिक मिलाकर 2 घण्टे प रखने के बाद मलनल में बहना या भूमि में गाड़ना उचित होगा।

वस्त्र—छोटे-मोटे चिथड़े, अनुपयोगी वस्त्र आदि जला देना ही समुचित होगा; अन्यथा उन्हें उबाल लेना उपयुक्त होता है; लेकिन ऐसे वस्त्र जिन पर रक्त, पूय (Pus) या मलमूत्र लगा हो उबालने के पूर्व 2½% क्रीसोल घोल में लगभग 12 घण्टे तक भिगोये रखना उचित होता है जिससे इन पर दाग न पड़ने पायें। यदि संतप्त वाष्प (Saturated Steam) विसंक्रमक की सुविधा उपलब्ध हो तो इन्हें स्टीम से विसंक्रमित करना अधिक समुचित होता है। ऊनी वस्त्र, कम्बल या पशुलोम (Fur) के वस्त्रों को भी स्टीम ही से या फॉर्मेल्डिहाइड गैस से (Formaldehyde Gas) विसंक्रमित किया जाता है। उबालने पर यह सिकुड़ कर खराब हो जाते हैं।

बर्तन, धातु या रबड़ के बने खिलौने, रबड़ के बने दस्ताने, सिरिंज आदि उबाले जा सकते हैं।

थर्मामीटर 5% फीनोल घोल या लाइसोल घोल में धो दिये जाते हैं।

हाथ—साबुन या ब्रश से रगड़कर धोने के बाद शुद्ध ऐल्कोहॉल में भिगोकर ½ to 1% लाइसोल में डुबो लेना उपयुक्त होता है।

(ii) अन्तिम (Terminal) विसंक्रमण—रोगी को अस्पताल में स्थानान्तरित करने के बाद, उसके ठीक हो जाने या मर जाने पर जो विसंक्रमण किया जाता है उसे "अन्तिम विसंक्रमण" की संज्ञा दी जाती है। यदि समकालिक विसंक्रमण अच्छी तरह किया जाता है तो इसकी अधिक आवश्यकता ही नहीं रहती, फिर भी कुछ रोगों में जैसे शीतला, हैजा, प्लेग आदि में इसे भी काम में लाना होता है। इसमें रोगी

परिवार यदि संयुक्त श्रेणी का है और उसमें भी पारिवारिक सदस्यों में यदि पारिवारिक सहयोग एवं सद्भाव का अभाव है, मनमुटाव रहता है, सुख-दुःख या हारी बीमारी मे भी आपसी सहाय की भावना नही रहती; बड़े-बूढ़ों का आदर-मान और उनकी यथेष्ठ सेवा-सुश्रुषा नहीं होती; क्लेश, कलह के वातावरण में मानसिक तनाव, मनःसन्ताप और मानसिक विक्षोभ की स्थिति बनी रहती है तो निश्चय ही यह वातावरण उस परिवार एवं समाज के स्वास्थ्य के लिये हानिकारक सिद्ध होता है। इस परिस्थिति मे मानसिक एवं अन्य आंगिक (Organic) रोग प्रचुरता से पनपने लगते हैं।

कुछ परिवारों मे अमुक जीनी (Genetic) रोग स्वतः ही उत्पन्न होते रहते हैं जो कालांतर में स्वास्थ्य की दृष्टि से समाज में अहितकर वातावरण प्रस्तुत करते हैं जैसे—मधुमेह, हीमोफीलिया, (Haemophilia) मिरगी, (Epilepsy) और हंटिंग्टन कोरिया (Huntington Chorea) आदि।

परिवार एव समाज के कुछ ऐसे रीति-रिवाज, प्रथा-परिपाटी और जाति-पांति के बन्धन या झमेले होते हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे स्वास्थ्य के लिये सामाजिक वातावरण को दूषित करते हैं : जैसे बहुपत्नी या बहु पति प्रथा, बाल या अनमेल विवाह, सगोत्रीय विवाह, पर्दा प्रथा, तीज त्योहार, चूल्हा चौका, जातीय या सामाजिक स्नेह प्रदर्शनार्थ एक ही थाली या पत्तल में अनेकों का सहभोज, वाममार्गी प्रथा पद्धति का जीवन-यापन, लम्बे समय के व्रत उपवास, ओसर-मोसर, सामर्थ्य से अधिक का सामाजिक लेन-देन, दहेज-प्रथा आदि।

सांस्कृतिक वातावरण

किसी परिवार या समाज की सभ्यता एवं संस्कृति यदि सत्य, सनातन, शाश्वत सिद्धान्तों पर आधारित होती है तो वह समाज समुन्नत होता है; उसकी संस्कृति उसके लिए वरदान सिद्ध होती है; उसका नैतिक आचार-विचार और मानवीय व्यवहार समाज मे स्वस्थ वातावरण प्रस्तुत करता है। लेकिन यदि वही समाज अशिक्षा, अन्ध-विश्वास और भ्रामक मान्यताओं का शिकार होता है और रोग को दैवी प्रकोप या पूर्व कर्मों का फल मानकर निष्क्रिय बन उन्हें भोगता रहता है या देवी-देवताओ की मनौती ही मनाता रहता है, उचित उपचार और निवारक उपायो का लाभ नही उठाता, समय से टीका न लगवा कर बच्चों को संक्रामक रोगो से बचाने के बजाय केवल ईष्ट देवों की आरती ही उतारता है और उसकी कृपा का आकांक्षी बना बैठा रहता है, तो वह अपने बालक एवं समाज को व्यर्थ ही मे इन रोगो के खतरे मे डालता है। भ्रामक मान्यताओ के कारण जो व्यक्ति मानसिक उन्माद, हिस्टीरिया, मिरगी आदि रोगों का यथोचित इलाज न करवा कर व्यर्थ के जप-तप करवाता है; जादू-टोना करवाता है, डोरे-ताबीज बधवाता है या भूत-प्रेत की मिथ्या धारणा पर तान्त्रिक क्रियाएं करवाता है, वह निश्चय ही उस बिचारे रोगी की जान ही से खेलता है। धार्मिक पृष्ठभूमि मे भी ऐसी ही मिथ्या धारणाएं रोगी के इलाज

अनबुझा चूना, ब्लीचिंग पाउडर पोटेशियम परमेंगनेट

(ii) द्रव पदार्थ

फोर्मेलिन (Formalin), कोलतार से प्राप्त–फीनोल (Phenol) क्रीसोल (Cresol), लाइसोल (Lysol), डेटोल (Dettol) आदि।

(iii) गैसीय पदार्थ

फॉर्मेल्डिहाइड (Formaldehyde)

8. निस्कीटीकरण (Disinsectization)—रोगवाहक कीट (vectors) का नाशन–मुख्यतया मच्छर, मक्खी पिस्सू आदि का—जिसके सम्बन्ध मे पिछले अध्याय मे संक्षिप्त वर्णन किया जा चुका है।

9. शारीरिक जन्तु नाशन (Disinfestation)–हमारे शरीर पर निवास करने और पनपने वाले जतुओ का निराकरण– जिनमे वे जन्तु आते हैं जो शरीर के बाहरी भाग पर निवास करते हैं और वे जो भीतरी भाग मे। बाहरी भाग पर निवास करने और रोग फैलाने वाले मुख्य जन्तु हैं—जूं, माईट, टिक आदि जिनके निराकरण पर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। शरीर के भीतरी भाग मे निवास करने और फैलाने वाले जन्तु हैं आंतकृमि एवं नारू। नारू के सम्बन्ध में भी हम विचार कर चुके हैं। आंत कृमि के सम्बन्ध मे यथा-स्थान विचार करेंगे।

10. रोग क्षमीकरण या प्रतिरक्षीकरण (Immunization)—संक्रमण प्रतिरोध मे रोग क्षमीकरण अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसके सम्बन्ध में सक्रिय एवं निष्क्रिय रोग निरोध क्षमता उपार्जन के प्रति लगाये जाने वाले टीकों का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। वैसे सामान्यतया ये टीके निर्धारित समय पर लगवा ही लेना चाहिये लेकिन यदि अमुक बीमारी महामारी के रूप में फैली हो या फैलने की आशंका हो, तो लगभग सभी लोगों को सार्वजनिक रूप से टीके लगाने का अभियान (mass inoculation) क्रियान्वित किया जाता है जिसमे अधिकांश शीतला के विरुद्ध प्राथ। एवं री-वेक्सीनेशन (उन्मूलन के बाद अब आवश्यक नहीं) हैजा, टाइफाइड, डिफ्थीरि टेटनस, प्लेग, पीतज्वर आदि के विरुद्ध टीका लगाना एवं बी.सी.जी. वेक्सीनेश करना होता है। इस विषय पर कुछ अधिक विचार हम इन रोगो के निवार प्रबन्धी चर्चा के साथ करेंगे।

11. वाहनिक माध्यमों का सुरक्षण—जैसाकि पिछले अध्यायो में उल्लेख गया है संक्रमण फैलाने वाले माध्यम मुख्यतया जल, वायु खाद्यपदार्थ, मिट्टी आदि जिनका अधिकांश दूषण कूड़े-कचरे, मलमूत्र, मक्खियों व रोगवाहक व्यक्तियों त होता है, अतः इनमे सुरक्षण के लिए कूड़े-कचरे एवं मलमूत्र का समुचित शासन व निस्तारण, मक्खियों की उत्पत्ति पर रोक एवं उत्पन्न हुई मक्खियों का करण, रोगवाहक व्यक्तियों पर समुचित नियन्त्रण व जल शुद्धि आदि

और परिचर्या में बाधक होती हैं : जैसे अमुक दवाई या इंजेक्शन नहीं लेना, अमुक पथ्यापथ्य नहीं करना, अमुक बीमारी के इलाज मे जैसे पेप्टिक व्रण (Peptic ulcer) में जहां दो–दो घण्टे से थोड़ा-थोड़ा दूध, मट्ठा आदि लेते रहना आवश्यक है, वहां लम्बे समय का व्रत-उपवास करना आदि। नैतिक आचार-विचार के अभाव में समाज के कुछ स्वार्थी वर्ग जमाखोरी, मिलावट, कालाबाजारी और कृत्रिम अभाव की स्थिति उत्पन्न कर ऐसा अवाञ्छनीय वातावरण पैदा कर देते हैं कि वह समाज के स्वास्थ्य के लिये बड़ा ही घातक सिद्ध होता है।

जीवी वातावरण
(Biological Enviornment)

हमारे चारों ओर कीट-पतङ्गों व जीवाणुओं का अम्बार लगा रहता है। इनमें से कई स्वास्थ्य, कृषि, उद्योग और आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद सिद्ध होते हैं तो कई अत्यन्त हानिकारक जो रोगोत्पत्ति करते हैं। वायु, जल, खाद्य पदार्थ, मिट्टी, और हमारी त्वचा पर ऐसे अनेक जीवाणु होते हैं जो हमारी शारीरिक क्षमता के क्षीण होने पर, या क्षमता यथोचित होने पर भी अत्यधिक संख्या में पनपने पर, भयंकर रोग उत्पादित करते हैं जो महामारी का रूप ले सकते हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार आगे सम्बन्धित अध्यायों में करेंगे।

12. परिसंक्रमण निवारण (Avoldance of Cross-infection)—परिसंक्रमण (Cross infection) अधिकांश अस्पतालों में हुआ करता है जहाँ विभिन्न बीमारियों के रोगी एक ही वार्ड में रखे जाते हैं। अधिकतर यह वायु द्वारा वाहित होता है या परिचर्या में काम में लाये जाने वाली वस्तुओं के माध्यम से—जैसे एक रोगी टाइफाइड से आक्रान्त है और उसका इलाज हो रहा है पर उन्हीं दिनों उसे इन्फ्लुएन्जा या निमोनिया हो जाता है, या एक बालक डिफ्थीरिया का रोगी है और उसे खसरा निकल आती है; इस प्रकार के परिसंक्रमण का निवारण समुचित संवातन, रोगी के बिस्तर आदि झाड़ने पर पूर्ण सावधानी, रोगियों की शय्याओं में समुचित फासला रोगी शय्याओं का सिरहाना विपरीत दिशा में रखना—एक का उत्तर में तो दूसरे का दक्षिण दिशा में; फर्श की सफाई गीले पोछे से करना, सभी औजारों, पट्टियों, आदि की पूर्ण सफाई रखना, डाक्टर नर्स आदि के हाथों की सफाई रखना, मास्क धारण करना और जहाँ तक हो सके मरीजों के लिये छोटे वार्ड या क्यूबिकल (cubical) की व्यवस्था करना हितकर होता है।

13. स्वास्थ्य शिक्षा (Health Education)—सामान्य संक्रामक रोगों से बचाव के लिये जनसाधारण को व्यावहारिक उपायों से अवगत कराना अत्यन्त आवश्यक होता है, विशेषकर महामारी के दिनों में। यह शिक्षा समय-समय पर प्रसारित विज्ञप्तियों से, परिपत्रों एवं हेन्डबिलों से, समाचारपत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों से, रेडियो व टी. वी. वार्ताओं से, लाउडस्पीकरों पर सार्वजनिक घोषणाओं से, सिनेमा स्लाइड प्रदर्शनों से, संगोष्ठियों से और अलग-अलग मोहल्लों में आयोजित स्वास्थ्य-वार्ताओं के माध्यम से देनी होती है।

14. आवश्यकता हो तो ऐपिडेमिक डिजीज् कानून (Epidemic Disease Act) लागू किया जाकर उसके अन्तर्गत वाञ्छित प्रतिरोधात्मक कार्यवाही की जानी चाहिये।

3

स्वच्छ वातावरण

वायु एवं संवातन

वायु एवं संवातन (Air and Ventilation)

वायु हमारे जीवन के लिये प्रथम परमावश्यक तत्व है। दूसरे नम्बर का आवश्यक तत्व है जल। जल के बिना तो सम्भव है कि हम कुछ दिन जी लें, पर वायु के बिना तो हमारा कुछ मिनट भी जीना दुष्कर हो जाता है। इसीलिये उस परम पिता परमेश्वर ने हम पर यह असीम कृपा की है कि वायु हमें बिना किसी परिश्रम या प्रयत्न किये निरन्तर मिलती रहती है; जबकि जल, भोजन, वस्त्र आदि के लिये हमें काफी परिश्रम करना पड़ता है। वायु हमारे प्राणो का आधार है और प्राण जीवनाधार। जब हम सांस लेते हैं तो वायु मे विद्यमान परम उपयोगी तत्व ऑक्सीजन (O_2) हमारे फेफड़ो में बिछे रक्त-केशिकाओ (Capillaries) के जाल मे प्रविष्ट होकर मुख्यतः रक्त की लाल कणियों में—हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) मे अवशोषित हो जाता है और उसी समय रक्त मे विद्यमान कार्बन-डाइ-ऑक्साइड (CO_2) जो कि शरीर की समस्त कोशिकाओं (cells) से बटोरा गया था, फेफड़ों मे प्रवाहित हो जाता है और निश्वसन द्वारा बाहर फेंक दिया जाता है। रक्त द्वारा ऑक्सीजन (O_2) हमारे शरीर की समस्त कोशिकाओ मे पहुंचता है जहां वह पोषण-तत्वो का ऑक्सीकरण (oxidation) करता है, कोशिकाओं की चयापचय (matabolic) प्रक्रियाओ को पूर्ण करता है और फलस्वरूप ऊर्जा (Energy) उत्पन्न करता है जो शारीरिक ताप को यथार्थ बनाये रखता है और शरीर को शक्ति एव क्षमता प्रदान करता है।

वायु रचना (Composition of Air)—वायु भिन्न-भिन्न गैसीय तत्वों का मिश्रण (mixture) है; रासायनिक यौगिक तत्व (compound) नही है। इसमें मुख्य-मुख्य गैसीय तत्व हैं :—O_2—20.93% N-(नाइट्रोजन)—79.04% CO_2–0.03%; अत्यन्त ही आंशिक मात्रा में निष्क्रिय गैसीय तत्व (inert gases) जैसे आर्गोन (Argon), नीयोन (neon), क्रिप्टोन (Krypton), हीलियम (Helium) आदि; और जलवाष्प (Water Vapour) जो भिन्न-भिन्न स्थानों

बालिकाओं को या बड़ी उम्र के नर-नारियों को आक्रान्त करता है जिनमें प्रतिरोधात्मक रोग-निरोध-क्षमता नहीं होती। रोग-निरोध-क्षमता या तो रोगी होने पर स्वाभाविक रूप से उपार्जित होती है या निर्धारित समय पर प्राइमरी व री-वैक्सीनेशन से। ऐसे व्यक्ति जो निरन्तर रोगी या रोगी के संक्रमणशील पदार्थों के सम्पर्क में आते हैं—जैसे डॉक्टर नर्स, अस्पतालों के अन्य अधीनस्थ कर्मचारी एवं धोबी आदि और जो पूर्ण रूप से प्रतिरक्षित नहीं होते, उन्हें इस रोग से आक्रान्त होने का अधिक खतरा रहता है। एक बार रोगी होने पर स्वाभाविक सक्रिय रोग-निरोध-क्षमता लगभग जीवन भर के लिये बनी रहती है।

रोग कारक सूक्ष्म जीव वेरियोला वाइरस (Variola Virus)।

आगार या स्रोत.- केवल मानव—रोगी व्यक्ति। इसमें रोगवाहक स्थिति (Carrier State) उत्पन्न नहीं होती।

प्रसार या संचार—रोगी के साथ सम्पर्क से या उसकी सामग्री वस्तुओं से। प्रसार श्वसन मार्ग ही से होता है। प्रारम्भिक अवस्था में प्रसार के फलस्वरूप रोगी के नाक, मुँह आदि से निकले आस्राव (Discharge) से-बिन्दुक माध्यम द्वारा-और बाद में रोगी की संक्रामक वस्तुओं से या पिटिका (Rashes) और पपड़ियों (Scabs) से। पिटिका-पपड़ियाँ सूखकर कण बन जाने पर वायुवाहित होकर रोग प्रसार करती हैं। पपड़ियों एवं सामग्री पदार्थों में वेरियोला वाइरस लगभग 6 सप्ताह तक जीवित रह सकते हैं।

उद्भवन काल—7 से 17 दिन—व्यावहारिक 12 दिन।

संक्रामक अवधि—पिटिका-पपड़ियों के पूर्णतया गिर जाने तक।

लक्षण—बीमारी का प्रारम्भ सहसा शीतकम्प (Chill or Rigors) के साथ तेज ज्वर 103°F से 104°F तक से होता है। भारी सिर दर्द, कमर दर्द, हाथों पावों व जोड़ों में दर्द और अत्यधिक शक्तिहीनता की शिकायत होती हैं। बच्चों में जी मचलाने और कै होने की भी शिकायत होती है। लगभग 3 दिन तक यह स्थिति बनी रहती है। तीसरे या चौथे दिन पिटिका—दाने—निकल आते हैं। पिटिका निकलने के साथ ही ज्वर उतर आता है या काफी कम हो जाता है और उपर्युक्त शिकायतें भी लगभग मिट जाती हैं। दाने सर्वप्रथम छोटे-छोटे लाल रंग के होते हैं जिन्हें मेक्यूल्स (*Macules*) कहते हैं जो 24 घण्टे के अन्दर-अन्दर पेप्यूल्स (Papules) में परिवर्तित हो जाते हैं। पेप्यूल्स कुछ मटमैले नीले रंग के होते है, त्वचा में गहरे पैठे हुए होते है और छूने पर काफी सख्त प्रतीत होते हैं। पांचवें या छठे दिन पेप्यूलस वेसिकल्स (Vesicles) में परिवर्तित हो जाते है। त्वचा में गहरे पैठे होने के साथ-साथ ये त्वचा के ऊपर काफी उभर आते है; सीप के बटन की भाँति आकार में बिलकुल गोल और उसी साइज के मटमैले ...

इनमें लिम्फ भर आता है और असंख्य ...

पर भिन्न-भिन्न परिमाण में पाया जाता है। इनके अनन्तर सामान्यतया कुछ अन्य तत्त्व भी वायु में अत्यन्त ही अल्पमात्रा में विद्यमान रहते हैं जैसे ओजोन (ozone); एमोनिया-NH_3, मीथेन-NH_4, सोडियम क्षार, सल्फर-डाइ-ऑक्साइड-SO_2, नाइट्रस एवं नाइट्रिक एसिड आदि, जो विघटन (Decomposition) व दहन (Combustion) के फलस्वरूप पैदा होते हैं और कुछ अंशों में धुआं, धूल, पराग (Pollens), सूक्ष्मजीव (micro-organisms), फफूंद, सूखे वनस्पति के कण आदि होते हैं।

एक मिनट में हम लगभग 18 बार सांस लेते हैं। प्रत्येक प्रश्वसन (inspiration) एवं निश्वसन (Expiration) में साधारणतया हम 500 ml. हवा अन्दर लेते और बाहर निकालते हैं। प्रश्वसन एवं निश्वसन हवा में जो मुख्य अन्तर होता है, वह है—

	प्रश्वसन	निश्वसन
O_2	20.93%	16.40%
N	79.04 ,,	79.19 ,,
CO_2	0.03 ,,	4.41 ,,

इससे स्पष्ट है कि निश्वासित हवा में लगभग 4.5% ऑक्सीजन कम होता है और उतनी ही मात्रा में CO_2 अधिक होता है। इसके अनन्तर इसमें जलवाष्प अधिक होता है और यह हवा अनुपात में गरम भी होती है। वैसे प्रकृति मे वायु-शुद्धि और वायु-रचना के स्थायित्व को बनाये रखने की स्वतः ही व्यवस्था बनी हुई है। मानव एवं पशु आदि द्वारा निश्वासित CO_2 पेड़, पौधे एवं वनस्पति ले लेते है और उसके कार्बन का उपभोग करके O_2 हवा में प्रसारित करते रहते हैं। बहुत से हानिकारक गैसीय तत्व, जो औद्योगिक संस्थानों से निकलते हैं, जलीय वाष्प या जल में अवशोषित हो जाते हैं। हवा की गति भी उनकी रचना में स्थायित्व बनाये रखती है।

फिर भी यदि हमारे आवास हवादार नही होते, उनमे ताजी हवा प्रवेश नहीं कर पाती और जनवास भी अधिक होता है (Overcrowding), तो उस मकान या कमरे की हवा में O_2 की कमी, CO_2 की अधिकता और आर्द्रता में वृद्धि होगी; ताप भी बढ़ेगा और निश्वास में फेंके गये जीवाणुओ की संख्या भी बढ़ेगी; त्वचा, मुंह, आंत व कपड़ों आदि से निकली दुर्गन्ध भी उस हवा में फैलेगी और किसी हद तक हमे बेचैन करेगी। ऐसे दूषित वातावरण मे हमारा जी मचलाने लगेगा, सिर भारी रहने लगेगा, चक्कर आने लगेंगे, सिर-दर्द बना रहेगा, शारीरिक थकावट महसूस होने लगेगी और काम-काज मे जी नही लगेगा। कालान्तर में ऐसे वातावरण से भूख की कमी, पाचन शक्ति की कमी, चयापचय के विकार (metabolic disorders), रक्तहीनता, श्वसन रोग—खासी, जुकाम, एन्फ्लुएन्जा, निमोनिया आदि, शारीरिक क्षमता का ह्रास और फलस्वरूप रोगोत्पादक जीवाणुओं के प्रहार से तपेदिक आदि रोग होने की सम्भावना बढ़ जायगी।

वैक्सीनेशन, रोगियों की ढूँढ़ तलाश, संपर्कित व्यक्तियों का फिर से वैक्सीनेशन की एक लाख की आबादी पर 5 से अधिक रोगी न होने देने के लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास इस प्रावस्था में रखा गया। इसके लिए यह आवश्यक समझा गया कि क्षेत्र की कम से कम 80% या उससे भी अधिक की आबादी सफल वैक्सीनेशन से प्रतिरक्षित रहे।

(3) अनुरक्षण प्रावस्था (Maintenance Phase)—जब पूर्व के दो चरणों में किये गये कार्य के फलस्वरूप अमुक क्षेत्र पूर्ण रोग-मुक्त हो गया और वहाँ 2 वर्ष तक लगातार कोई रोगी नहीं हुआ और 80% आबादी की सन्तोषप्रद रोग-निरोध-क्षमता बनी रही, तथा इस रोग-निरोध-क्षमता को बनाये रखने के लिए क्षेत्र में आधारी सेवाएं स्थायी रूप से उपलब्ध होती रही तब उस क्षेत्र को रोगमुक्त घोषित किया जाकर तीसरे चरण के अनुरक्षण प्रावस्था में प्रस्थापित किया गया।

छोटी माता (Chicken-Pox or Varicella)

यह भी भारी छूत की संचारी बीमारी है जो बचपन में या 10 वर्ष तक की आयु के अन्दर-अन्दर लगभग 70% बच्चों को हो जाती है। 6 माह तक के शिशु अधिकांश बचे रहते हैं—सम्भवतया माता से प्राप्त निष्क्रिय रोग-निरोध-क्षमता के कारण। इसका प्रकोप लड़के-लड़कियों में समान रूप से होता है और अधिकांशतः इसका प्रसार सर्दियों में अधिक होता है। एक आक्रमण के फलस्वरूप जीवन भर की रोग-निरोध-क्षमता उपार्जित हो जाती है पर कभी-कभी बड़े लोगों को भी इसका अत्यन्त ही मन्द आक्रमण हो ही जाता है। भारत में इसका प्रसार लगभग सभी प्रान्तों में स्थानिक या महामारी के रूप में होता है :

रोग जनक सूक्ष्म जीव—वैरिलेसा वाइरस।

आगार—मानव—रोगी व्यक्ति—श्वसन पथ से निकले आश्रावों द्वारा संक्रमण फैलता है।

प्रसार—श्वसन द्वारा—रोगी के निकट सम्पर्क में, बिन्दुक माध्यम से, एवं रोगी की संक्रमण वस्तुओं से।

उद्भवन काल—14 से 21 दिन।

संक्रामक अवधि—पिटिका निकलने के 1 दिन पूर्व से लगभग 6 दिन तक। इसकी पपड़ी संक्रामक नहीं होती।

लक्षण—प्रारम्भ आकस्मिक होता है जिसमें रोगी को हल्का ज्वर और कमर दर्द होता है। ज्वर कभी-कभी सर्दी लगकर आता है। बड़ी उम्र के बच्चों और वयस्कों में ज्वर कुछ अधिक 101^0–102^0F तक हो सकता है। 24 घण्टे के अन्दर पिटिकाएं निकल आती हैं। वे अधिकांशतः शरीर के ढ़के भागों पर निकलती हैं जैसे सीना, पेट, कमर, जांघे आदि। शीतला की तरह खुले भागों पर नहीं निकलती। पिटिकाओं के इस वितरण को केन्द्राभिसारी (Centripetal) होने की संज्ञा दी

वैसे दोषपूर्ण-संवाती-कमरों (ill-ventilated rooms), में केवल O_2 की कमी या CO_2 की अधिकता ही कोई विशेष दुष्परिणाम पैदा नहीं करती। हमारी बेचैनी का मुख्य कारण हवा की स्थिरता, तापमान की अधिकता एवं बढ़ी हुई आर्द्रता ही होता है। इन परिस्थितियों में हमारी शारीरिक ऊष्णता का यथोचित निकास नहीं हो पाता। सवहन (Convection), विकिरण (Radiation) एवं वाष्पन (Evaporation) की प्रक्रियायें, जिनसे उष्णता का निकास होता है, अव्यवस्थित हो जाती हैं। उष्णता का निष्प्रवहन (Heat Stagnation) होता है और यह हमारी बेचैनी का कारण बनता है। इस सिद्धान्त को 'सर लियोनार्ड हिल' (Sir Leonard Hill) ने अपने महत्वपूर्ण प्रयोग से सिद्ध किया है। उन्होंने कुछ विद्यार्थियों को एक कांच के कमरे में बन्द कर दिया और उसमें विशेष व्यवस्था से O_2 की मात्रा 16% तक कम कर दी और CO_2 की मात्रा 3% तक बढ़ा दी। वैसे साधारणतया दोषपूर्ण-संवाती-कमरों में O_2 की मात्रा 19% से कम नहीं हो पाती और CO_2 की मात्रा 0 3 से 0·35% से अधिक नहीं हो पाती। लेकिन उस कांच के कमरे में O_2 की मात्रा इस हद तक कम करने और CO_2 की मात्रा इतनी अधिक बढ़ा देने पर भी विद्यार्थियों को कोई विशेष कष्ट या बेचैनी का अनुभव नहीं हुआ। पर ज्यों-ज्यों हवा का तापमान बढ़ता गया, आर्द्रता बढ़ती गई और हवा की रुकी हुई स्थिति–गतिहीन हवा—का प्रभाव बढ़ता गया त्यों-त्यों विद्यार्थी बेचैन होते गये। उनके चेहरे तमतमा उठे, सांस वेग गति से चलने लगा और वे अजीब सी घबराहट महसूस करने लगे। तुरन्त ही कमरे के पंखे चला दिये गये और उसी हवा को जब गतिमय कर दिया गया तो विद्यार्थियों को चैन मिला। स्पष्ट है कि सुख-चैन व आराम के लिये हवा का गतिमय होना, आर्द्रता का 70% से अधिक न होना और तापमान 68F° से 80°F तक ही होना आवश्यक होता है। यही हमारे लिये सौख्य स्तर (Comfort Standards) बनते हैं जिन्हें हमें समुचित सवातन से बनाये रखना होता है। हाँ, यदि O_2 की मात्रा 7% से भी कम हो जाय तो बेहोशी हो जाती है और CO_2 की मात्रा 4% से अधिक हो जाय तो सांस लेने में कठिनाई होने लगती हैं; सांस उठने लगता है।

कमरे या मकान की हवा में श्वास-प्रश्वास से जो परिवर्तन होता है उसके अनन्तर चूल्हा जलाने और रोशनी करने पर भी काफी कुछ परिवर्तन होता ही है जो समुचित संवातन के अभाव में अधिक हानिकारक सिद्ध हो सकता है। चूल्हे के लिये अधिकांशतः कोयला काम में लिया जाता है जिसके जलने से CO_2, कार्बन-मोनो-ऑक्साइड–CO, सल्फर डाइ-ऑक्साइड–SO_2, व कोयले के सूक्ष्म कणों से मिश्रित धुँआ निकलता है। यदि स्टोव में मिट्टी का तेल जलाया जाता है या गैस का चूल्हा काम में लिया जाता है तो भी CO_2 3 Cu. ft. प्रति घण्टे की दर से उस हवा में फैलता है। रोशनी के लिये भी हम मिट्टी का तेल, अन्य वनस्पति तेल या मोमबत्ती आदि जलाते हैं जिससे CO_2 व CO गैस की उत्पत्ति होती है। इसके अनन्तर चूल्हा

पेचिश (Dysentery)

पेचिश में हम केवल दो प्रकार की पेचिस पर ही विचार करेंगे। (1) बेसीलरी (Bacillary) व (2) अमीबिक (Amoebic)। बेसीलरी पेचिश मुख्यतया शिगेला वर्ग के बेसीलाई से उत्पादित होती है जिसमे शिगेला फ्लेक्सनेरी (Shigella Flexneri), शिगेला सोनियाई (Sh. Sonnei) व शिगेला डिसेन्टरी (Sh. Dysenteriae) प्रमुख हैं। अमीबिक पेचिश प्रोटोजोआ-एन्ट-अमीबा हिस्टोलिटिका (Entamoeba Histolytica) द्वारा उत्पादित होती है। दोनों ही प्रकार की पेचिश भारत मे काफी प्रचलित है और दोनो ही तीव्र (acute) व चिरकारी (chronic) स्थिति की होती है।

बेसीलरी पेचिश

यह एक उग्र संचारी की बीमारी है जो अधिकांशत: उष्ण प्रदेशों में, एवं विकासशील देशो में स्थानिक रूप से फैली रहती है और समय-समय पर महामारी का रूप भी ले लेती है। विकसित देशो में भी इसका प्रचलन कम अथवा अधिक होता ही रहता है, विशेष कर ऐसी सस्थाओं में जहाँ व्यक्तिगत या सार्वजनिक सफाई का पूरा प्रबन्ध नही होता—जैसे मानसिक रोगालयो, शरणार्थी शिविरों, छात्रावासों आदि में। अधिकांशत- इसका प्रसार मार्च से अक्टूबर तक के महीनों मे होता है। इससे सभी उम्र व लिङ्ग के व्यक्ति आक्रान्त होते हैं, विशेष कर छोटे बच्चे व वृद्ध और इनमें यह रोग काफी उग्र रूप धारण कर लेता है। मृत्यु भी अधिकाश इन्ही मे अधि होती है। उग्र अवस्था से ठीक होने पर कई व्यक्ति चिरकारी अवस्था के रोगी ब रहते हैं और रोगवाहक भी।

रोगजनक सूक्ष्म जीव—जैसाकि ऊपर उल्लेख किया गया।

आगार—मानव—रोगी एवं रोगवाहक व्यक्ति।

प्रसार—रोगी के मल से वाहनिक पदार्थों—जल, भोजन आदि के संदूषण से।
रोगवाहक व्यक्ति भी इन्ही पदार्थों का संदूषण करते रहते हैं।
मक्खियों द्वारा भोजनीय पदार्थों के संदूषण से।
रोगी की संक्रमी वस्तुओं से।

उद्भवन काल—सामान्यतया 1 से3 दिन, पर अधिक से अधिक एक सप्ताह तक भी हो सकता है।

सक्रमण अवधि—जब तक रोगी जीवाणु मुक्त नहीं हो जाता—सामान्यतया 2 से 3 सप्ताह तक। रोगवाहक व्यक्ति अधिकांशतः 2 मे 3 वर्ष तक संक्रामक स्थिति में रह सकते हैं।

लक्षण—तीव्र स्थिति के रोग में आँतो की तीव्र शोथ के कारण, आतो मे ऐंठन, पेड़ू व पेट में सख्त दर्द होने लगता है, ज्वर हो जाता है, और अतिसार हो

जलाने व रोशनी करने मे हवा का ताप भी बढ़ता है। रोशनी के लिये बिजली का उपयोग सर्वोत्तम होता है; उससे न तो कोई हानिकारक गैस की उत्पत्ति होती है और न ताप ही अनुपात से अधिक बढ़ता है। दोषपूर्ण संवाती-कमरो-मे कोयला आदि जलाने पर कार्बन मोनोक्साइड की उत्पत्ति होती है वह कभी-कभी घातक सिद्ध हो जाती है जैसा कि सर्दी की रातों में दरवाजे और खिड़कियां बन्द करके कोयले की जलती सिगड़ी कमरों मे रख कर सो जाने पर होता है।

अतः आवास में शुद्ध ताजी हवा का संचार होता रहे, दूषित हवा का निकास होता रहे और हमारा सौख्य स्तर समुचित बना रहे इसके लिये यह आवश्यक है कि *आवास का संवातन समुचित हो। संवातन का सीधा-सा अर्थ है प्राकृतिक (Natural)* या कृत्रिम (Artificial) साधनो से आवास की वायु को उस स्थिति में बनाये रखना जिससे हमे सुख पहुँचे और जो हमारे स्वास्थ्य के लिये हितकर हो।

संवातन (Ventilation) को हम दो श्रेणियो मे विभाजित करते है। एक–भीतरी और दूसरा बाहरी। **भीतरी** संवातन से तात्पर्य है कमरों की दूषित-गरम, घुटी, नमीदार हवा को बाहर निकालना और बाहरी ताजी, अनुपात मे ठण्डी एवं शुष्क हवा का भीतर संचार करना और हवा की गति को बनाये रखना। लेकिन यदि बाहरी हवा ऐसी न हो तो भीतरी सवातन प्राकृतिक साधनो से समुचित नही हो पायेगा। अतः **बाहरी** संवातन के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हवा का सम्यक् संचार होता रहे; उसकी गति रुकने न पाये; उसमे अधिक आर्द्रता न हो; अधिक ताप भी न बढ़ने पाये; उसमे धूआँ, धूल, रेतीले कण, औद्योगिक उत्सर्जन के गैसीय तत्व, कूड़ा-करकट के सूक्ष्म अश एवं दुर्गन्ध और मोटर वाहनो आदि से निकले दूषित तत्व न हों। इसके लिये आवश्यक है कि शहरों, कस्बो व नगरों आदि मे सड़कें, उप-सड़कें, गलियें आदि आवश्यकतानुसार चौड़ी हों, पक्की हो और समय-समय पर उन पर पानी का छिड़काव होता रहे; मकान सटे हुए न हो; अधिक ऊँचाई के न हो और यदि हो भी तो उनके बीच मे नियमित एव निर्धारित खुली जगह हो; स्थान-स्थान पर खुले मैदान, पार्क, वाटिकाएँ आदि हो, शहर सफाई की समुचित व्यवस्था हो, कूड़ा-करकट यथा-समय निष्कासित किया जाता हो; मरे जानवर तुरन्त हटाये जाते हों, औद्योगिक संस्थान आबादी से दूर निर्धारित औद्योगिक वस्तियों में बसाये गये हों, ईंट-चूना आदि पकाने की भट्टियाँ भी आबादी से दूर हो और उनका परिचालन व्यवस्थित हो जिससे अधिक धूआँ न फैले; घरो से निकलने वाले धूँए को भी यथा-सम्भव नियन्त्रित किया जाय और वाहनों से फैलने वाले धूंए आदि को भी। वृक्षारोपण का कार्य भी प्रयत्न से किया जाय।

भीतरी संवातन के सन्दर्भ मे प्रति व्यक्ति कितने घनफुट ताजी हवा की आवश्यकता होती है या कितने वर्गफुट स्थान की; इसका बोध भी हमें कर लेना चाहिये। प्रत्येक युवा व्यक्ति एक घण्टे मे लगभग 0.6 Cu. ft. CO_2 साँस द्वारा बाहर फैंकता है। जैसाकि हम ऊपर विचार कर आये हैं कि स्वाभाविकतया हवा में CO_2 की मात्रा

फेफड़े, व हृदय की बाहरी झिल्ली में फट कर उपद्रव उत्पन्न करता है और कई बार इसका मवाद रक्त संचार द्वारा मस्तिष्क में पहुँचकर वहाँ भी फोड़ा उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार के फोड़ों मे पहुँचे अमीबा स्वतः ही मर जाते हैं, लेकिन अपने जीवन चक्र को बनाये रखने के लिए आंतों में रहने वाले अमीबा अधिकांश सिस्ट (cyst) का रूप धारण कर लेते है, जिससे यह विपरीत परिस्थितियों में भी जीवित रह सकें। यह सिस्ट रोगी के मल मे बाहर निकलती रहती है। रोगी इस समय चिरकारी अवस्था मे लक्षणहीन होता है, पर रोगवाहक अवश्य बना रहता है। अमीबा सिस्ट ऐसे व्यक्ति के हाथों द्वारा भोज्य पदार्थों में, या उसके मल से संदूषित जल एवं खाद्य पदार्थों मे प्रविष्ट होती है, मक्खियों द्वारा भी यह सिस्ट खाद्य पदार्थों में पहुँच सकती है। जब यह सिस्ट जल या भोज्य पदार्थों द्वारा अन्य व्यक्ति के आमाशय मे पहुँचती है तो वहाँ HCL की विद्यमानता में भी नष्ट नहीं होती; और आंतों में पहुँच जाती है; जहाँ ट्रिप्सिन एन्जाइम की क्रिया के फलस्वरूप इसकी भित्ती फटती है, और यह सिस्ट मे तब तक पनपे लगभग 4 अमीबा, बाहर आकर फिर से अपना चक्र चलाने लगते है।

आगार—मानव-रोगी एवं रोगवाहक व्यक्ति

प्रसार—अमीबा सिस्ट द्वारा—रोगी के मल से संदूषित किये गये भोजनीय पदार्थों से।

उद्भवन काल—उग्र अवस्था में 4 से 5 दिन और चिरकारी अवस्था मे महीनों।

संक्रामक अवधि—जब तक आंतों मे अमीबा व सिस्ट विद्यमान रहें—वर्षों तक।

लक्षण—रोग प्रारम्भ सहसा नहीं होता। ज्वर भी अधिकांश नहीं होता। केवल 10% रोगियों मे, जो उग्र अवस्था के रोगी हो सकते हैं, ज्वर हो पाता है। पेट में गड़बड़ और नाभि के दायें-बायें हिस्सों मे कुछ दर्द रहता है। उग्र अवस्था मे कुछ रोगियों को दिन भर में 8—10 पतले दस्त हो सकते है अन्यथा पतले दस्त नहीं होते। मल बँधा हुआ और अधिक मात्रा का होता है। मल मे आंव व रक्त मिश्रित रहता है। बेसीलरी पेचिश की तरह स्पष्ट रक्त व आव नहीं होता। रोगी अधिकांश खटिया नहीं पकड़ता। अपना नित्य का कार्य करता रहता है पर वैसे वह स्वास्थ्य मे गिरावट अनुभव करता है। हाजमा ठीक नहीं रहता; भूख कभी कम तो कभी अधिक लगती है; सिर दर्द, कमर दर्द व जोड़ो में दर्द रहता है। आहार का अवशोषण ठीक से हो नहीं पाता जिससे पोषण निम्न स्तर का होने लगता है। विटामिन "बी वर्ग" की कमी होने लगती है जिससे तन्त्रिकाओं मे दर्द रहने लगता है। रक्तहीनता भी होने लगती है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नहीं है।

लगभग 0·03 Cu. ft. प्रति 100 Cu ft. के होती है और यदि हम इसकी कम से कम परिमित मात्रा 0·02 C. ft प्रति 100 Cu. ft. निर्धारित करें तो एक घनफुट मे यह मात्रा 0·0002 Cu. ft. होनी चाहिये। लेकिन चूँकि प्रति-घण्टा प्रति-व्यक्ति 0 6 Cu, ft. CO_2 हवा में फैलती है, अतः प्रति व्यक्ति प्रति घंटा 0·6 ÷ 0·0002 = 3000 Cu ft ताजी हवा की आवश्यकता होती है; छोटे बच्चों को 200 Cu. ft. की। यह तभी सम्भव हो सकता है जब ताजी हवा का निरन्तर कमरों में संचार होता रहे। यदि समुचित सवातन साधनो से हवा का संचार प्रति घण्टा 6 बार किया जा सके–जो साधारणतया हो ही जाता है–तो भिन्न-भिन्न संस्थाओं और घरू मकानों में प्रति व्यक्ति निम्न घनफुट या वर्गफुट स्थान की आवश्यकता होगी।

	घनफुट	वर्गफुट	
शिक्षण अस्पताल	1,800	180	
संक्रामक रोग ,,	1,440	144	(10 फुट से अधिक की ऊँचाई
सामान्य ,,	1,200	120	की गणना नही की जाती)।
सेना ,,	1,200	120	
सेना बॅरेक	600	60	
घरू आवास	500	50	
फैक्ट्री	400	40	
स्कूल विभिन्न श्रेणी	200–400	20–40	

संवातन साधन—मकानो एव कमरो में समुचित सवातन के लिए हमे विभिन्न साधन काम मे लाने होते हैं। इनमे कुछ साधन तो ऐसे हैं जिनमे होकर हवा स्वतः ही अन्दर-बाहर आ जा सके। इन्हे हम नैसर्गिक या प्राकृतिक (Natural) साधन कहेंगे और कुछ ऐसे होते है जो परिस्थिति-विशेष में काम मे लाये जाते हैं जिनसे हवा का नियन्त्रित संचार किया जा सके या प्राकृतिक साधनों को सहयोग पहुँचाया जा सके। इन्हें हम कृत्रिम (Artificial) साधन कहेगे।

प्राकृतिक साधन—झोपडियो एवं कच्चे मकानो में तो वायु का आवागमन स्वाभाविक तौर से होता ही रहता है पर पक्के मकानो मे हमे आवश्यकतानुसार भाँति-भाँति के साधन—संवातक (Ventilators) लगाने होते है। इन साधनो मे वायु प्रवेश (inlets) व वायु-निकास (Out lets) मार्गों की व्यवस्था करनी होती है। चूँकि कमरों की हवा गरम होने से हलकी होती है, वह कमरे मे ऊपर की ओर उठती है अत. निकास-मार्ग अधिकांश कमरे के ऊपरी भाग मे लगाये जाते हैं। उसका स्थान लेने को ताजी ठडी हवा बाहर से प्रवेश-मार्ग द्वारा भीतर आती है, लेकिन यह तभी सफलतापूर्वक सम्भव हो पाता है जब हवा का सम्यक् प्रचलन (Circulation) होता हो।

प्राकृतिक साधन, जो साधारणतया गरम व ठंडे देशो मे काम मे लाये जाते है, वे अग्राङ्कित हैं :—

लगती है पर शिशुओं और दो वर्ष तक के छोटे बालकों में विशेष रूप से अधिक होती है और कभी-कभी घातक सिद्ध होती है। उनमें मृत्यु दर लगभग 40% के हो जाती है। वैसे तो यह एक विश्वव्यापी बीमारी है पर उष्ण प्रदेशों में, जहाँ मक्खियों का अधिक उत्पात होता है, अधिक फैलती है और कई बार क्षेत्रीय महामारी का रूप भी धारण कर लेती है—विशेष कर शिशु-सदनों आदि में।

अविशिष्ट कारणों में अपचन, अव्यवस्थित भोजन, कुपोषण, अल्पपोषण, भोजन विषाक्तता, आंत-कृमि आदि मुख्य हैं और विशिष्ट कारणों में सालमोनेला व शिगेला वर्ग के जीवाणु, ई. कोलाई, स्टैफिलोकोकस व कुछ वाइरस वर्ग के सूक्ष्म जीव होते हैं जो काफी तीव्र एवं संचारी प्रकृति की रुग्णावस्था पैदा कर देते हैं।

रोगजनक सूक्ष्म जीव—उपर्युक्त वर्णन के अनुसार।

आगार—रोगी बच्चों का मल या उससे संक्रमित पदार्थ

प्रसार—रोगी बच्चों की परिचर्या करने वाली नर्सों, धात्रियों आदि की असावधानी से बच्चों का दूध, दूध के बोतल, टीट, या अन्य बर्तन दूषित होने पर; मक्खियों द्वारा इन्हीं पदार्थों के संदूषित किये जाने पर या संदूषित जल एवं अन्य खाद्य पदार्थों के प्रयोग करने पर।

उद्भवन काल—लगभग 2–4 दिन।

संक्रामक अवधि—जब तक रोगी बच्चों में संक्रमण विद्यमान रहता है–लगभग 2 से 3 सप्ताह तक इनके मल में रोग जीवाणु रह सकते हैं।

लक्षण—सहसा पतले पानी-से दस्त लगने लगते हैं, मल अधिकांश नहीं होता; दस्तों में श्लेष्मा, रक्त या पूय नहीं होता। कभी-कभी ज्वर भी हो आता है। बच्चों के शरीर से अधिक जल निकल जाने के कारण हाथ-पाव ठण्डे पड़ जाते हैं, नाड़ी दुर्ग्राह्य हो जाती है, आँखें धँस जाती हैं, चेहरा पिचक जाता है और बच्चा अत्यन्त ही असहाय स्थिति में हो जाता है। उचित उपचार के अभाव में मृत्यु तक हो जाती है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नहीं है।

प्रतिरोधात्मक उपाय

संस्थाओं में होने वाले प्रसार की अधिसूचना स्वास्थ्य अधिकारियों को अवश्य देनी चाहिये और बच्चों का अस्पतालों में पृथक्करण करना और तुरन्त उपचार करना अत्यावश्यक है। उनके मलमूत्र का टाइफाइड रोगी के मलमूत्र की भाँति ही विसंक्रमण करके निस्तारण कर देना चाहिये। रोगी को मक्खियों से सुरक्षित रखना चाहिये। उसके सभी संक्रमणी पदार्थों को उबाल कर साफ करना और दूध के बर्तन, बोतल, टीट आदि को भी उबाल कर विसंक्रमित करना चाहिये। बच्चों के लिये दूध तैयार करने की सही और स्वच्छ विधि को अपनाना चाहिये और सभी परिचायकों को विशेष व्यक्तिगत सफाई बरतनी चाहिये। शिशुओं को ऊपर का दूध न देकर यथासम्भव स्तनपान कराना ही सर्वश्रेष्ठ सुरक्षित एवं पोषणीय सम्भरण है, उत्तम प्रतिरोधात्मक उपाय भी।

(1) दरवाजे व खिड़कियां–यदि दरवाजे व खिड़कियां कमरे के आमने-सामने की दीवारों पर स्थित हों तो यह वायु प्रवेश और वायु निकास, दोनो ही मार्गों का अच्छा काम देते हैं। इससे हवा का आर-पार संचालन सुलभ हो पाता है और ऐसी संवातन व्यवस्था को हम पारगामी संवातन (Cross—Ventilation) कहते है।

(2) रोशनदान—खिड़कियों व दरवाजों के अनन्तर कमरे के उपरी भाग में, आमने-सामने की दीवारों में, भाँति-भाँति के रोशनदान लगाये जाते हैं जो अतिरिक्त वायु-निकास-मार्ग का काम करते है। यह रोशनदान साधारणतया सीमेंट की बनी जाली के हो सकते है या लकड़ी के चोखटे पर खुलने व बन्द होने वाले, लकड़ी के
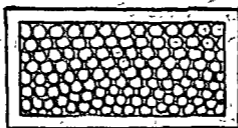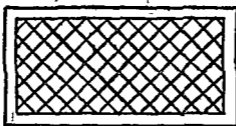
चित्र 3·1

फ्रेम मे लगे काँच के बने हो सकते हैं (चित्र 3·1, 3·2)। दरवाजे, खिड़कियाँ व रोशनदान आदि का कुल क्षेत्रफल कमरे के क्षेत्रफल का कम से कम छठा भाग तो होना ही चाहिये।

वायु प्रचलन रुका हो, और ताप व आर्द्रता अधिक हो तो उपर्युक्त प्राकृतिक साधनों के अनन्तर हमें बिजली आदि के पंखों का प्रयोग करना होता है जिससे वायु की गति बनी रहे और हमारी शारीरिक उष्णता का वाञ्छित निकास होता रहे। यदि ताप अत्यधिक है और आर्द्रता न्यून है तो हमें खस की टट्टियाँ या कूलर आदि का प्रयोग करना होता है।

(3) ठंडे प्रदेशों में खिड़कियां व दरवाजे अधिकतर खुले नही रखे जा सकते। अत: वहां वायु प्रवेश-मार्ग की विशेष व्यवस्था करनी होती है। बाहर की ठंडी हवा हमारे शरीर पर सीधा आघात न करे, इसके लिए प्रवेश-मार्ग इस ढंग से बनाये जाते

(ii) ऑक्सीयूरिस वर्मीक्युलेरिस (Oxyuris vermicularis) या थ्रेड वर्म (Thread worm)।
(iii) ऐंक्लोस्टोमा (Ankylostoma) या हुक-वर्म।
(iv) फाइलेरिया (Filaria—Bancrafti & Malayi)
(v) नारू—ड्रैकन्कुलस मेडिनेन्सिस (Dracunculus medinensis) इसे गिनिवर्म (Guinea-worm) भी कहते हैं।
(vi) ट्रिकाइनेला स्पाइरेलिस (Trichinella spira'is) या ट्रिचिनेला स्पाइरेलिस।

II सेस्टोड (Cestode)
फीते की तरह चपटे व लम्बे होते हैं, अतः इन्हें टेपवर्म (Tape-worm) भी कहते हैं।

(i) टीनिया सोलियम (Taenia solium)
(ii) टीनिया सेजिनेटा (Taenia soginata)
(iii) टीनिया ऐकाइनोकॉक्स (Taenia Echinococcus)
(iv) टीनिया डाइफाइलोबोथ्रियम लेटम (Taenia Diphyllobothrium Letum)

III ट्रैमेटोड (Trematode)
पत्ते की तरह चपटे और चौड़े होते हैं, अतः इन्हें पर्णकृमि या फ्लूक (Fluke) भी कहते हैं।

(a) शिस्टोसोम (Schistosoma)
(i) शिस्टसोम हीमेटोबियम (S Haematobium)
(ii) शिस्टासोम जेपोनिकम (S. japonicum)
(iii) शिस्टोसोम मेन्सोनाई (S. Mansoni)
(b) फैसियोला (Fasciola)
(i) फैसियोला हेपेटिका (F. Hepatica)
(ii) फैसियोलोप्सिस (Fasciolopsis)
(iii) फैसियोलोप्सिस बुस्की या बस्काई (F Buski)

नेमैटोड

ऐस्केरिस लम्ब्रीकॉइडिस—राउण्ड-वर्म

यह सफेद रंग का गोल कीड़ा है जिसकी लम्बाई—नर 15–25 cm व मादा 15–40 cm. की होती है। इसका निवास छोटी आंतों में होता है। मादा गर्भवती होने पर प्रतिदिन लगभग 2,00,000 अण्डे देती है। मानव आंत में इसकी जीवन
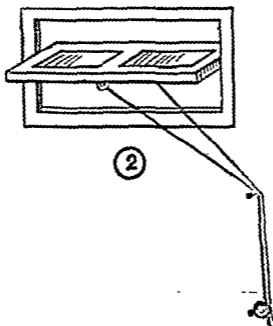
चित्र 3·2

है कि हवा कमरे की सतह से ऊपर प्रवेश पाये और प्रवेश पाते ही काफी फैल जाये। इसके लिये बहुधा निम्न साधन काम में लाये जाते है :—

(i) टोबिन्स ट्यूब (Tobin's Tube)
यह ट्यूब कमरे के अन्दर दीवार के सहारे ईंट, पत्थर, चूना या सीमेंट की बनाई जाती है। इसकी ऊँचाई लगभग 5 से 6 फुट की होती है। इसका निचला सिरा बाहर की ओर खुला रहता है जिस पर जाली लगा दी जाती है जिससे चूहे या अन्य जन्तु अन्दर प्रवेश न पा सकें। अन्दर का सिरा जो कमरे के भीतर उक्त ऊँचाई पर खुलता है, अनुपात में चौड़ा होता है जिससे हवा अन्दर आने पर फैल सके (चित्र 3·3)।

(ii) ऊपर-नीचे सिरकने वाले 2 कपाटों की खिड़की (Double Sash-Window)। कपाट बन्द रखने पर भी उनके बीच में रहने वाले रिक्त स्थान से वायु प्रवेश होता रहता है (चित्र 3·4)।

(iii) शेरिघम्स वाल्व ((Sheringham's Valve)
यह 45^0 पर तिरछा खुलने वाला संवातक है जो दीवार के ऊपरी भाग मे लगाया जाता है या सामान्य खिड़कियों के ऊपर, जिसमे होकर बाहरी ताजी हवा कमरे मे प्रवेश पाती है (चित्र 3·5)।

छाया युक्त ठण्डक में पनपते हैं। इनमें लारवा बनने लगते हैं। 10 से 40 दिन में लारवा पूर्ण विकसित हो जाते हैं। लारवा युक्त ये अण्डे जब भोजनीय पदार्थों-कच्ची शाक-सब्जियों आदि में या गन्दे हाथों से मिट्टी में खेलने या काम करने आदि से मानव आंतो में पहुँचते हैं तो पाचन रसों की क्रिया के फलस्वरूप फटते हैं और लारवा बाहर निकल आते है। यहाँ से लारवा रक्त द्वारा यकृत में पहुँचते हैं और फिर हृदय मे होकर फेफड़ो में और वहा से श्वास नलियों मे होकर गले में आते हैं जहाँ से पुन: पेट मे होकर आंतो मे पहुँचते हैं। इस यात्रा में इन्हें लगभग 25 से 30 दिन लग जाते हैं और तब तक ये अपनी चार कचुली पलट चुके होते हैं। आंतो में ये 4 से 6 सप्ताह मे पूर्ण कृमि बनकर मादा के गर्भित होने पर अण्डे देना प्रारम्भ करते है और अपना जीवन चक्र चलाते रहते हैं। (चित्र 9.3)

आगार—आक्रान्त व्यक्ति।

प्रसार—आगार व्यक्ति के मल में अण्डो का निष्कासन, भूमि मे संवर्धन और सदूषित हाथो एवं भोजनीय पदार्थों द्वारा स्वस्थ व्यक्ति मे संक्रमण।

उद्भवन काल—60 से 70 दिन।

संक्रामक अवधि—जब तक संक्रमित व्यक्ति के मल में अण्डे निकलते रहे।

लक्षण—अधिकांश अनिर्धारित लक्षण होते है। पेट में कभी-कभी कुछ गड़बड़, भूख की कमी कभी-कभी कै एवं मचली, शारीरिक कमजोरी, कुछ पीलापन, कभी-कभी पित्ति निकलना और बच्चो में कभी-कभी पेट में तीव्र पीड़ा होना-ऐपेन्डिसाइटिस जैसा दर्द होता है। कुछ बच्चो को दमा की शिकायत हो सकती है और लारवा फेफड़े मे न्युमोनिया की स्थिति पैदा कर सकते हैं। सबसे बड़ी शिकायत तो मल के साथ बड़े कृमि निकलने की होती है। यदि बड़े कृमि अधिक संख्या मे आंतों में पनप जाते हैं तो आंत-अवरोध भी पैदा कर देते है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही

प्रतिरोधात्मक उपाय—अधिसूचना एव पृथक्करण अनिवार्य नही हैं। विसक्रमण की भी विशेष आवश्यकता नहीं होती। आवश्यकता होती है मानव मल के स्वास्थ्यकर तरीको से निस्तारण की। इसके लिए जल-वाहित मल व्यवस्था या स्वतः साफ होने वाले शौचालयो के निर्माण एव प्रयोग की, और खाद्य-पदार्थों को मल सदूषण से सुरक्षित करने की। इसके साथ-साथ संक्रमित व्यक्तियों के समुचित इलाज और जन-साधारण के व्यक्तिगत सफाई नियमो के पालन की; जिसके लिये समुचित जन-सम्पर्क की आवश्यकता है।

ऑक्सीयूरिस वर्मीक्युलेरिस या थ्रेड वर्म

ये सफेद डोरे के समान छोटे-छोटे कृमि होते हैं। नर लगभग 2–4 mm और मादा 8-1' mm लम्बी होती हैं। इनका संक्रमण अधिकाशत बच्चो मे होता है। एक विश्वव्यापी प्रसार है। लड़के-लड़की समान रूप से आक्रान्त होते है। पूर्ण
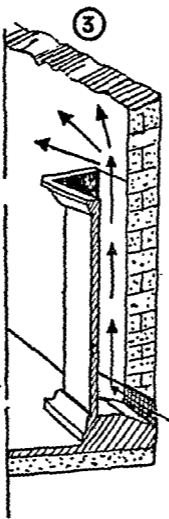
चित्र 3·3 चित्र 3·4

(iv) छिद्रदार ईंटें (Ellison Bricks)

प्रत्येक ईंट में आर-पार छिद्र बनाया जाता है जिसका बाहरी सिरा संकरा और भीतरी सिरा अनुपात में चौड़ा होता है जिससे हवा अन्दर आने पर फैल सके और सीधा आघात न कर सके। इस प्रकार की कई ईंटें दीवार में लगाई जाती हैं (चित्र 3·6)।

(v) मेकिनेल्स संवातक (Mckinnel's Ventilator)

यह संवातक एक मंजिले मकानों की छत पर लगाया जाता है। अधिकांशतः इसका प्रयोग कारखानों, सिनेमा, नाटक-घरों, गिरजाघरों, सम्मेलन भवनों आदि में किया जाता है। इसमें 2 चिमनियां होती हैं।

आगार—संक्रमित बच्चे।

प्रसार—मादा जब अण्डे देने गुदा के बाहर आती है और इधर-उधर रेंगती है तो तीव्र खुजली होती है; बच्चा खुजलाता है और अपनी उंगलियों में नाखूनों के नीचे—अण्डे भर लेता है। उन्हीं उँगलियों से वह अण्डे अपने अशन-पथ में दुबारा पहुँचाता है या भोज्य पदार्थों को सदूषित करता है, जिससे अन्य बालकों को भी सदूषण होता है। सदूषित वस्त्रों से भी संक्रमण हो सकता है।

उद्भवन काल—सामान्यतया 2–4 सप्ताह।

संक्रामक अवधि—जब तक बच्चा कृमि-रहित नहीं हो जाता। लगभग 2–8 सप्ताह, यदि दुबारा सक्रमण न हुआ हो तो।

लक्षण—मादा अण्डे देने अधिकांश रात्रि में, जब बच्चा सो जाता है, गुदा के बाहर आती है और इस कारण रात्रि ही में बच्चे को खुजली होती है, वह जग जाता है, रोने लगता है, खुजलाता है, बार-बार खुजालते रहने से त्वक् शोथ हो जाता है, एक्जिमा हो जाता है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नहीं।

प्रतिरोधात्मक उपाय—अधिसूचना एवं पृथक्करण अनिवार्य नहीं। सक्रमित बच्चों का सम्यक् उपचार और उसके वस्त्रों को उबाल कर विसक्रमित करना आवश्यक होता है। बच्चों की व्यक्तिगत स्वच्छता पर पूरा ध्यान देना चाहिये। उनमें स्वच्छता की आदत डालनी चाहिये। हाथों को समय-समय पर और भोजन के पूर्व साबुन से धोने की आदत डालनी चाहिए। उनके नाखून समय पर काटने चाहिये, नाखून चबाने की आदत छुड़ानी चाहिये और मल-निस्तारण की स्वच्छ व्यवस्था करनी चाहिये।

ऐङ्किलोस्टोमा-हुकवर्म

इस कृमि की दो उपजातियां है—(1) एँ डियोडिनाल (A. Duodenale) और (2) निकेटर अमेरिकेनस (Necator Americanus)। ये दोनों ही किस्म के कृमि भारत में बहुतायत में संक्रमण फैलाते हैं। दोनों ही समान प्रकृति के कृमि हैं और स्थूल आकार में भी समान ही है; रुग्णता भी समान प्रकार की ही पैदा करते अतः हम केवल एक ही कृमि–एँ. डियोडिनाल का वर्णन करेंगे।

यह कृमि–मादा 12 mm. और नर 8 mm.—का होता है। इसका अगला भाग हुक की तरह मुड़ा हुआ होता है इसीलिये इसको हुक-वर्म कहते हैं। यह गोल रज्जु का कृमि है, जो आक्रान्त व्यक्ति की छोटी आंत में निवास करता है उसका रक्त पीता है। मानव आंत में इसका जीवन काल लगभग 3 से 4 वर्ष ता है। अधिकांशतः इसका स्थानिक प्रसार उन ट्रोपिकल एवं सब-ट्रोपिकल में जहां मानव-मल-निस्तारण की स्वास्थ्यकर व्यवस्था का अभाव है। योरोप अफ्रीका, दक्षिण-पूर्वी-एशिया, भारत, श्रीलंका, बंगला देश, पाकिस्तान, मध्य

की होती है पर कभी-कभी यह 24 मीटर तक की लम्बाई का भी हो सकता है। सिर 1–2 mm., गर्दन काफी लम्बी और धड़ में लगभग 1000 से 2000 खण्डांश होते हैं। प्रत्येक खण्डांश में कृमि अण्डे रहते हैं। जीवन-काल लगभग 10 वर्ष या इससे भी कुछ अधिक।

जीवन-चक्र—ठीक उसी प्रकार का जैसाकि टीनिया सोलियम मे होता है अन्तर केवल इतना ही है कि सूअर के स्थान पर गाय या भैंस मे लारवा सिस्ट के रूप मे पनपते हैं जिसे सिस्टीसरकस बोविस (Cysticercus Bovis) कहते है। मानव को सक्रमण इसी सिस्ट के खाने से होता है जो अधपके मांस में विद्यमान रहती हैं। मानव में सिस्टीसरकस स्टेज नहीं पनप पाती। (चित्र 9.8)

आगार—मानव प्राथमिक एवं गाय द्वितीयक।

प्रसार—संदूषित अधपके गाय के मांस से।
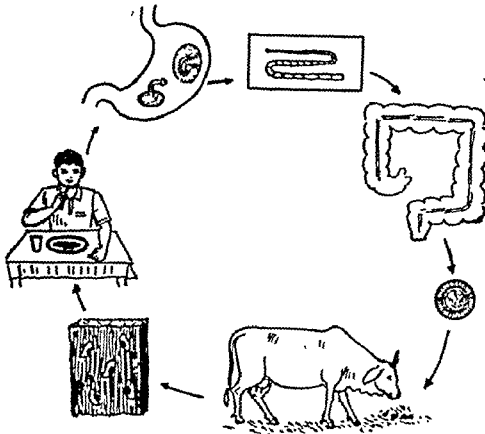
चित्र 9.8 टीनिया सेजिनेटा
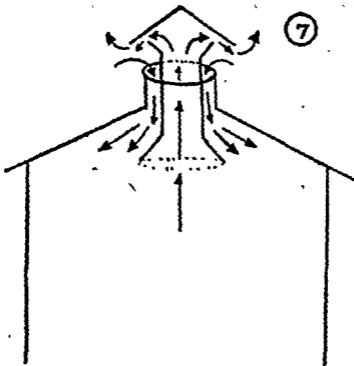
चित्र 3·7

जाते हैं जहां प्राकृतिक साधनों से संवातन सम्भव न हो, या जहां के वातावरण को विशेष रूप से नियन्त्रित रखना आवश्यक हो जैसे औद्योगिक संस्थान, बड़े-बड़े कलकारखाने, कपड़ा मिलें, प्रयोगशालायें या वे संस्थाएं जिनके भीतरी वायु-मण्डल को निर्जीवाणुक (Sterile) रखना होता है, होटल, थियेटर, सिनेमाघर, भूमिगत प्रतिष्ठान—खानें व बड़े-बड़े व्यावसायिक या सार्वजनिक सम्मेलन भवन आदि। इन साधनों से प्रस्थापित संवातन में भी मुख्यतः दो सिद्धान्तों का प्रयोग होता है; एक दूषित हवा को प्रयत्न से बाहर फेंकना और दूसरे बाहरी ताजी हवा को प्रयत्न से अन्दर पहुँचाना। इन सिद्धान्तों पर आधारित सवातन प्रणाली को क्रमशः निःशेष (Extraction or Vacuum or Exhaust) संवातन और प्लीनम (Plenum) संवातन की संज्ञा देते हैं।

निःशेष संवातन प्रणाली से कमरों या संस्थानों के विभिन्न प्रकोष्ठों की दीवारों पर ऊपर की ओर रोशनदानों पर निःशेष पंखे (Exhaust fans) लगाये जाते हैं जो भीतरी हवा को खींच कर बाहर फेंक देते हैं और इस प्रकार उत्पन्न हुई रिक्तक (Vacuum) स्थिति मे बाहर की ताजी हवा स्वतः ही प्राकृतिक मार्गों से रिक्त स्थानों में प्रविष्ट हो जाती है।

प्लीनम प्रणाली-अर्थात् बलात् वायु प्रवेशन-पद्धति के संवातन में बाहरी वायु को
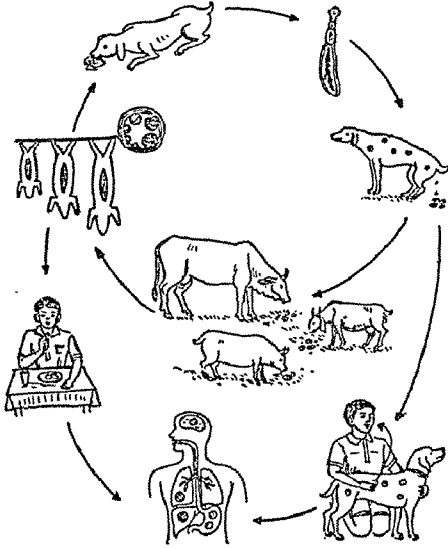
चित्र 9.9 टीनिया ऐकाइनोकॉकस ।

आगार—कुत्ते, भेड़िये आदि—प्राथमिक व भेड़, बकरी, गाय, सूअर आदि द्वितीयक ।

प्रसार—उपर्युक्त वर्णनानुसार ।

उद्भवन काल—कई माह ।

संक्रामक अवधि—जब तक कुत्ते अण्डे निस्सारित करते रहें ।

लक्षण—मानव में चूंकि केवल हाइडेटिड सिस्ट ही बन पाती है और उसमें बनने वाला कृमि अविकसित होता है तथा वह भी सिस्ट में ही बन्द रहता है, अतः

प्रयत्न से प्राकृतिक मार्गों द्वारा या विशेष संस्थापित वायु वाहिनी नालियों (ducts) द्वारा, विशेष पंखों से भीतर पहुँचाया जाता है। इस दबाव युक्त वायु प्रविष्टि से दूषित वायु स्वतः ही निकास मार्गों से बाहर निकल जाती है। यह प्रणाली बड़े-बड़े कारखानों, इस्पात भट्टियों, खानों आदि में काम में लाई जाती है।

अधिकांश इन दोनों प्रणालियों के संवातन साधनों को साथ-साथ ही काम में लाया जाता है और तब इसे संतुलित संवातन पद्धति की संज्ञा दी जाती है। इस पद्धति में बाहरी हवा को शुद्ध करने और ठण्डी या गरम करने की व्यवस्था भी की जाती है जिससे वायु प्रतिबन्धित (conditioned) हो सके। इस व्यवस्था को वायु-प्रतिबन्धन (Air-conditioning) कहते हैं।

किसी कमरे, आवास या स्थान का संवातन समुचित है या नहीं इसके लिये हमें वायु संचार, वायु गति (air velocity) वायु ताप एवं आर्द्रता व वायु शीतन-शक्ति (Cooling power of air) आदि का बोध करना होता है। इनमें वायु शीतन-शक्ति का बोध अधिक महत्व रखता है क्योंकि इससे हमें हमारी शारीरिक उष्णता के निष्कासन (Heat loss) का पता लगता है। वायु शीतन शक्ति वैसे वायुताप, वायु आर्द्रता और वायु गति पर ही अधिकांश निर्भर करती है। वायु-शीतन-शक्ति हम केटा-थर्मामीटर (Kata Thermometer) से नापते हैं।

केटा-थर्मामीटर

केटा-थर्मामीटर का निर्माण सर लियोनार्ड हिल (Sir Leonard Hill) ने किया था। इस यन्त्र में दो अलग-अलग थर्मामीटर होते हैं—एक शुष्क-बल्ब दूसरा आर्द्र-बल्ब। आर्द्र बल्ब थर्मामीटर के बल्ब पर मलमल की जाली या कपड़ा बँधा होता है (चित्र 3·8)। दोनों में हल्का गुलाबी रंग का एल्कोहॉल (Alcohol) भरा रहता है। दोनों के ऊपरी सिरों पर छोटे-छोटे बल्ब उनके तने ही में समाये हुए होते हैं। थर्मामीटर को काम में लेने के पूर्व 150°F तक के गरम पानी में उनके बल्ब को इतनी देर के लिए रक्खा जाता है कि उनका कुछ एल्कोहॉल ऊपर उठकर ऊपरी बल्ब में भी पहुँच जाय। थर्मामीटर के तने पर 2 निशान होते हैं : ऊपर का निशान 100° F और नीचे का 95° F। तने के पीछे की ओर थर्मामीटर का घटक (Factor) लिखा होता है। जब दोनों थर्मामीटरों में एल्कोहॉल ऊपरी बल्ब तक उठ जाय तो उन्हें गरम पानी से निकाल कर आर्द्र बल्ब वाले थर्मामीटर के बल्ब पर लगे मलमल के कपड़े से अतिरिक्त पानी निचोड़ कर निकाल दिया जाता है और शुष्क बल्ब थर्मामीटर के बल्ब को पोंछ कर सुखा दिया जाता है। इसके बाद दोनों थर्मामीटर कमरे में निर्धारित स्थान पर अपने नियत स्टेण्ड पर लटका दिये जाते हैं और उनके एल्कोहॉल के 100° F से 95°F तक गिरने के समय को, सैकिण्ड्स में विराम घड़ी (Stop watch) से, नोट कर लिया जाता है। इस प्रयोग को तीन बार दोहरा कर तीनों बार अंकित किये गये समय का मध्यमान

अत्यन्त ही संक्रमी होता है। 4–6 सप्ताह में यह स्वतः ही दब जाता है पर तब तक रोग के सूक्ष्म जीवाणु रक्त द्वारा सारे शरीर में प्रवाहित हो जाते हैं और द्वितीयक मक अवस्था पैदा करने में सफल हो जाते हैं।

द्वितीयक अवस्था में रोगी के शरीर पर मैक्यूल, पेप्यूल या वेसिकल श्रेणी के दाने उभर आते हैं जो सीने और पेट पर अधिकता से दिखाई देते हैं। होठ, मुँह, तालु व गले में भी ये दाने निकल आते हैं जो निरन्तर खराश, दर्द व निगलने में कठिनाई पैदा करते हैं। साथ ही हल्का ज्वर हो आता है, हाथ-पाँवों की हड्डियों व जोड़ों में दर्द, भूख की कमी, वजन में कमी तथा सामान्य स्वास्थ्य में गिरावट की अनुभूति होती है। यकृत तिल्ली बढ़ जाते हैं और अन्य आन्तरिक अवयवों में भी थोड़ी बहुत शोथ हो जाती है। लसिका ग्रन्थियों की वृद्धि तथा बहुधा हथेलियों पर काले-काले धब्बे उभर आते हैं। आँखों में आइराइटिस (Iritis) या रेटिनाइटिस (Retinitis) हो जाती है जिससे अन्धेपन की भारी आशंका हो जाती है।

तृतीयक अवस्था के लक्षण कई वर्षों बाद प्रकट होने लगते हैं। इस अवस्था में शरीर के किसी भी अंग-प्रत्यंग या तन्त्र (System) में गम्भीर उत्पात उत्पन्न हो जाते हैं। यकृत, तिल्ली, फुप्फुस, वृषण (Testis), हृदय, मस्तिष्क, त्वचा व श्लेष्मकला पर विशेष गिल्टियां या गाँठें जिन्हें गम्मा (Gumma) कहते हैं, उभरने लगती हैं और यह अपने केन्द्रित स्थल से परिगलित होते-होते प्रभावित अंग या अवयव को क्षतिग्रस्त कर देती है। नाक या तालु की श्लेष्मकला पर उत्पन्न होने पर यह यहाँ की पतली हड्डियों में छेद कर देती है जिससे बोलने व खाने-पीने में बड़ी कठिनाई होती है। हृदय में होने पर उसके कपाटिकाओं की क्षति हो जाती है, जिससे रक्त संचरण में भारी व्यवधान होने लगता है, महाधमनी (Aorta) में होने पर उसमें एन्यूरिज्म (Aneurysm) हो जाता है। इस अवस्था में जब रोग का प्रभाव मस्तिष्क तक पहुँचता है तो एक प्रकार का अंगघात, जिसे (General Paralysis of insane) कहते हैं, हो जाता है और मेरुदण्ड पर पड़ने पर टेबीज डोर्सेलिस (Tabes dorsalis) की रुग्णावस्था हो जाती है।

जन्मजात सिफिलिस (Congenital Syphilis)—गर्भस्थित बच्चे को संक्रमण हो जाने पर प्रायः उसकी गर्भ ही में मृत्यु हो जाती है–गर्भ से लगातार मृत बच्चे ही पैदा होते हैं–और यदि जीवित पैदा होते भी हैं तो बहुधा प्रथम वर्ष की आयु में ही मर जाते हैं। यदि भाग्यवश जीवित रहते हैं तो उनमें जन्मजात संक्रमण के परिणाम-स्वरूप समय-समय पर विभिन्न रोग-लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं जैसे मैक्यूलर दानों का उभरना, हड्डियों में मृदुता बनी रहना और उससे निरन्तर दर्द रहना, नाक के ऊपरी भाग में हड्डी का दबा हुआ रहना, सातवें वर्ष में सामने के स्थायी दांत आने पर उनमें भंगिका (Notch) रहना, बड़ी उम्र में आँखों का उपद्रव–कैरेटाइटिस (Keratitis), कानों में दोष बहरापन व जोड़ों में श्लेष्मकलाशोथ (Synovitis) का होना सम्भव है।
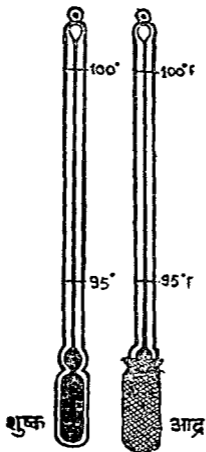
चित्र 3·8

(mean) निकाल देना श्रेयस्कर होता है। दोनों थर्मामीटरों के जो अंक प्राप्त होते हैं उनका थर्मामीटर के घटक मे भाग देने से वायु की शीतन-शक्ति अर्थात् प्रति Sq cm से प्रति सैकिण्ड मिली-कैलॉरीज (milli-calories) उष्णता निष्कासन का बोध हो जाता है। शुष्क बल्व थर्मामीटर (Dry Bulb Kata Thermometer) विकिरण (Radiation) व संवहन (Convection) द्वारा और आर्द्र बल्व थर्मामीटर (Wet Bulb Thermometer) विकिरण, संवहन एव वाष्पीकरण (Evaporation) द्वारा ऊष्णता निष्कासन का बोध कराता है। अतः आर्द्र बल्व थर्मामीटर में 100°F से 95°F तक एल्कोहॉल गिरने में कम समय लगता है। हमारे प्रयोग मे मान लीजिये कि शुष्क बल्व थर्मामीटर—DK मे पांच डिग्री एल्कोहॉल गिरने में 60 सैकिण्ड लगे

(ii) स्वास्थ्य प्रत्यावर्तन (Health Restoration)

(a) जन्मजात या तदुपरान्त हुए दोषों का शोधन–विशेषज्ञों द्वारा

(b) दुर्घटनाओं की क्षति का तात्कालिक सम्यक् उपचार

(iii) स्वास्थ्य संवर्धन (Health Promotion)

(a) स्कूल एवं कक्षा का स्वच्छ वातावरण
(b) क्रीड़ा स्थलों का स्वच्छ वातावरण
(c) स्वच्छ एवं सुरक्षित जल व्यवस्था
(d) स्वच्छ शौचालय एवं मूत्रालय-व्यवस्था
(e) बच्चों की व्यक्तिगत स्वच्छता
(f) अतिरिक्त पोषाहार व्यवस्था
(g) शारीरिक व्यायाम एवं खेलकूद
(h) स्वास्थ्य शिक्षा
(i) अध्यापक-अभिभावक समन्वय-सम्मेलन और बच्चों के स्वास्थ्य सुधार सम्बन्धी विचार विनिमय।

इन सेवाओं के संयोजन में स्वास्थ्य विभाग और शिक्षा विभाग के संयुक्त सहयोग की आवश्यकता होती है। स्वास्थ्य विभाग मेडिकल ऑफीसर, नर्स, स्कूल क्लिनिक, उपकरण व औषधियों आदि की व्यवस्था करता है और शिक्षा विभाग छात्रों के स्वास्थ्य-कर वातावरण, अतिरिक्त पोषाहार, व्यायाम, स्वास्थ्य शिक्षा, अध्यापक-अभिभावक सम्मेलन और उपचार तथा दोष-निवारण-कार्य के अनुपरीक्षण (Follow-up) की व्यवस्था करता है। स्कूल मेडिकल ऑफीसर छात्रों, अध्यापकों एवं स्कूल के अन्य कर्मचारियों का समय-समय पर स्वास्थ्य परीक्षण करता है, रोगों एवं दोषों का पता लगाता है, उनके उपचार और शोधन की व्यवस्था करता है, प्राथमिक उपचार के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित करता है, प्रतिरोधात्मक टीके लगाता है या विशेष टीका-टोलियों द्वारा सामयिक टीके लगवाने की व्यवस्था करता है, और स्कूलीय वातावरण को स्वच्छ बनाये रखने के सम्बन्ध में आदेश एवं निर्देश देता है तथा समय-समय पर इन सब कार्यों का निरीक्षण करता है।

स्वास्थ्य संरक्षण एवं प्रत्यावर्तन

स्वास्थ्य संरक्षण—स्कूल मेडिकल ऑफीसर नये छात्रों के स्कूल में प्रवेश होने पर उनका सम्पूर्ण स्वास्थ्य परीक्षण करता है और प्रत्येक छात्र के स्वास्थ्य का निर्धारित कार्ड में पूर्ण आलेख तैयार करता है। परीक्षण में जो रोग या दोष पाये जायें, उनका उपचार, यदि स्कूल क्लिनिक में हो सकता हो, तो वहीं करता है अन्यथा स्कूल अधिकारियों के मारफत माता-पिता या अभिभावकों की स्वीकृति से नजदीकी अस्पताल में उपचार की व्यवस्था करवाता है। शहरों में यह उपचार विशिष्ट अस्पतालों में कराया जाता है और ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, जिला अस्पतालों या शहरी बड़े अस्पतालों में। ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश प्राथमिक स्वास्थ्य

और आर्द्र वल्ब थर्मामीटर–WK में 25 सैकिण्ड लगे और थर्मामीटर के घटक 500 हैं तो वायु शीतन दर निम्न होगी—

DK–500 ÷ 60 = 8 3 | milli calories प्रति Sq cm प्रति
WK–500 ÷ 25 = 20 0 | सेकिण्ड की दर से ऊष्णता निष्कासन्

केटा थर्मामीटर से हवा की गति का भी बोध कर लिया जाता है। हवा के ताप एवं शीतन शक्ति के प्राप्त अंकों से विशेष सरेखण चार्ट (monogram) द्वारा हवा की अत्यन्त मन्द गति का भी पता लगा लिया जाता है।

कमरे का सवातन ठीक हो और वातावरण आराम-देह हो इसके लिये यह आवश्यक है कि DK की दर 6 से कम नही होनी चाहिये और WK की दर 20 से कम नही होनी चाहिये। यदि DK की दर 5 या इससे भी कम होती है तो कमरे का वातावरण आवश्यकता से अधिक गरम होगा और 15 से ऊपर होती है तो आवश्यकता से अधिक ठण्डा। WK की दर DK की तिगुनी दर से अधिक नही होनी चाहिये।

जिस केटा-थर्मामीटर का वर्णन अभी हमने किया वह स्टेण्डर्ड केटा-थर्मामीटर है; लेकिन गरम देशों मे, कमरे का ताप 95°F से अधिक हो सकता है, अतः वहां के लिये अधिक ताप वहन करने वाले ऐसे अलग-अलग केटा-थर्मामीटरो का प्रयोग किया जाता है जिन पर ताप डिग्री अंक 130°F से 125°F व 150°F से 145°F लिखे होते हैं और उनकी तुरन्त पहचान के लिये उनमें एल्कोहॉल क्रमश. आसमानी व गहरे लाल रंग का भरा होता है।

वायु प्रदूषण—वैसे तो वायु मे कुछ न कुछ दूषित पदार्थ सामान्यतया मिले ही रहते हैं पर जब इनकी मात्रा निर्धारित सीमा से अधिक हो जाती है तब ये वायु प्रदूषण की स्थिति उत्पन्न कर देते है। वायु प्रदूषण आज हमारे लिये अत्यन्त ही विचारणीय समस्या बनी हुई है।

बढ़ती आबादी, बढ़ता नगरीय-जन-जीवन (Urbanization), बढता औद्योगीकरण, बढता परिवहन, बढते रासायनिक प्रयोग, बढ़ता रेडियोऐक्टिव संदूषण और वायु में किये जाने वाले परमाणु विस्फोट आदि ऐसे कई कारण हैं, जो वायु को दूषित करते है।

बढ़ती आबादी और बढ़ते नगरीकरण से बढते आवास, बढ़ते चूल्हे चौके, बढता ईधन-दहन (Combustion), बढते कूड़ा करकट के ढेर, बढते गटर, बढ़ते भस्मकारी संयन्त्रों (Incinerators) के प्रयोग, बढता विघटन (Decomposition), बढते जीवाणु, बढ़ते परिवहन आदि की समस्यायें उभरती है जो वायु-प्रदूषण करती हैं।

औद्योगीकरण के कारण औद्योगिक नगरो की आबादी बढती है, इस आबादी की समस्यायें बढ़ती हैं, कल कारखानो के औद्योगिक उत्सर्जन बढते हैं, रासायनिक एवं धातुकणो से मिश्रित धूएँ एवं धूल की वृद्धि होती है, घरो मे जलाये जाने वाले

आदि में जमे जल का निकास या उस पर सप्ताह में एक बार मलेरिओइल का छिड़काव—मच्छरों की उत्पत्ति को रोकता है। उत्पन्न मच्छरों को मारने के लिये डी.डी.टी. का छिड़काव उपयुक्त होता है। इसी प्रकार मक्खियों की उत्पत्ति के निराकरण के लिये कूड़े-कचरे और मानव एवं पशुमल का समुचित निस्तारण किया जाय। खाद खड्डों का नियन्त्रित प्रयोग, प्रत्येक बार कूड़ा-कचरा या गोबर आदि डालने के बाद 2" मिट्टी का भराव, कम्पोस्ट बनाने की यथार्थ विधि का प्रयोग, मानव मल निस्तारण के लिये स्वतः साफ होने वाले शौचालयों का प्रयोग, जहां-तहां खुले स्थल पर पखाना फिरने पर रोक आदि उपाय मक्खियों की उत्पत्ति को रोकते हैं। उत्पन्न मक्खियों को मारने के लिये और भोजन सामग्री को मक्खियों से बचाने हेतु कुछ उपायों का पूर्व मे वर्णन किया जा चुका है। चूहों को मारने के लिये वे ही उपाय काम में लाने होते हैं जिनका वर्णन किया जा चुका है।

आवारा कुत्ते गांवों में काफी उत्पात मचाते हैं और यदि रेबिड हो गये हों तो काटने पर रेबीज की बीमारी फैलाते हैं; अतः आवारा कुत्तों का विनाश या निष्कासन करना आवश्यक हो जाता है। अधिकांश गावों के लोग कुत्तों को मारना पसन्द नहीं करते फिर भी उनके उत्पात को कम तो करना ही पड़ेगा, अतः ग्राम पंचायतों को चाहिये कि आवारा कुत्तों को पकड़वा कर एकान्त स्थान में बनाये गये बाड़ों में रक्खें और यथा समय उन्हें निरस्त करते जायें।

दुर्गन्ध फैलाने वाले बहुत से व्यवसाय गांवों में होते हैं जैसे चमडे की धुलाई, सफाई और रंगाई; हड्डियों की ढुलाई एवं पिसाई, साबुन बनाने के लिए चर्बी पिघलाने का कार्य, रद्दी, कागज व गत्ते बनाना, तेल धाणियों में तेल निकालना, चावलों को उबाल कर उनकी भूसी निकालना आदि। धूंआ-धूलि उड़ाने वाले व्यवसायों में ईंट व चूना पकाने के भट्टे, सीमेंट के कारखाने, रुई-पटसन धुनने के संयन्त्र, कुम्हारों के कच्चे बरतन पकाने के भट्टे, भूसा काटने के व्यवसाय आदि। इन्हें गांवों के बाहर समुचित दूरी पर, हवा के रुख की विपरीत दिशाओं में स्थापित करने चाहिये और इनको इतना नियन्त्रित करना चाहिये कि दुर्गन्ध एवं धुंआ-धूलि कम से कम पैदा हो।

गांवों में मरघट या कब्रिस्तान की कोई यथार्थ व्यवस्था नहीं होती। बहुधा शवों को नदी या तालाबों के किनारे ही जला दिया जाता है और अस्थियां वहीं बहा दी जाती हैं। शवों को दफनाने के लिए भी कोई स्थान निर्धारित नहीं किया जाता। यह ठीक नहीं है। मरघट व कब्रिस्तान के लिए गांव से दूर-निकटतम बस्ती से कम से कम 100 गज की दूरी पर और जल स्रोतों से 200 से 250 फुट की दूरी पर-स्थान निर्धारित करने चाहिये। कब्रिस्तान के लिए समतल भूमि का चयन करना चाहिये ताकि न तो निचाई पर होने से वहां बरसाती जल भरा रहे और न ही ऊँचाई पर होने से जल बह कर आस-पास के जलाशयों में पहुँच पाये। मरघट व कब्रिस्तान के चारों ओर परकोटा बनाना वांछनीय होता है। मरे पशुओं को दफनाने-

ईंधन व औद्योगिक भट्टियों में जलाये जाने वाले ईंधन—कोयला, डीजल, कोल गैस, नेफ्था, केरोसिन, पेट्रोल आदि से CO_2, CO, SO_2 (सल्फर-डाइ-ऑक्साइड) नाइट्रोजन—ऑक्साइड, ऐमोनिया, ऐल्डीहाइड, हाइड्रोजन आदि गैसीय तत्वों की उत्पत्ति होती है, रेडियोएक्टिव तत्व विसर्जित होते हैं और जी मचलाने वाली दुर्गन्धियां भी फैलती हैं।

परिवहन में स्कूटर, मोटर, ट्रैक्टर, भारी ट्रक, बस, रेल, जहाज, हवाई जहाज आदि अतिरिक्त SO_2, CO_2, CO, Lead-tetra-ethyle व कार्बन मिश्रित धुआं प्रसारित करते है।

गटरों से भी बहुधा मीथेन, ऐसीटिलेन, बेन्जेन, क्लोरीन, हाइड्रोजन—सल्फाइड (H_2S), CO_2, CO, SO_2 आदि गैसीय तत्व निकलते रहते हैं।

इन सबका हमारे स्वास्थ्य एवं जीवन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। धुआं एवं धुएं में मिश्रित SO_2, कार्बन-कण, रासायनिक तत्वों के कण आदि अधिकांश श्वसन रोग पैदा करते है जैसे पुरानी खांसी, दमा, वातस्फिति (Emphysema), निमोनिया, फुप्फुसधूलिमयता (Pneumoconiosis), सिकतामयता (Silicosis) आदि और तपेदिक व श्वसन प्रणाली के केन्सर की पूर्व-प्रवृत्ति (Predisposition) पैदा करते हैं। मृत्यु-दर भी बढ़ती ही है। इनके अनन्तर आंखों के विकार नेत्र-श्लेश्मला-शोथ (conjunctivitis), ट्रेकोमा, त्वचा रोग आदि भी उत्पन्न होते हैं। सल्फर-डाइ-ऑक्साइड व कार्बन-कण वनस्पति को भी क्षति पहुंचाते हैं और इमारतों को भी। पालतू जानवरो और जलीय जीव—मछली आदि के आयुमान को भी कम करते हैं। धुएँ की कालिख मकानों, कपड़ों, साज सामानो, दरी, कालीन व पर्दों आदि को काला करती है और इनकी सफाई में हमारा व्यर्थ का समय खर्च होता है।

Co, Lead-tetra-ethyle, क्लोरीन, बेन्जेन आदि अत्यधिक मात्रा में कभी-कभी घातक सिद्ध हो जाते हैं।

जीवाणु-संदूषित वायु अधिकांश संक्रामक रोगों का प्रसार करती है।

रेडियोएक्टिव संदूषण व परमाणु विस्फोट के कारण फैली रेडियोधर्मी धूल रक्त रोग, ल्यूकीमिया, केन्सर आदि उत्पन्न करती है।

वायु-प्रदूषण-निराकरण जितना आवश्यक है उतना ही कठिन भी है। प्रत्येक देश व प्रत्येक राष्ट्र को इसके लिये यथा-साध्य प्रयत्न करना चाहिये। देशवासियो को इसके दुष्परिणामों से पूर्णतया परिचित कराना चाहिये। औद्योगिक संस्थानो के व्यवस्थापकों को निवारक उपायों के सम्बन्ध में प्रशिक्षित कराना चाहिये और उनका सहयोग प्राप्त करना चाहिये। धूआं एवं धूलि उत्पन्न करने वाले औद्योगिक संस्थानों का आबादी से दूर निर्धारित स्थान पर स्थापन, समुचित ऊंचाई की चिमनियों की व्यवस्था, अच्छे कोयलों का प्रयोग, भट्टियों में कोयले झोंकने के बाद नियमित कुरेदन

(Raking) जिससे अधिक धूआ न निकले; कोयले के स्थान पर ऐसे ईंधनों
प्रयोग जो धुआ, सल्फर-डाइ-ऑक्साइड आदि दूषित पदार्थ पैदा न करें, जैसे बिजल
आदि; धुआं-धूल नियन्त्रण प्रतिबन्ध; परिमित मात्रा से अधिक धुआं-धूल उगलने
वाले प्रतिष्ठानो के विरुद्ध प्रशासनिक या कानूनी कार्यवाही, अधिक CO_2, CO, SO_2
या Lead tetra Ethyle फेंकने वाले मोटर इजिनो की सामयिक मरम्मत, नगर-
पालिकाओ के भस्मकारी संयन्त्रों (Incinerators) की सुव्यवस्था, हवा में परमाणु-
परीक्षणो पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जिन्हें काम मे लाना
अत्यावश्यक होता है। भारतीय पद्धति के अनुसार यज्ञ-हवन वायु शुद्धि की दिशा मे
महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

वर्षा जल

उन प्रदेशों में, जहां भूपृष्ठ या भूमिगत जल की कमी होती है या जहां का जल अत्यधिक क्षारीय होने के कारण उपभोग योग्य नही होता वहा वर्षा का जल ही काम मे लिया जाता है। यह जल अधिकाशतः मकानो की छतों से इकट्ठा किया जाता है। पहली वर्षा में मकानों की छतों को अच्छी तरह से धोकर साफ कर लिया जाता है और बाद की वर्षा का जल छतो से उतारे गये नलों द्वारा मकानो के आहातो मे बनाये गये टाकों मे भर लिया जाता है। यह टाके आवश्यक लम्बाई-चौड़ाई व गहराई के भूमिगत बनाये जाते हैं। यह सीमेंट ककरीट के बने पक्के होते है और इनका ऊपरी सिरा जमीन से एक या दो फुट ऊँचा उठा होता है। टांके सीमेंट ककरीट की छत से ढके रहते है। छत में एक ओर ढक्कनदार 2'×2' का छिद्र बनाया जाता है जिससे आवश्यकतानुसार जल शुद्धि के लिए टांके के जल में रासायनिक पदार्थो का मिश्रण किया जा सके या टांके की सफाई की जा सके। जल निकालने के लिए हेण्ड पम्प लगाया जाता है (चित्र 4·1)। टाके सार्वजनिक क्षेत्र में भी बनाये जाते है। भूमि के बड़े क्षेत्र को सुरक्षित करके उसे ढालू बनाया जाता है और सीमेंट कंकरीट से पक्का कर दिया जाता है, जिससे इस क्षेत्र पर बरसा जल टांकों से भरा जा सके।
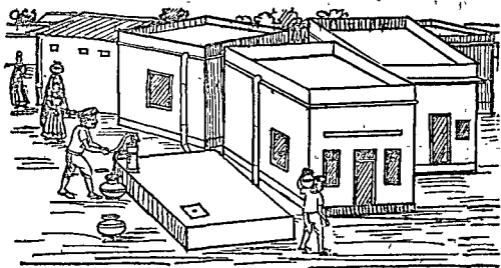
चित्र 4 1 बरसाती टाका

वर्षा जल अत्यन्त ही कोमल (Soft) होता है क्योंकि इसमे कैलशियम (Ca) व मेगनेशिएम (mg) क्षार–लवण (Salts) नहीं होते। अतः यह खाना पकाने, नहाने-धोने, व कपडे धोने के लिए अत्यन्त ही उपयोगी होता है। पीने में यह जल कुछ निःस्वाद (Insip'd) होता है क्योंकि इसमे CO_2 की मात्रा अधिक नहीं होती। अतः पीने से पूर्व इसे दो बरतनों मे ऊपर नीचे करके वातित (aerate) कर लेना

पास लगभग 100 फुट के घेरे में कूड़ा-करकट के ढेर न लगने दिये जायें और न ही इस घेरे में कोई आवास, शौचालय या मूत्रालय हो। मरघट भी इस घेरे में न हो। तालाब में मछलियां भी पाली जायें जिससे वह निलम्बित द्रव्य (Suspended Matter) एवं जीव जन्तुओं के लारवा (Larva) आदि खाकर जल को साफ बनाये रखें। समय-समय पर जल का क्लोरीनिकरण करना और उसमें उगने वाले खरपतवार (Weeds) का निराकरण करना भी आवश्यक होता है (चित्र 4·2)।
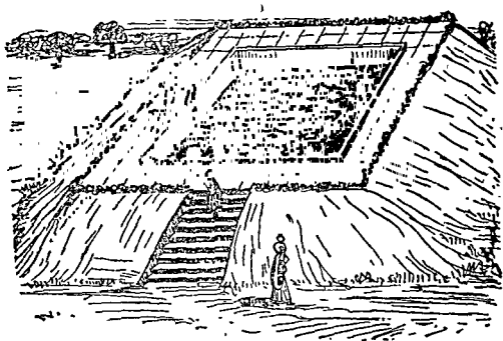
चित्र 4·2 सुरक्षित तालाब

तालाबों, झीलों आदि के अतिरिक्त नदियां भी भूपृष्ठ जल बहुतायत में उपलब्ध कराती हैं। नदियों का जल उनके उद्गम स्थल पर तो अत्यन्त शुद्ध, निर्मल एवं दूषण-रहित होता है, पर ज्यों-ज्यों वह मैदानों में बस्तियों, शहरों व नगरों के पास होकर गुजरती हैं त्यों-त्यों इनका जल मलिन एवं दूषित होता जाता है। बस्तियों की गन्दगी, शहरों की गन्दी नालियां, कल कारखानों का दूषित उत्सर्जन, मृतकों के अधजले शव या उनकी हड्डियां आदि नदियों में बहा दी जाती हैं, मलमूत्र भी अधिकांशतः इनमें विसर्जित कर दिया जाता है। अतः नदियों का जल—चाहे वह बहता हुआ ही क्यों न हो—संदूषित हो ही जाता है। अत नदियों के जल का सार्वजनिक उपयोग करने हेतु उनका सम्यक् निस्यन्दन एवं क्लोरीनिकरण करना अत्यन्त ही अनिवार्य हो जाता है।

भूमिगत जल

वर्षा का जल जब भूमि में अवशोषित होता है तो वह मिट्टी में होकर निथरने से स्वच्छ एवं निर्मल हो जाता है। जल जितना नीचे उतरेगा उतना ही अधिक स्वच्छ होता जायेगा। अवशोषित जल कुछ तो मिट्टी की थोड़ी सी गहराई ही में जाकर निचली सतह में जमा हो जाता है, अर्थात् प्रथम अप्रवेश्य तह (Ist Impervious layer) के ऊपर; ऐसे जल को हम अधोभूद् जल (Sub-Soil-water) कहेंगे। किन्तु अधिकांश अवशोषित जल भूमि में और अधिक गहराई में चला जाता है और दो अप्रवेश्य तहों के बीच में इकट्ठा हो जाता है। यह दो तहें चाहे पहली और दूसरी हों या दूसरी और तीसरी या तीसरी-चौथी आदि। इस हम गभीर या गहरा भूमिगत जल (Deep Underground Water) कहेंगे।

क्योंकि अधोभूद् जल अधिक निथार नहीं लेता इसलिये वह अधिक स्वच्छ नहीं हो पाता और प्रथम अप्रवेश्य तह के ऊपर ही जमा रहता है, अत. इसमें आसपास की गन्दगी भी प्रवेश पा सकती है। इसलिए यह जल सुरक्षित एवं स्वास्थ्यकर नहीं माना जाता। गभीर जल अधिक स्वच्छ, सुरक्षित, दूषण-रहित, संदूषण-विहीन स्वादिष्ट एवं स्वास्थ्यकर होता है, लेकिन इसमें खनिज द्रव्यों का घुलन किसी हद तक हो ही जाता है, विशेषकर Ca व mg के लवणों का, जिससे यह अनुपात में कठोर (Hard) होता है। यदि इसमें अत्यधिक कठोरता हो जाती है तो उसके हटाये जाने पर यह जल सर्वोत्तम सुरक्षित एव स्वास्थ्यप्रद होता है।

भूमिगत जल कैसे प्राप्त किया जाय इसके विवेचन के पूर्व जल के सम्बन्ध में काम आने वाले कुछ सामान्य पदों (Terms) का स्पष्टीकरण कर देना समुचित होगा। यह पद है —

स्वच्छ जल (Clear water) — वह जल जिसमें निलम्बित पदार्थ न हो।

दूषित जल (Polluted water) - वह जल जिसमें निलम्बित पदार्थ हों, जिसका स्वाभाविक रंग-रूप बदला हुआ हो. गदला गया हो, जिसमें बदबू आती हो और जिसका स्वाद भी रुचिकर न हो अर्थात् जिसकी भौतिक प्रकृति बदल गई हो।

संदूषित जल (Contaminated water)—वह जल जिसमें मानव या पशु मलमूत्र के सम्पर्क या मिश्रण से रोग-कीटाणुओं का संक्रमण Infection) हो गया हो या विषैले रासायनिक पदार्थों का मिश्रण हो गया हो जो बहुधा औद्योगिक उत्सर्जन के मिश्रण से हो जाया करता है। ऐसा जल रोग उत्पन्न करता है। यह आवश्यक नहीं है कि संदूषित जल दूषित हो ही। स्वच्छ जल भी संदूषित हो सकता है और कई बार दूषित जल भी संदूषित नहीं होता।

सुरक्षित एवं स्वास्थ्यकर जल (Safe and Wholesome Water)—वह जल जो स्वच्छ हो, दूषण या संदूषण रहित हो, गन्ध रहित हो, स्वादिष्ट हो, पौष्टिक हो, और स्वास्थ्य के लिये किसी भी रूप में हानिकारक न हो।

भूमिगत जल की प्राप्ति

भूमिगत जल हम कुओं या चश्मों से प्राप्त कर पाते हैं। कुएं मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं एक उथला या छिछला (*Shallow*) व दूसरा गभीर या गहरा (*Deep*)। गभीर कुओं की श्रेणी मे सामान्यतया खोदे गए कुंए, नलकूप (Tube-well) व उत्स्रुत कूप या आर्टीजियन (Artesian well) आते हैं। नल कूप छिछले भी हो सकते हैं पर हमें गहरे नल कूपों पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित करना है।

उथला कूआं—यह कूआं भूमि में प्रथम अप्रवेश्य तह के ऊपर तक ही खोदा जाता है अर्थात् प्रथम अप्रवेश्य तह को पार नहीं कर पाता। अतः इसमें अधोमृद् जल (Sub-Soil-water) ही आ पाता है। अधोमृद् जल मे सदूषण की सम्भावना सदा बनी ही रहती है। जब कुए का जल खीचा जाता है तो वह अपनी गहराई के चौगुने क्षेत्र से अपने अन्दर जल सोखता है। यह क्षेत्र उलटे शंकु (Cone) के आकार का होता है। शंकु का शिखर कुएं के पैंदे की ओर होता है (चित्र 4–3 a)। इसे निस्यन्दन शंकु (Cone of Filteration या Zone of Influence) कहते हैं।
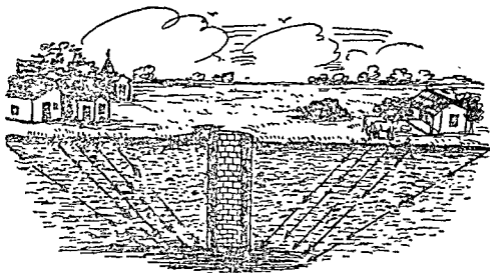
चित्र 4 3 (a) निस्यन्दन शंकु

यदि कुए की गहराई 25 ft. है तो यह निस्यन्दन शंकु क्षेत्र लगभग 100 ft. के घेरे का होगा। इस क्षेत्र मे भूतलीय दूषण, या भूमि मे कार्बनिक द्रव्यों के विघटन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला दूषण कुए के जल में आसानी से प्रवेश पा जाता है। अतः उथले कुए का जल सुरक्षित नहीं हो पाता। फिर भी यदि परिस्थितिवश इस कुएं के जल का प्रयोग करना ही पड़े तो इसे सुरक्षित बनाना होगा (चित्र 4 3 b)। इसके लिये यथासम्भव ऐसे कुए ऊंचे स्थान पर खोदे जायें जिससे धरातल का बाहरी पानी उसमें प्रवेश न पा सके। कुए के चारो ओर 5'–6' ऊंचा और इतने ही घेरे का

आर्टीजियन कूप (Artesian-well) कहते हैं। इनका आर्टीजियन नाम फ्रांस के तत्कालीन आर्टोआ प्रान्त पर से पड़ा जहाँ यह पहले पहल खोदे गये थे। बहुधा यह पहाड़ी घाटियों में खोदे जाते हैं। भारत में पांडुचेरी और बंगाल देश में सिलहट प्रान्त में ऐसे कूप खोदे जा सकते हैं। चश्मे या झरने भी इसी सिद्धान्त पर अपने आप ही भू-तल पर प्रवाहित होते रहते हैं। जब अप्रवेश्य तह स्वतः ही भूतल पर फटती हैं या भूतल से इनमें जल को किसी दरार से रास्ता मिलता है तो यह जल भूतल पर प्रवाहित होता रहता है। कुछ चश्मे ऐसे भी होते हैं जो थोड़े समय के लिये ही जल प्रवाहित कर पाते हैं; बाद में सूख जाते हैं। गंभीर चश्मे यदि ज्वालामुखीय क्षेत्रों में होते हैं तो उनका जल गरम होता है जैसे राजगीर (बिहार) का चश्मा। ऐसे चश्मों के जल में कई रासायनिक लवण भी अनुपात से अधिक मात्रा में घुले-मिले रहते हैं—इस जल से नहाने पर गठिया तथा कुछ चर्म रोगों के उपचार में लाभ होता है।

चित्र 4.5 भूमि परत विभिन्न कूप

1. उथला कुआं
2. गंभीर कुआं
3. आर्टीजियन कुआं

गहरे कुएं भी कभी-कभी भूमि में पड़ी हुई दरारों के द्वारा भूतलीय दूषण से दूषित हो सकते हैं अतः उनके रक्षण के लिये भी वैसी ही व्यवस्था करनी वांछनीय है जैसी उथले कुओं के लिये करनी होती है।

कुओं के क्लोरीनिकरण के लिये हमें उनमें विद्यमान जल का अनुमान लगाना होता है। इसके लिये हम निम्न सूत्र (Formula) का सहारा लेते हैं—

$D^2 \times W \times 5$ - Number of Gallons of water in the well.

इसमें D = Diameter–कुएं का व्यास फुट में

W = Depth — जल की गहराई फुट में, व [illegible]

5 = घटक

मान लीजिये कि अमुक कुएं का व्यास 6 फुट है और उसमे जल की गहराई 12 फुट, तो उसमे कुल जल $6^2 \times 12 \times 5 = 2160$ गैलन होगा।

क्लोरीनिकरण के सम्बन्ध मे चर्चा हम आगे चल कर करेंगे।

नलकूपः—नलकूप आजकल शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकता से प्रयोग मे लाये जा रहे हैं। गहरे नलकूप सामान्य गहरे कुओ से भी अधिक सुरक्षित होत हैं। नलकूप यदि पूर्ण सावधानी के साथ यथोचित ढग से खोदे जाये और उनके रख-रखाव की समुचित व्यवस्था की जाय तो यह सुरक्षित जल के सर्वोत्तम स्रोत बन जाते हैं। नलकूप विशिष्ट इस्पात के बने नलो का जमीन में धसा कर बनाये जाते हैं। नलों को एक के ऊपर एक कसते जाते हैं और जमीन मे तब तक धँसाते जाते हैं जब तक कि निचला सिरा जलस्तर तक न पहुँच जाय। प्रारम्भ के नल के नीचे नल धँसाने का विशेष यन्त्र लगा रहता है और इसी नल में कुछ ऊपर की ओर 4' से 6' लम्बाई की विशेष पीतल की बनी एक छलनी लगी होती है जिसमे होकर जल नल मे प्रवेश पाता है। यह जल छलनी के आस-पास की रेती से छनकर स्वतः ही निस्यन्दित होकर छलनी मे आता है। छलनी ऐसी बनी होती है कि उसमे रेती के कण प्रवेश नही पा सकते। नलकूप पर हैण्ड पम्प लगा होता है जिससे जल खींचा जा सके। नलकूप अलग-अलग साइज के नलों के बनाये जाते हैं जो 1" से 12" तक के व्यास के हो सकते हैं, पर अधिकांशतः यह 1" से $1\frac{1}{2}$ व्यास के ही काम मे लाये जाते हैं। नलो को जमीन में पैठाने के अलग-अलग तरीके हैं, पर उनके विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि पूर्ण सावधानी एवं दक्षता से पैठाये गये नलो से निर्मित नलकूप अत्यन्त ही सुरक्षित जल स्रोत बनते है और उनसे प्राप्त जल इतना सुरक्षित होता है कि उसके लिए अलग से कोई निस्यन्दन एवं क्लोरीनिकरण की आवश्यकता नही रहती। यह जल अधिकांश मे जीवाणु-रहित होता है—प्रति 100ml. मे एक भी बेसीलस कोलाई व स्ट्रेप्टोकॉकस फीकेलिस (Bacillus Coli & Streptococcus faecalis) नही होता। 1' से $1\frac{1}{2}$" का नलकूप प्रति घण्टा लगभग 200 से 300 गैलन जल प्राप्त करा पाता है और 12" का नलकूप 1,50 000 गैलन। नलकूप की गहराई अप्रवेश्य तहों की गहराई पर निर्भर करती हैं जो 100 से 1000 ft. तक की हो सकती है। आवश्यकता पड़ने पर अस्थायी जल-व्यवस्था के लिए कभी-कभी उथले नलकूप भी बनाये जाते हैं पर वे सुरक्षित नही होते। भूतल पर कूप का पक्का प्लेटफार्म बनाया जाता है और बिखरे जल के निकास की समुचित व्यवस्था की जाती है जिससे नलकूप के बाजू से होकर यह जल या अन्य गन्दगी भीतर प्रवेश न पा सके। नलकूप के बाजू पक्के सीमेंट ककरीट की रक्षण व्यवस्था कर दी जाती है। हैण्ड पम्प को

जल में मिश्रित अपद्रव्यता या अशुद्धियाँ (Impurities)

अपद्रव्यता

- निलम्बित (Suspended)
  - कार्बनिक (organic)
    - वनस्पति अवशेष
    - मानव मल (Sewage)
    - औद्योगिक अपशिष्ट (Industrial waste)
    - जीवाणु (Bacteria)
    - वाइरस (Virus)
    - प्रोटोजोआ (Protozoa) व उनके सिस्ट कृमि (Helminth) एवं उनके अण्डे या [illegible] आदि के
  - अकार्बनिक (Inorganic)
    - आइरन (iron)
    - सिलिका (Silica)
    - मिट्टी (clay)
    - गाद (silt)
    - कीचड़ (mud)
    - आदि
- विलीन (Dissolved)
  - ठोस (solids)
    - कार्बनिक: वनस्पति एवं जीवों (organisms) के विघटन पर उत्पन्न होने वाले विलीन कार्बनिक पदार्थ, जैसे एल्ब्रूमिनॉइड एमोनिया एवं नाइट्रेट्स आदि
    - अकार्बनिक: धात्विक पदार्थ एवं उनके लवण आदि- जैसे आइरन (iron), सीसा (lead), कॉपर (copper), जिन्क (zinc), कैल्शियम (ca), मेगनेशियम (Mg), बाई-कार्बोनेट्स, क्लोराइड्स, सल्फेट्स, ऑक्साइड्स आदि।
  - गैसीय (gases)
    - एमोनिया
    - कार्बनडाई-ऑक्साइड्स
    - हाइड्रोजन-सल्फाइड
    - क्लोरीन
    - फ्लोरीन
    - आदि

वाइरस उत्पादित रोग–पीलिया–संक्रामक यकृत-शोथ (Infective Hepatitis) व पोलियो-माइलाइटिस (Poliomyelitis) मुख्य है।

प्रोटोजोआ उत्पादित रोगों में अमीबी-पेचिश (Amoebic dysentery) व उससे उत्पन्न होने वाले उपद्रव्य हैं।

कृमि उत्पादित रोगों में राउन्ड-वर्म (Round-worm) थ्रेड-वर्म (Thread-worm) व नारू (Guinea-worm) मुख्य हैं।

पेय जल की गुणावस्था या उपयुक्तता (Quality of drinking water)

विश्व स्वास्थ्य संघ द्वारा निर्धारित मापदण्ड (Standard) 1971।

पेय जल स्वच्छ हो, निर्मल हो, गन्ध-रहित हो, निःस्वाद न हो और उसमें अपद्रव्यता निम्न सीमा से अधिक न हो। उसका Ph 7 व 8.5 के बीच हो।

अपद्रव्य	उच्चतम निर्धारित सीमा mg/Litre	
ठोस पदार्थों का सम्पूर्ण योग (Total Solids)	500	
सम्पूर्ण कठोरता (Total Hardness/2mEq/litre		mEq का अर्थ है milli Equivalent per litre $1mEq = 50mg\ CaCO_3$ in one litre of water
कैल्शियम (Ca)	75·00	
मैगनेशियम (Mg)	30 00	
सल्फेट्स (SO_4)	200.00	
क्लोराइड्स (Cl_2)	200.00	
आइरन (Fe)	0·10	
मैंगनीज (Mn)	0·05	
कॉपर (Cu)	0·05	
जिन्क (Zn)	5·0	
फीनोल पदार्थ (Phenolic-Substance)	0·001	
आर्सेनिक (विषैले पदार्थ)	0·05	
केडमिअम् (विषैले पदार्थ)	0 005	
सायनाइड (विषैले पदार्थ)	0·05	
सीसा (विषैले पदार्थ)	0·05	
पारा (विषैले पदार्थ)	0·001	

जीवाणुक मानदण्ड (Bacteriological Standard)–बेसीलस कोलाई B. coli प्रति 100 ml में एक भी नहीं होना चाहिये, और अन्य कोलीफार्म बेक्टीरिया 10 से अधिक नहीं होने चाहिये। अन्य कोलीफार्म बेक्टीरिया (Coliform Bacteria) जैसे (Bact. aerogenes and Bact. cloaca) आदि अधिकांश मिट्टी में पाये जाते हैं लेकिन B. coli, Streptococcus faecalis, व clostridium welchii मानव एवं पशु श्रेणी के प्राणियों की आंतों में रहते हैं पर सामान्यतया कोई रोग पैदा नहीं

स्थायी कठोरता —जल के उबालने पर भी जो कठोरता शेष रह जाती है वह स्थायी कठोरता होती है। यह Ca एवं Mg के सल्फेट्स व क्लोराइड्स के कारण होती है। इसके निष्कासन के लिए हम निम्न रसायनिक पदार्थों का प्रयोग करते हैं :

1. सोडियम कार्बोनेट–Na_2CO_3 (Soda ash) : इसके मिलाने पर कैलशियम व मैगनेशियम सल्फेट्स या क्लोराइड्स-कार्बोनेट्स में परिवर्तित होकर अविलेय हो जाते हैं।

$$\left.\begin{matrix}Ca\\Mg\end{matrix}\right| SO_4+Na_2CO_3=\begin{matrix}Ca\\Mg\end{matrix}\left| CO_3+Na_2SO_4\right.$$

$$\left.\begin{matrix}Ca\\Mg\end{matrix}\right| Cl_2+Na_2CO_3=\begin{matrix}Ca\\Mg\end{matrix}\left| CO_3+2NaCl,\right.$$
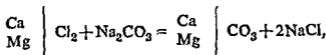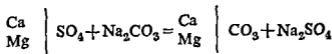
2. जियोलाइट (Zeolite)--सोडियम एल्यूमीनियम सिलिकेट–$10Na_2OAl_2O_3$ $10Sio_2$– यह प्राकृतिक रूप मे पाया जाने वाला रासायनिक पदार्थ है, लेकिन जब इसे सांश्लेषिक (Synthetic) रूप में तैयार किया जाता है तब इसे परम्युटिट (Permutit) नाम से पुकारते हैं ($Na_2Al_2Si_2O_8$)। परम्युटिट से दोनो प्रकार की कठोरता का निष्कासन किया जा सकता है। परम्युटिट को एक विशेष ढोलनुमा पात्र में भरा जाता है और इसमें से जल को छाना जाता है (चित्र 4·7)। इस विधि मे परम्युटिट का सोडियम, बाइकार्बोनेट्स सल्फेट्स व क्लोराइड्स के Ca व Mg का स्थान ले लेता है और Ca व Mg परम्युटिट के एल्यूमीनो सिलिकेट्स का, जिससे वह अविलेय पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है। इस विधि को बेस एक्सचेन्ज (Base Exchange) विधि कहते हैं। जब परम्यूटिट के सोडियम की मात्रा में कमी होने लगती है तो यह अतिरिक्त मात्रा में परम्युटिट में मिला दिया जाता है। इस विधि से जल की कठोरता के निष्कासन में जो प्रतिक्रिया होती है वह है :

$$Ca(HCO_3)_2+Na_2Z=CaZ+2NaHCO_3$$
$$Mg(HCO_3)_2+Na_2Z=MgZ+2NaHCO_3$$

अस्थायी कठोरता निष्कासन
Z = Zeolite or Permutit

$$CaSO_4+Na_2Z=CaZ+Na_2SO_4$$
$$MgSO_4+Na_2Z=MgZ+Na_2SO_4$$
$$CaCl_2+Na_2Z=CaZ+2NaCl$$
$$MgCl_2+Na_2Z=MgZ+2NaCl$$
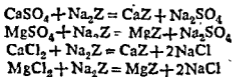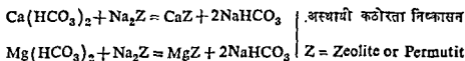
स्थायी कठोरता।

घड़े या सुराही आदि में भरकर स्वच्छ स्थान पर रखना वांछनीय होता है। कई बार जल में निलम्बित पदार्थ अधिक होने से वह इतना गँदला होता है कि कपड़े से छानने पर भी साफ नहीं होता। ऐसी स्थिति में एल्यूमिनियम सल्फेट (फिटकरी) 4gr. प्रति गैलन के हिसाब से या एल्युमीनो-फेरिक-सल्फेट (Alumino-Ferric-Sulphate) 1 gr. प्रति गैलन के हिसाब से....मिलाकर थोड़ी देर तक पड़ा रहने देना चाहिए जिससे अधिकांश निलम्बित पदार्थ नीचे पैठ जायेंगे। तब उसे कपडे से छान-कर उबाल लेना श्रेयस्कर होगा या फिर क्लोरीनिकरण से शुद्धकर लेना ठीक होगा। जल का आसवन (distillation) कर लेना भी अत्यन्त उपयोगी होता है पर सामान्यतया यह घरों में सम्भव नहीं हो पाता।

2. रासायनिक विसंक्रमण—क्लोरीनिकरण

क्लोरीनिकरण के लिए, छोटे पैमाने पर हम, ब्लिचिंग पाउडर ($CaOCl_2$) या क्लोरीन की बनी गोलियों का प्रयोग करते हैं। अच्छा ताजा ब्लिचिंग पाउडर हमे 33% क्लोरीन प्राप्त कराता है। आधा चाय का चम्मच ब्लीचिंग पाउडर, एक पाइन्ट शुद्ध जल में मिला कर अलग से घोल बना लेते हैं और इस घोल का एक चम्मच (चाय का) 10 गैलन पानी में मिला कर 2 घण्टे पड़ा रहने दिया जाता है। इससे जल शुद्ध एवं संदूषण-रहित हो जाता है। घोल मिलाने के पूर्व जल को कपड़े से या बर्कफैल्ड फिल्टर से छान लेना हितकर होता है।

क्लोरीन की बनी गोलियां अलग-अलग नामो से बाजार मे बिकती हैं, पर वे मँहगी होने के अतिरिक्त जल के गँदलेपन को दूर नहीं कर पाती, लेकिन सेन्ट्रल पब्लिक हेल्थ इन्स्टीट्यूट, नागपुर ने अभी हाल ही में ऐसी गोलियां तैयार की हैं जिनमें ब्लीचिंग पाउडर के अतिरिक्त एलम (Alum), सोडियम बाइ-कार्बोनेट और टैल्क (talc) मिला होता है जिससे जल का गँदलापन भी दूर हो जाता है और संदूषण भी। एक ग्राम भार की गोली 2 गैलन जल के लिये पर्याप्त होती है।

3. निस्यन्दन - घरेलू काम के लिये जल का निस्यन्दन हम विशेष प्रकार के बने निस्यन्दको (फिल्टर्स) से करते हैं। यह निस्यन्दकविशेष चीनी मिट्टी की नलिकाओं के बने होत हैं। एक या एक से अधिक नलिकाएं विशेष ढ़ोलनुमा पात्र मे लगायी जाती है जिनमें होकर जल छन कर ढोल के निर्धारित कक्ष में एकत्रित होता है जहां से उसमें लगे नलों द्वारा उसे उपयोग के लिये प्राप्त किया जाता है। यह छना हुआ जल निलम्बित पदार्थ रहित और कीटाणु-रहित होता है। समय-समय पर नलिकाओं की ब्रुश से सफाई करनी पड़ती है। इन निस्यन्दकों में निम्नलिखित अधिक प्रचलित हैं:—

उत्प्रेरक की इस प्रतिक्रिया को अल्पमात्रक-क्रियाशील-प्रतिक्रिया कहते हैं (Oligodynamic action)।
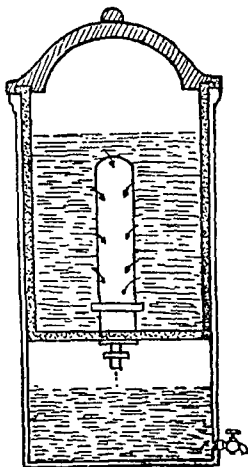
चित्र 4.9 बर्क फैल्ड फिल्टर

बड़े पैमाने पर जल स्वच्छीकरण एवं संदूषण निवारण

नगरीय जल प्रदाय योजना में हमें बड़े पैमाने पर स्वच्छ एवं सुरक्षित जल की व्यवस्था करनी होती है। यदि यह जल गभीर नलकूपों या कुओं से प्राप्य नही है और उसे नदी, झील या बांध आदि से प्राप्त करना होता है, तब उसके स्वच्छीकरण एवं क्लोरीनिकरण की समुचित व्यवस्था करनी होती है। इस दिशा मे हम सामान्यतया 3 उपाय काम में लाते हैं, जैसाकि ऊपर लिख आये हैं, अर्थात्

1. संग्रह (Storage)
2. निस्यन्दन (Filteration)
3. क्लोरीनिकरण (Chlorination)

जल पूर्णतया सुरक्षित होता है। इसमें 99 9% B. Coli नहीं पाये जाते अतः इसके क्लोरीनिकरण की आवश्यकता नहीं रहती (चित्र 4.10)
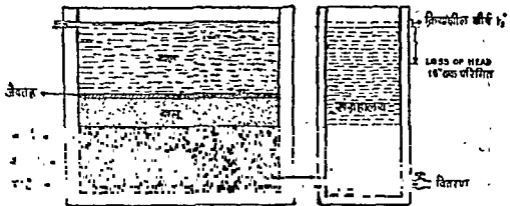
चित्र 4.10 मन्द बालू निस्यन्दक

इस फिल्टर में जल निस्यन्दन लगभग 2 गैलन प्रति वर्गफुट प्रति घण्टा या 50 गैलन प्रति वर्गफुट प्रतिदिन या 2 से 4 million gallons प्रति एकड़ प्रतिदिन होता है जबकि त्वरित बालू निस्यन्दक में 2 गैलन प्रति वर्गफुट प्रति मिनट या 120 गैलन प्रति वर्गफुट प्रति घण्टा या 200 million गैलन प्रति एकड़ प्रतिदिन होता है। इस फिल्टर मे जल-निस्यन्दन-दर को फिल्टर-जल-तल और सग्रहालय-जल-तल में प्रारम्भ में $\frac{1}{3}$" का अन्तर रख कर नियन्त्रित किया जाता है। इस अन्तर को क्रियाशील शीर्ष (Working Head) कहते हैं। ज्यो-ज्यो फिल्टर में जैव तह मोटी होती जाती है त्यों-त्यों जल निस्यन्दन की दर भी घटती जाती है, जिसे बनाये रखने के लिए क्रियाशील शीर्ष में वृद्धि करनी होती है। इस वृद्धि को Loss of Head कहते हैं। यह वृद्धि 18" से अधिक नही बढाई जाती। इस स्थिति पर पहुँच जाने पर फिल्टर की जैव तह को कुरेद कर साफ करना होता है और फिर से इस तह को बनाना होता है।

हालांकि यह फिल्टर अत्यन्त सफल सिद्ध हुआ है लेकिन इसके निर्माण मे अधिक स्थान की आवश्यकता होती है, निर्माण खर्च अधिक होता है, और जल-निस्यन्दन धीमी गति से होता है; जबकि त्वरित बालू निस्यन्दक मे अधिक स्थान की आवश्यकता नही होती, खर्च भी अनुपात में कम होता है और जल निस्यन्दन भी द्रुत गति से होता है, लेकिन यह निस्यन्दित जल पूर्ण रूप से कीटाणु रहित नहीं हो पाता, अतः इसका क्लोरीनिकरण करना अनिवार्य हो जाता है।

(b) त्वरित बालू निस्यन्दक

यह फिल्टर $\frac{1}{100}$ to $\frac{1}{10}$ एकड़ क्षेत्र में बनाया जाता है। इसके साथ भी खाद कुण्ड (Settling Tanks) बनाये जाते है; जिनमें जल को निर्धारित

हो जाता है। इस फिल्टर की कार्य-क्षमता को बनाये रखने के लिये क्रियाशील-शीर्ष 8' से 10' तक नियन्त्रित किया जा सकता है लेकिन इससे अधिक इसका क्षय (loss) नही होने दिया जाता। इसके बाद फिल्टर को साफ करना होता है जिसके लिये फिल्टर के नीचे के नल छिद्रों में दवावयुक्त वायु या फिल्टर किया हुआ पानी ही वापिस प्रवाहित किया जाता है जिससे वजरी एवं बालू पूर्ण रूप से घुलकर साफ हो जाय। इस प्रक्रिया में अधिक से अधिक आधा घण्टा लगता है। फिल्टर को पुनः काम में लेने के पूर्व बालू पर AL $(OH)_3$ की तह जमने दी जाती है।

क्लोरीनिकरण जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, इस फिल्टर से निस्यन्दित जल का क्लोरीनिकरण करना अनिवार्य होता है अतः इसमे क्लोरीन की उपयुक्त मात्रा
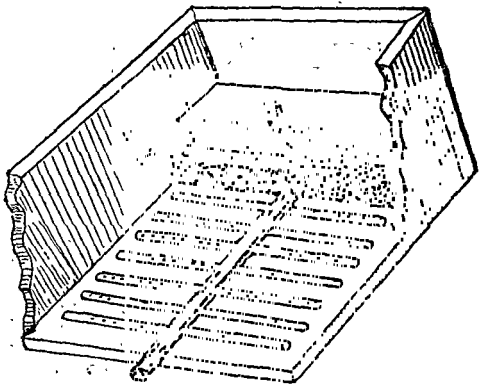
चित्र 4·11 (b) त्वरित बालू निस्यन्दक

मिलाई जाती है। इसके लिये ब्लीचिंग पाउडर, क्लोरीन गैस, क्लोरोमीन (chloromine) आदि काम में लाते है। फिल्टर बक्से पर अधिकांश सिलेन्डरो में भरे क्लोरीन गैस को ही काम में लाया जाता है। जल की क्लोरीन आवश्यकता (Chlorine Demand) का पता लगाकर वांछित मात्रा मे क्लोरीन मिलाया जा है। सामान्यतया निस्यन्दित जल मे 0·25 PPM क्लोरीन की आवश्यकता है जिससे ब्लीचिंग पाउडर की मात्रा में हम 10g. प्रति 1000 गैलन

से अंकित करते हैं । इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि जल में 0.2 PPM अवशिष्ट क्लोरीन (Residual Cl_2) लगभग आध घण्टे तक बना रहे, जिससे उसका इतने समय तक प्रभाव बना रहे और सभी रोग कीटाणु नष्ट हो सकें तथा जल वितरण के समय नलों मे यदि संदूषण की कोई सम्भावना हो तो उसका भी प्रतिकार हो सके । जलवाहक बीमारियों के फैलने की सम्भावना होने पर अतिरिक्त क्लोरीन मिलाया जाता है जिसे अति-क्लोरीनिकरण (Super Chlorination) कहते हैं । उस स्थिति में अतिरिक्त क्लोरीन की गन्ध को मिटाने के लिये सल्फर-डाई-ऑक्साइड का प्रयोग किया जाता है । क्लोरीनिकरण ठीक हुआ है या नहीं, इसकी जाँच के लिये जल के नमूने लिये जाते हैं—विशेषकर वितरण स्थलों से और उनका आॅर्थोटॉलू२डिन से परीक्षण करके (Orthotoluidine test) अवशिष्ट क्लोरीन की मात्रा का पता लगाया जाता है ।

जल-वितरण-व्यवस्था—वाटर-वर्क्स से जल नलों द्वारा वितरित किया जाता है जो घरों में व्यक्तिगत उपयोग के लिये और उपयुक्त स्थानों पर सार्वजनिक नलो द्वारा आम जनता के उपयोग के लिए पहुंचाया जाता है । इसके अतिरिक्त नागरिक कार्यों के लिये सड़क के किनारों पर हाइड्रेन्ट्स (Hydrants) लगाये जाते हैं जहाँ से शहर सफाई और आग बुझाने आदि के लिये जल प्राप्त किया जाता है । कई बड़े बड़े शहरों मे सार्वजनिक कार्यों के लिये अनिस्यन्दित एवं अक्लोरीनिकृत जल की आपूर्ति की जाती है, पर यह व्यवस्था जनस्वास्थ्य के लिये हानिकारक सिद्ध हो सकती है, क्योंकि कई लोग इस जल को पीने के काम में भी ले लेते हैं ।

घरों में जल संग्रह

वैसे तो यदि जल प्रदाय व्यवस्था ऐसी है कि घरों में जल निरन्तर नलों से प्राप्त होता रहे, तब तो उसे अलग से संगृहीत करके रखने की आवश्यकता न हो, पर गर्मी के दिनों में जल को ठण्डा करने के लिये उसे घड़े या सुराही मे रखना पड़ता है या फ्रिज मे रखने के लिये बोतलों में भरकर रखना होता है । यदि जल निरन्तर प्राप्त नही होता हो या कुछ ऐसे घर हों जहाँ नल न हों, तो वहां जल आवश्यकतानुसार घड़ों, मटकों, मूणो, बाल्टियो, भगोनों व टब आदि में भरकर रखना होता हैं और कहीं-कहीं तो मशकों मे भी । यदि यह पात्र स्वच्छ न हो, सुरक्षित स्थानों पर ढक कर न रक्खे गये हों, जल लेने के लिये गन्दे गिलास, मग आदि काम में लाये जाते हों तो जल दूषित होने का खतरा रहता है । ऐसी स्थिति में यदि आवश्यकता हो तो घरेलू तरीके पर जल का पुनः क्लोरीनिकरण कर लेना श्रेयस्कर होता है ।

कुओं, तालाबों आदि का क्लोरीनिकरण

कुओं, तालाबों, बावड़ियो या अन्य जल स्रोतों या संग्रहालयों के जल का क्लोरीनिकरण सामान्यतया हम ब्लीचिंग पाउडर ही से करते हैं । ब्लीचिंग पाउडर

10g प्रति हजार गैलन के हिसाब से मिलाते हैं बशर्ते कि ब्लीचिंग पाउडर ताजा हो, 33% क्लोरीन प्राप्त कराता हो और जल अत्यधिक दूषित न हो याने उसमें अधिक कार्बनिक पदार्थ निलम्बित अवस्था में न हों। यदि हो तो हमे इसकी मात्रा चौगुनी या उससे भी अधिक करनी होती है। कुएं के जल का अनुमान हम $D^2 \times W \times 5 = \text{Gallons}$ के सूत्र से लगा पाते हैं। वे तालाब, बावड़ी, हौज आदि जो समकोण या आयताकार होते हैं, उनके जल का अनुमान $L \times B \times D \times 6.25 =$ गैलन के हिसाब से लगाते हैं। जिसमें L = लम्बाई B = चौड़ाई व D = जल की गहराई फुट में नापते हैं। तत्पश्चात् यथोचित ब्लीचिंग पाउडर का घोल अलग से प्लास्टिक की बाल्टी में बनाकर कुएं आदि के जल में डालते हैं और बाल्टी ही से जल को ऊपर नीचे करके अच्छी तरह से मिला देते हैं। क्लोरीनिकरण अधिकांशतः रात्रि के समय करते हैं ताकि प्रातः तक उसका जल पर अच्छा असर हो जाय और क्लोरीन की गन्ध भी शेष न रहे। बड़े तालाबों में डालने के लिए ब्लीचिंग पाउडर को मलमल के कपड़े में बांध कर पोटली बना लेते हैं और इस पोटली को एक लम्बे बाँस के सिरे पर बांध कर तालाब के किनारे-किनारे लगभग 10'—12' की दूरी तक जल में घुमा देते हैं।

पोटाशियम-परमेंगनेट (P.P.) आजकल जल शुद्धि के लिये अधिकांशतः काम में नहीं लिया जाता। हालांकि यह अच्छा ऑक्सीकरण करता है और हैजे के रोग-कीटाणुओं को भी नष्ट कर देता है, लेकिन अन्य रोग-कीटाणुओं पर इसका कोई सन्तोषप्रद प्रभाव नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह जल में लाल रंगत भी पैदा करता है जिसे अधिकांश लोग पसन्द नहीं करते।

जल-दूषण—कारण एवं निवारण

एक ओर जहा हम बड़े पैमाने पर जल की व्यवस्था नदियों, झीलों, बड़े-बड़े बांधों, तालाबों आदि से करते हैं वहां दूसरी ओर हम इन्हीं जल-स्रोतों को विशेषकर नदियो के जल को, अविवेकपूर्ण ढंग से दूषित भी करते रहते हैं। वाहित मल (Sewage), मलिन-जल (Sullage), कूड़ा-करकट, अधजले-शव, पशु-शव, औद्योगिक संस्थानों के निरर्थक निस्राव या उच्छिष्ट पदार्थ इन्हीं जल-स्रोतों में बहाकर हम इनका भीषण दूषण करते रहते हैं।

वाहित-मल, मलिन-जल एवं कूड़े-कचरे में असंख्य रोग-कीटाणु होते हैं जिन्हें बिना किसी पूर्व उपचारण के यदि यों ही इन स्रोतों में बहा दिया जाय या कुओं, झरनों के निस्यन्दन शंकु-क्षेत्रों से बहा दिया जाय तो निस्सन्देह यह जल को संदूषित करते हैं।

औद्योगिक संस्थानों से निकलने वाले निरर्थक पदार्थ या निस्राव रासायनिक अवशेषों से भरपूर होते हैं। इनमें भाँति-भाँति के एसिड्स, क्षार (alkali), लवण (salts), तेल, चर्बी और अन्य विषैले पदार्थ होते हैं जो जल को दूषित एवं मलिन

5

स्वच्छ वातावरण–
कूड़ा–करकट–निष्कासन एवं निस्तारण

कूड़ा –करकट –निष्कासन एवं निस्तारण
(Refuse – Removal & Disposal)

कूडे-करकट मे हम उन सभी उच्छिष्ट पदार्थों (Waste Matter) का अङ्कन करते है जो घरो, गाँवों, शहरों व नगरों के झाड़न बुहारण के फलस्वरूप इकट्ठे होते हैं या निरर्थक होने के कारण फंक दिये जाते है और जिनका हटाया जाना जन-स्वास्थ्य की दृष्टि से अनिवार्य हो जाता है। कूड़े करकट का निष्कासन जितना अनिवार्य है उतना ही उसका यथोचित निस्तारण भी। यह कार्य-भार पंचायतो, नगरपालिकाओ व नगर परिषदों को वहन करना होता है।

कूड़ा-करकट जहाँ एक ओर गन्दगी फैलाता है, दुर्गन्ध पैदा करता है, मक्खियों के पैदा होने और चूहो के उत्पात मचाने का कारण बनता है, वहाँ दूसरी ओर रोग कीटाणुओ के प्रसार का कारण भी बनता है और प्रवाहिका, पेचिश, आंत्र-शोथ, हैजा, मोतीझरा, आँखों के रोग—विशेषकर नेत्र-श्लेष्मला-शोथ (Conjunctivitis), फोडे-फुन्सी व तपेदिक रोग फैलाता है।

कूड़ा-करकट में मुख्यतया निम्न प्रकार के उच्छिष्ट पदार्थों का समावेश होता है।

1. सूखे पदार्थ—जिन्हें हम कचरा (Rubbish) कहते है। यह घर, आँगन, चौक, गली, सड़क, बाजार, गोदाम, औद्योगिक संस्थान आदि से निकाला गया झाड़न बुहारन होता है जिसमे धूल, रद्दी कागज, कपड़े की कतरन या चिथडे, पैकिङ्ग पदार्थ–कागज कपड़े या प्लास्टिक के लपेटन व थैलियाँ; कार्डबोर्ड या टीन के डिब्बे आदि; टूटे कांच या चीनी के बरतन, छोटी-बडी शीशियाँ या बोतलें, बोतलों के ढक्कन, कार्क, राख व जले कोयले; सूखे घास पत्ते आदि होते हैं। यह कचरा लगभग प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष 1300 से 1600 lb के वजन का होता है जिसमें केवल राख व जले कोयले 1200 से 1500 lb तक हो जाते हैं। जहाँ चूल्हे के लिये गैस, बिजली या मिट्टी का तेल काम में लाया जाता है वहाँ स्वाभाविक है कि राख व कोयले की मात्रा अनुपात से कम ही होगी।

अपमार्जन

अपमार्जन मे सर्वप्रथम हमें कूड़े-कचरे को इकट्ठा करना होता है और तब उसे निस्तारण स्थलो पर ले जाकर उपयुक्त विधि से निस्तारित करना होता है। कूड़े-कचरे के संग्रहण में नागरिकों के सक्रिय सहयोग की आवश्यकता होती है। घरों, विभिन्न संस्थाओं एवं व्यावसायिक संस्थानों का कूडा-कचरा इधर-उधर गलियों, सड़को या कही भी उपलब्ध रिक्त स्थानो पर न फेंक कर निर्धारित स्थानों पर ही ढक्कनदार कचरा-पात्रों में एकत्रित करना होता है। यह कचरा-पात्र (Dust Bin) टीन के बने होते हैं जिनमें नीचे की ओर एक लीवर (Lever) लगा होता है। इसको पाँव से दबाने पर उसका ढक्कन स्वत- ही खुल जाता है। (चित्र 5.1) यह
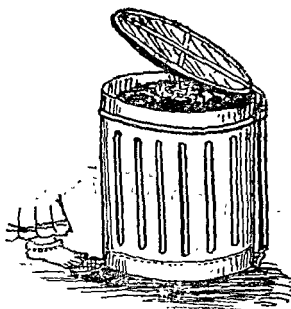
चित्र 5.1 कचरा पात्र

पात्र बाजार में बने बनाये मिलते है। यदि हर घर में इनका प्रयोग न हो पाये तो कम से कम किसी भी पुराने पीपे को काम में लाया जा सकता है और उसमे कचरा डालने के बाद उसे ढक कर रक्खा जा सकता है, जब तक कि उसकी सफाई न हो जाय। कचरा-पात्रो की सफाई हरिजन द्वारा करवा ही लेनी चाहिये। हरिजन इस कूड़े को नगरपालिका द्वारा जुटाये गये ढोलो (चित्र 5.2) या कचरा-कुण्डों (चित्र 5.3) में डालेगा। नगरपालिकाओं को स्थान-स्थान पर कचरा-ढोलों एवं कचरा-

कर्मचारी विशेष ठेलो (Wheel Barrows) (चित्र 5·4) में भरकर कचरा-ढोलों या कचरा-कुण्डों में डालते है या सीधे ही कचरा ढोने वाले वाहनों मे। ढोलों व कुण्डों का कचरा विशेष कचरा-वाहक-वाहनों में भरकर प्रतिदिन निस्तारण स्थल पर ले जाया जाता है। कचरा-ढोलों एवं कुण्डों का कूड़ा-कचरा यदि प्रतिदिन न हटाया जाय तो उसमें पूयन (Putrefaction) होने के कारण दुर्गन्ध पैदा होगी, मक्खियाँ भिनभिनायेंगी, अण्डे देंगी, पनपेंगी और जानवर व पक्षी भी इसे इधर-उधर बिखेरकर व्यर्थ की गन्दगी फैलायेंगे और कण्टक—घिनौनापन (nuisance) पैदा करेंगे।
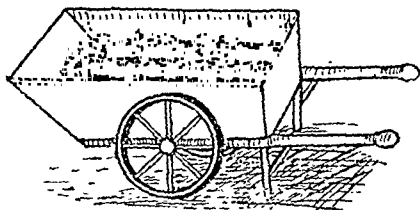
चित्र 5.4 कचरा हाथ ठेला

कूड़े-कचरे का निस्तारण (disposal)

गाँवों या बिखरी बस्तियों में जहाँ नगरपालिका सेवाएँ उपलब्ध नही है, कूड़े-कचरे का निस्तारण खाद के खड्डों में किया जा सकता है। यह खड्डे व्यक्तिगत घरों के बाड़ों में या सामूहिक रूप से गाँव के बाहर उपयुक्त स्थानों पर बनाये जा सकते हैं लेकिन सामूहिक खाद खड्डो के देख-रेख की जिम्मेदारी गांव वालों को पूर्ण चेष्टा से निभानी होती है। यह खड्डे आवश्यकतानुसार लम्बे और चौड़े बनाये जा सकते है पर इनकी गहराई 3 फुट से अधिक की नहीं होनी चाहिये। इनमे प्रथम तह कचरे की और उस पर कूड़े की तह जमाई जाती है जो 6:2 के अनुपात मे उपयुक्त होती है। कूड़े मे मवेशी मल भी सम्मिलित किया जाता है। प्रत्येक कचरे-कूड़े की तह जमाने के बाद उस पर 1" या 2" मिट्टी डाल देना श्रेयस्कर होता है। प्रतिदिन इस पर पानी का छिड़काव करना भी अत्यन्त आवश्यक होता है। जब खड्डा भर जाय तब 14वें, 30वें और 60वें दिन इसकी उथल-पुथल करना होता है। इसके बाद इसे एक माह तक वैसे ही पड़ा रहने, देना होता है, तब तक यह अच्छा खाद बन जायेगा जिसे खेतों में डाला जा सकता है। स्पष्ट है कि प्रतिदिन के कूड़े-कचरे के इस विधि से निस्तारित करने के लिए हमें 2 खड्डों की आवश्यकता होती है।

उद्यान, पार्क, खेत के मैदान एवं नगर-विकास के अन्य कार्यों में लाई जा सकती है। प्रारम्भिक खर्च पूर्व की विधि से कुछ अधिक होता है पर प्रतिफल अत्यन्त ही लाभकर होता है। इस विधि में वह सब शिकायतें भी नही होतीं जो पूर्व की विधि में दर्शायी गई हैं क्योंकि प्रत्येक तह को मिट्टी से ढक दिया जाता है। कभी-कभी इस विधि में दुवारा काम आने योग्य वस्तुओं की छंटनी भी कर ली जाती है जैसे टीन, बोतलें, लोहे की वस्तुएँ आदि जिन्हें बेच दिया जाता है। भूमि भराव स्थल जल-स्रोतों से—कुएँ, बावड़ी, तालाब, झरने आदि से कम से कम 300′ से 400′ की दूरी पर होने चाहिये।

(3) समुद्र में प्रवाहन—समुद्र-तट या समुद्र-तट के समीप अथवा नदियों के किनारे वसे शहरों या नगरों का कूड़ा-करकट नावों में भर-कर दूर समुद्र में वहा दिया जाता है लेकिन हवा के वहाव या ज्वार के साथ इसके वापिस किनारे पर आ जाने की सम्भावना बनी रहती है। इसके अनन्तर इसके बार-बार उठाये जाने पर अधिक खर्च भी होता है—पहले इसे इकट्ठा करके समुद्र या नदी तट पर लाया जाता है, फिर नावो मे भरा जाता है और अन्त में नावो पर से उठा कर समुद्र मे पटका जाता है, जिससे स्वाभाविक है कि मजदूरी खर्च अधिक होता है।

(4) **भस्मीकरण**—इस विधि में कूड़े-कचरे को जलाया जाता है और मानव एव पशु-मल भी साथ ही जला दिया जाता है: यह विधि एक ओर जहाँ स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर है—सब कुछ जलकर भस्म हो जाता है, केवल $\frac{1}{4}$ भाग ही अवशिष्ट के रूप मे शेष रह पाता है—वहाँ यह अधिक खर्चीली भी है। नगरपालिकाओं को भारी लागत के भस्मकारी सयन्त्र (Incinerators) बनवाने होते है और उनके रख-रखाव व दैनिक प्रयोग पर काफी खर्च करना पड़ता है। यदि कूड़े-कचरे मे स्वतः ही ईंधन-योग्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा में न हों तो अलग से ईंधन की व्यवस्था भी करनी होती है; लेकिन प्रतिलाभ कुछ भी नहीं होता—केवल अवशिष्ट राख ही प्राप्त हो पाती है जिसका अत्यन्त ही सीमित प्रयोग सड़क एवं भवन-निर्माण कार्य में चूने या सीमेन्ट आदि मे मिलाने में किया जा सकता है।

फिर भी जहाँ नियन्त्रित भूमि भरण के लिये उपयुक्त स्थान उपलब्ध न हो, सूखा कचरा अधिक होता हो, नगरपालिका के पास धन की कमी न हो, और खाद की अधिक मांग न हो वहाँ यह विधि अभिरुचि से अपनायी जाती है। अधिकाश पाश्चात्य औद्योगिक नगरों मे इसी विधि को काम में लाया जाता है। भारत में इसे अधिक प्रोत्साहन नही दिया गया क्योंकि महंगी होने के साथ-साथ हमारे यहां कूड़े-कचरे मे राख की मात्रा अनुपात से अधिक होती है जो जल नहीं पाती। इसलिये उसे छान-कर अलग करना होता है। ईंधन की भी अलग से व्यवस्था करनी होती है क्योंकि मानव एवं पशु मल भी जलाना होता है और अत्यन्त ही उपयोगी खाद, जो अन्य विधि से प्राप्त हो सकता है, प्राप्त हो नहीं पाता। फिर भी छोटे कस्बों के

लिये, मैलिक पदार्थों के लिये, लिफियों या मैलों आदि के लिये इसी विधि को काम में लाया जाता है। अस्पतालों में रक्त सने और रोग कीटाणुओं से दूषित कूड़े-करकट को भी इसी विधि से अस्पतालों के अन्दर ही भस्मकारी संयन्त्रों में जला दिया जाता है।

भस्मकारी संयन्त्र अलग-अलग आकार व प्रकार के पक्के सीमेंट कंकरीट के बनाये जाते हैं लेकिन छोटे पैमाने पर ईंट चूने के भी बना लिये जाते हैं। इनमें एक भट्टी होती है, कूड़ा-करकट जलने का कक्ष होता है, कक्ष पर चिमनी होती है, कक्ष में कूड़ा-करकट डालने का द्वार होता है, द्वार तक पहुँचने के लिये बाहर की ओर चबूतरा बना होता है, भट्टी में हवा प्रवेश का मार्ग होता है, कूड़े-करकट को कुरेदने के लिये भी मार्ग होते हैं जिसमें से लम्बे-लम्बे हत्थों वाले कुरेदनों से इसे कुरेदा जाता है, भट्टी व करकट-कक्ष से निकलने वाली राख के लिये नीचे की ओर अलग कक्ष होता है जिस पर एक द्वार होता है जिससे राख निकाली जा सके। (चित्र 5.5)।
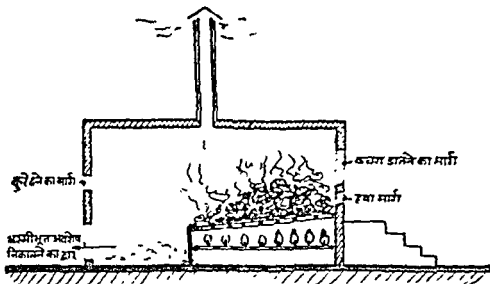
चित्र 5.5 भस्मकारी संयन्त्र

(5) कम्पोस्ट विधि–कम्पोस्ट विधि में मुख्यतया हम दो विधियों पर ही विचार करेंगे।(1) इन्दौर विधि और(5)बैंगलौर विधि। चूँकि इन विधियों पर प्रारम्भिक प्रयोगात्मक कार्य इन नगरों में किया गया था अतः इनका नाम क्रमशः इन्ही नगरों पर रख दिया गया है। दोनों ही विधियों में कूड़ा-करकट एवं मानव व पशु मल साथ निस्तारित किया जाता है। दोनों ही में जैव-क्रिया (Biological action) होती

है। इन्दौर विधि में अन्त तक ऑक्सीय जैव क्रिया (aerobic action) होती है किन्तु बैंगलोर विधि में प्रारम्भ में ऑक्सीय और बाद में अनॉक्सीय जैव (anaerobic) क्रिया होती है। इन्दौर विधि में जहाँ कम्पोस्ट को निर्धारित समय में उथल-पुथल करने की आवश्यकता होती है, वहां बैंगलोर विधि में इसकी आवश्यकता नहीं होती। दोनों ही विधियों से अच्छा खाद तैयार होता है। इन्दौर विधि में मजदूरी खर्च अधिक होता है।

इन्दौर विधि—शहर से यथोचित दूरी पर कम्पोस्ट स्थल बनाये जाते हैं जिन्हें अच्छी सड़कों से जोड़ा जाता है ताकि कचरा वाहन वहां तक आसानी से पहुंच सकें। इस स्थल पर आवश्यकतानुसार सुनिश्चित लम्बाई, चौड़ाई की कम्पोस्ट खाइयां बनाई जाती हैं। आम तौर पर इन खाइयों की लम्बाई-चौड़ाई व गहराई 30×14×2 फुट की होती है। आवश्यकता पड़ने पर गहराई 3' से 5' तक भी की जा सकती है। इन खाइयों में पहली तह कचरे की 4" मोटाई की बिछाई जाती है जिस पर 2" मोटी मल की तह बिछाई जाती है। फिर कचरे एवं मल की 2"–2" की तहें बारी-बारी से तब तक बिछाते जाते हैं जब तक कि खाई पूरी भर न जाय। सबसे ऊपर की तह कचरे ही की होती है। यह भराव लगभग 5 व 6 दिन में पूरा कर लिया जाता है। इस पर निर्धारित दिनों में पर्याप्त पानी का छिड़काव किया जाता है और निर्धारित दिनों में ही परावर्तन—उथल-पुथल किया जाता है, जिसका क्रम निम्नलिखित होता है। दसवें दिन तक पर्याप्त जीवाणु उत्पन्न हो जाते हैं जो कार्बनिक पदार्थों का सम्यक् विघटन करते हैं, और इसके फलस्वरूप इसका ताप 65° C से 70° C तक हो जाता है। इस ताप में लगभग सभी रोगजीवाणु नष्ट हो जाते हैं और मक्खियों के अण्डे व लारवा भी।

जल छिड़काव एवं परावर्तन क्रम :

और कुछ विनोनापन (nuisance) भी उत्पन्न होता ही है। अतः इसके स्थान पर अब बैंगलोर विधि को अधिकाधिक काम में लाया जाता है।

बैंगलोर विधि—इस विधि में कम्पोस्ट स्थल शहर से अधिक दूर बनाने की आवश्यकता नहीं होती—½ मील की दूरी पर ही बनाये जा सकते हैं क्योंकि इसमें दुर्गन्ध आदि फैलने की अधिक सम्भावना नहीं होती। कम्पोस्ट स्थल पर, प्रतिदिन एकत्रित होने वाले कूड़ाकरकट के समुचित विस्तार की मात्रा के अनुसार आवश्यक संख्या मे खाइयाँ खोदी जाती हैं जो 15 से 30 फुट लम्बी, 5 से 8 फुट चौड़ी और 3 फुट गहरी होती हैं। पहली तह कचरे की 6" मोटाई की बिछाई जाती है जिस पर मानव एवं पशुमल की 2" मोटी तह बिछाई जाती है। इसके बाद कचरे और मल की तहें क्रमशः 6" व 2" की बारी-बारी से, तब तक बिछाई जाती रहती हैं, जब तक कि खाई 1' की ऊँचाई तक न भर जाय। सबसे ऊपर तह 9" कचरे की होती है। खाई को भरने मे यदि एक से अधिक दिनों के कूड़े कचरे की आवश्यकता होती है तो प्रतिदिन की भराई के बाद 2" मिट्टी की तह जमा दी जाती है। अन्तिम भराई पर कूड़े कचरे को अच्छी तरह भिगो दिया जाता है और उस पर 2" से 3" मिट्टी की तह बिछाकर सम्पूर्ण खाई पर गारे का लेप करके उसे बन्द कर दिया जाता है। प्रथम 4 या 5 दिन तक ऑक्सीय जीवाणुओं की और उसके बाद अनॉक्सीय जीवाणुओं की क्रिया के फलस्वरूप सारा कूड़ा करकट विघटित हो जाता है। इसमें भी ताप 65° से 70°C तक का हो जाता है जिससे सभी रोग-कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और मक्खियों के अण्डे व लारवा भी। 4 से 6 माह तक खाई को उसी स्थिति मे बन्द रहने दिया जाता है और इस अवधि मे सारा कूड़ा करकट अच्छा खाद बन जाता है।

(6) पृथक्करण एवं किण्वन—कुछ पाश्चात्य देशों मे यह विधि अपनाई जाती है। कूड़े कचरे को निस्तारण स्थलों पर सर्वप्रथम बड़ी-बड़ी यांत्रिक छलनियों मे छाना जाता है जिससे राख, बालू आदि छन जाये। फिर इसे यान्त्रिक चालित पट्टो पर डाला जाता है जिस पर चलता हुआ यह कचरा उन कक्षो मे पहुँचता है जहाँ इसका मशीनी उपकरणो से मोटा चूरा किया जाता है और तब इसे किण्वन कक्षो में पहुँचाया जाता है। पट्टो के दोनों ओर व्यक्ति खड़े रहते हैं जो टीन, बोतल, लोहा या धातु की बनी वस्तुओ को छाट लेते हैं। किण्वन कक्षों मे विशेष विधि से इसका विघटन किया जाकर खाद बना दिया जाता है।

———

6

स्वच्छ वातावरण--
मानव-मल-निष्कासन एवं निस्तारण

मानव-मल-निष्कासन एवं निस्तारण
(Removal & dispos l of Human Excreta)

मानव-मल का निष्कासन एवं निस्तारण यदि समुचित ढंग से न हो तो इससे जन-स्वास्थ्य के लिए गम्भीर संकट पैदा हो जाता है । मानव-मल जहाँ एक ओर वातावरण को दूषित करता है, वहाँ दूसरी ओर अनेकानेक रोगों के प्रसार का कारण बनता है । मल भूमि को दूषित करता है, जल स्रोतो को संदूषित करता है, भोजन सामग्री को हमारी ही असावधानी व गन्दी आदतों से प्रत्यक्ष रूप में या मक्खियों द्वारा संदूषित (infect) करता है और अनेकानेक रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है

मल से टाइफॉइड, पेराटाइफॉइड, आंत्रशोथ, प्रवाहिका, पेचिश, हैजा, अंकुश कृमि (Hook worm), राउण्ड कृमि (Round worm), संक्रामी-यकृत्-शोथ (infective Hepatitis), पोलियो आदि बीमारियां फैलती हैं जिनसे जन स्वास्थ्य की क्षति होती हैं, मानव शक्ति का ह्रास होता है, उत्पादन में कमी, आर्थिक अवनति और मृत्युदर में वृद्धि होती हैं । भारत में इन्हीं बीमारियो से लगभग 5 करोड़ व्यक्ति प्रतिवर्ष आक्रान्त होते हैं और लगभग 50 लाख की मृत्यु होती है । केवल अंकुश कृमि ही से लगभग 4½ करोड़ और टाइफाइड से 2000 व्यक्ति प्रति 1,00,000 की आबादी पर बीमार होते हैं। स्पष्ट है कि इन बीमारियों का इस सीमा तक प्रसार होना मानव मल के यथोचित निस्तारण के अभाव के कारण ही है । भारत की 80% आबादी आज भी गाँवों मे बसती है जहाँ मानव-मल निस्तारण की कोई सम्यक् व्यवस्था नहीं है । शौचालय केवल 5% घरों में ही हैं। लोग खुले स्थानों पर शौच करते हैं पर वहाँ भी यदि वह खुरपी से थोड़ा सा खड्डा खोद कर उसी में शौच करें और उसे तुरन्त मिट्टी से भर दें तो समस्या का काफी हद तक समाधान हो सकता है । शहरी क्षेत्रों में भी शौचालय की व्यवस्था केवल 15 से 20% घरों में ही है । सार्वजनिक शौचलय जहां भी बनाये जाते हैं, रख-रखाव की व्यवस्था ठीक न होने से उनका यथोचित उपयोग हो नहीं पाता । अतः गाँवों मे जहाँ स्वतः साफ होने वाले स्वच्छ

शौचालयों के निर्माण के लिये लोगों को अधिकाधिक प्रेरित करना है वहां शहरी क्षेत्रों में भी, जहाँ जलवाह प्रणाली (Water Carriage System) नहीं है, ऐसे ही शौचालयों के निर्माण-कार्य को प्रोत्साहित करना है और इसके लिए वे सभी सुविधाएं उपलब्ध करानी हैं जो इस अभियान में सहायक हो सकें।

शौचालय

शौचालय कैसा हो इसका निर्णय इस बात पर निर्भर करता है कि अमुक स्थान पर मल निष्कासन की व्यवस्था कैसी है। यदि यह व्यवस्था मल वाहन (Conservancy) की है, अर्थात् मल हरिजनों द्वारा दस्ती ढ़ंग से हटाया जाता है तब तो हमें सर्विस शौचालयो की ही व्यवस्था करनी होती है लेकिन यदि यह व्यवस्था जलवाह प्रणाली की है तब उसी के अनुरूप सम्प्रवाही (Flush type) शौचालयों की व्यवस्था करनी होती है। लेकिन इनके बीच में स्वतः साफ होने वाले ऐसे शौचालय भी हैं जो स्थायी या अस्थायी रूप में ग्रामीण एव शहरी क्षेत्रो में कहीं भी सुभीते से बनाये जा सकते हैं और इन पर अधिक खर्च भी नही होता। वैसे इनका प्रचलन इन दिनो अपेक्षाकृत बढ रहा है।

शौचालयों का वर्गीकरण हम निम्न रूप से करते हैं—

1. अस्वच्छ शौचालय (Insanitary Latrines)
2. स्वच्छ शौचालय (Sanitary Latrines)

1. अस्वच्छ शौचालय—इनमे मुख्यतया सर्विस शौचालयों की गणना ही की जाती है, अर्थात् उन शौचालयो की जिनकी सफाई के लिए हरिजन सेवा की आवश्यकता होती है। ये शौचालय व्यक्तिगत गृह-शौचालय या सार्वजनिक शौचालय होते हैं। घरों में इन्हे ऐसे स्थान पर बनाया जाता है जहाँ हरिजन इन्हें बाहर ही से साफ कर सके। इनके मल-कक्ष में सफाई का द्वार होता है जिस पर टीन या लकड़ी की परदी पड़ी रहती है। मल-कक्ष में टीन या मिट्टी के बने पात्र होते हैं। टीन के मल पात्रो पर डामर का रोगन कर दिया जाता है जिससे उनमें जंग न लगे। मूत्र एवं प्रक्षालन जल को बहुधा अलग से सग्रहीत करने की व्यवस्था होती हैं। इसके लिए सीट एवं मल-कक्ष मे उचित ढ़लाव की नालियाँ बनी होती हैं जिनमे होकर जलीय भाग अलग से रखे ढोल में सग्रहीत होता है और इसे सफाई के समय खाली कर दिया जाता है। कही कहीं कमोड किस्म का शौचपात्र काम में लाया जाता है जिसे बहुधा स्नानागार या उसी के पास उपयुक्त स्थान पर स्थित किया जाता है जहाँ हरिजन के आने-जाने का मार्ग नियत करना होता है।

सर्विस शौचालय स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर नहीं होते। इन्हें प्रतिदिन बार-बार साफ करने की आवश्यकता होती है, जबकि हरिजनो की सेवाएं सीमित रूप ही में उपलब्ध हो

पाती है: और यदि कभी हरिजन हड़ताल कर दें या दैवी व्यवधात के कारण काम पर न आ सकें तब तो स्थिति और भी गम्भीर हो जाती है। सर्विस शौचालय अधिकांश में गन्दगी फैलाते हैं, चाक्षुप एवं घ्राण-अनुत्रास उत्पन्न करते हैं, बीमारियाँ फैलाते हैं, मक्खियों की उत्पत्ति करते हैं और इन्हीं के द्वारा खाद्य-सामग्री के संदूषण का कारण बनते हैं तथा भूमि एवं जल स्रोतों के दूषण एवं संदूषण का मुख्य कारण बनते हैं। अत: सर्विस शौचालय एवं मलवाहक-व्यवस्था स्वास्थ्यकर नहीं माने जाते।

फिर भी अधिकांश कस्बों में आज भी यह व्यवस्था प्रचलित है। सर्विस शौचालय से मल को हटाकर मलवाहक गाड़ियों या लॉरियों में भरा जाता है और निस्तारण स्थलों पर ले जाया जाता है, जहाँ इसे मलखातों-खाइयों (Trenches) में या भस्मकारी संयन्त्रों में निस्तारित किया जाता है या कम्पोस्ट बनाया जाता है। मलखात बनाने के लिये कस्बों से लगभग 2 या 3 मील की दूरी पर उपयुक्त स्थान पर भूमि का चयन किया जाता है जहाँ मल का निरन्तर निष्कासन किया जाता रहे। मलखात 20 से 30 फुट लम्बे, $1\frac{1}{2}$ फुट चौड़े और $1\frac{1}{2}$ फुट ही गहरे बनाये जाते हैं। मल को इनमें $\frac{1}{3}$ भाग तक भर कर मिट्टी से भर दिया जाता है। लगभग 3 माह की अवधि में ऑक्सीय जीवाणुओं की क्रिया के फलस्वरूप यह मल खाद बन जाता है। इस अवधि के बाद इस स्थल पर खेती की जा सकती है।

मलवाहक (Conservancy) व्यवस्था के अलाभ (disadvantages)

(i) मानव (हरिजन) द्वारा मल-वाहन सामाजिक व्यवस्था का कलंक है।

(ii) मकान मालिकों एवं नगरपालिकाओं को हरिजन सेवाओं और साज-सामानों पर नियमित रूप से अधिक खर्च करना पड़ता है। नगरपालिकाओं को गाड़ियों, गाड़ी चालकों, भैंसों लॉरियों, टंकियों व अन्य छोटे-मोटे पात्रों की व्यवस्था पर एवं उनके रख-रखाव पर काफी खर्च-वहन करना होता है।

(iii) मल वाहन की सारी व्यवस्था हरिजनों के सौहार्द्र पर ही निर्भर करती है; यदि हरिजन हड़ताल कर बैठें तो सारी व्यवस्था ठप्प हो जाती है।

(iv) दुर्गन्ध, भूमि एवं वायु-दूषण तथा जल एवं खाद्य-सामग्री-संदूषण की सम्भावना बनी ही रहती है।

(v) मलखातों के रख-रखाव की सावधानी से व्यवस्था करने पर भी मक्खियों के उत्पत्ति का उत्पात या खतरा बना ही रहता है, और

(vi) बड़े-बड़े शहरों व नगरों में यह व्यवस्था व्यावहारिक नहीं हो पाती।

अत: इस व्यवस्था के स्थान पर स्वच्छ एवं स्वत: ही साफ होने वाले शौचालयों तथा समुचित जलवाह-प्रणाली का प्रबन्ध करना ही श्रेयस्कर होता है।

2. स्वच्छ शौचालय—इन शौचालयों में मल सफाई के लिये मानव-सेवा की आवश्यकता नहीं होती। मल स्वतः ही स्वस्थान पर जीवाणु-प्रक्रिया से विघटित होकर अच्छा खाद बन जाता है या अवमल—स्लज (Sludge) बन जाता है जिसका समुचित निस्तारण कर दिया जाता है। जलवाह प्रणाली में मल, वाहितमल (Sewage के रूप में मलनलों (Sewers) द्वारा निस्तारण स्थलों तक ले जाया जाता है जहाँ वह विविध विधियों से निस्तारित किया जाता है। स्वच्छ शौचालयों में हम निम्न शौचालयों पर ही विचार करेंगे जो स्थायी या अस्थायी रूप से विभिन्न परिस्थितियों में ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में काम में लाये जा सकते हैं:—

स्थायी

(1) बोर होल (Bored Hole) शौचालय जिसे हम बेध शौचालय भी कह सकते हैं।
(2) गर्त शौचालय (Pit Latrine)
(3) गंभीर गर्त शौचालय (Dug well Latrine)
(4) जलीय शौचालय (Aqua Privy)
(5) सेप्टिक टैंक (Septic tank) शौचालय जिसे हम पूतिकुन्ड शौचालय भी कह सकते हैं, और
(6) गंभीर खात शौचालय (Deep Trench Latrine)

अस्थायी

(1) उथला खात (Shallow trench) शौचालय
(2) रासायनिक (Chemical) शौचालय

बोर होल शौचालय

यह शौचालय उन स्थानों पर बनाया जाता है जहाँ की भूमि पोली हो और जहाँ भूमिगत जल की सतह अधिक ऊँची न हो। अधिकाशतः यह ग्रामीण क्षेत्रों ही मे बनाया जाता है। एक विशेष बरमानुमा यन्त्र से, जिसे ऑगॅर (Auger) कहते हैं, भूमि में 16" व्यास का और 18 से 20 फुट गहराई का गड्ढा खोदा जाता है। यदि गड्ढे के ढहने की आशका हो तो उसमे बाँस पट्टियों का सस्तर लगा देते हैं। गड्ढे पर शौचपट्टी (Squatting Plate) सम्यक् रूप से स्थित कर दी जाती है। शौच-पट्टी लगभग अन्य सभी शौचालयों के लिये भी 3 फुट समकोण एवं 2" मोटाई की सीमेन्ट कंकरीट की बनी होती है और इसमें आगे से पीछे की ओर $\frac{1}{2}$" का ढलान होता है। इसमे शौचपात्र लगा होता है। शौचपात्र की लम्बाई 17" से 18" की होती है और चौडाई आगे की ओर 5" और पीछे की ओर 8" की होती है। जिस शौचालय में जल कुञ्जी (Water seal) की आवश्यकता होती है उसके शौचपात्र में नीचे की ओर 3" व्यास के मुड़े हुए नल की ट्रैप लगा दी जाती है। शौचपात्र-

छिद्र के दोनों ओर पायदान बने होते हैं (चित्र 6·1)। इस शौचालय में भी यदि शौचपात्र के नीचे जलकुञ्जी की व्यवस्था हो तो अच्छा रहता है अन्यथा बिना जल-कुञ्जी के ही इसकी नलिका को गड्ढे में सीधी ही खोले रक्खा जाता है। शौचालय का ऊपरी ढाँचा सुविधानुकूल इच्छानुसार बनाया जा सकता है। (चित्र 6·2)। गड्ढे में नमी की आवश्यकता होती है जो प्रक्षालन जल से मिलती रहती है। गड्ढे
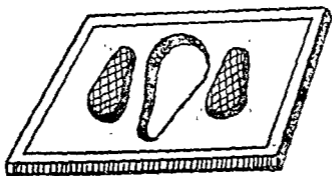
चित्र 6·1 शौचपट्टी

में अनॉक्सीय जैव-क्रिया के फलस्वरूप मल विघटित होता है और उसके कार्बनिक पदार्थ अकार्बनिक (inorganic) तत्वों में परिवर्तित हो जाते हैं। 5 या 6 व्यक्तियों के परिवार के लिये यह शौचालय लगभग 2 वर्ष तक अच्छा काम दे पाता है। इसके बाद गड्ढे को साफ करना होता है या फिर दूसरा गड्ढा खोदना होता है। इस शौचालय के लिये गड्ढा खोदने के लिये ऑगॅर की आवश्यकता होती है, और ऑगॅर को काम में लाने के लिये तकनीकी सहायता की, जो बहुधा समय पर मिल नहीं पाती। इसके अतिरिक्त, इसकी सविस क्षमता भी अधिक समय की नहीं होती, अतः इसका प्रयोग बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया है। इसके स्थान पर अन्य शौचालयों को अधिक अपनाये जाने की प्रवृत्ति रहती है।

गर्त शौचालय

इस शौचालय के लिये आयताकार 6'×4'×8' फीट का गड्ढा खोदा जाता है और बाँस पट्टियों या पत्थरों की सूखी चुनाई का संस्तर लगाया जाता है। शौचपट्टी जमाने के लिये आवश्यकतानुसार लकडी या पत्थर की पट्टियाँ जमा दी जाती हैं जिनकी स्थिरता के लिये आसपास मिट्टी का भराव करके लेप कर दिया जाता है। शौचपात्र के नीचे जलकुञ्जी लगी रहती है (चित्र 6·3)। गड्ढे के एक ओर पोले बाँस या पुराने पाइप की एक निकास-नली लगा दी जाती है जिससे उसमें उत्पन्न होने वाली गैस इसमें होकर ऊपर की ओर निकसित होती रहे। मल विघटन अनॉक्सीय जैव-क्रिया के फलस्वरूप होता है। 5 या 6 व्यक्तियों के परिवार के लिये यह शौचालय लगभग 5 या 6 वर्ष तक अच्छा काम दे पाता है। शौचपात्र की सफाई के लिये प्रक्षालन-जल ही पर्याप्त होता है, पर यदि आवश्यकता हो तो लगभग

जाता है। लगभग 9 माह तक इसे इसी हालत में पड़ा रहने दिया जाता है, तब तक इसमें उत्तम खाद बन जाता है और तब इसे खाली करके, दूसरे गड्ढे के भरने पर फिर से काम में लाया जाता है।

चित्र 6.3 गर्त शौचालय

चित्र 6·2 बोर होल शौचालय

1 लीटर अतिरिक्त जल से इसे सम्प्रवाहित (flush) कर देना उपयुक्त रहता है। जब गड्ढा इतना भर जाय कि ऊपर से लगभग 2′ या $2\frac{1}{2}$′ खाली रहे तब ऐसा ही दूसरा गड्ढा पास ही में खोदकर उस पर शौचपट्टी जमा दी जाती है और इसे मिट्टी से भर दिया

जाता है। लगभग 9 माह तक इसे इसी हालत में पड़ा रहने दिया जाता है, तब तक इसमें उत्तम खाद बन जाता है और तब इसे खाली करके, दूसरे गड्ढे के भरने पर फिर से काम में लाया जाता है।
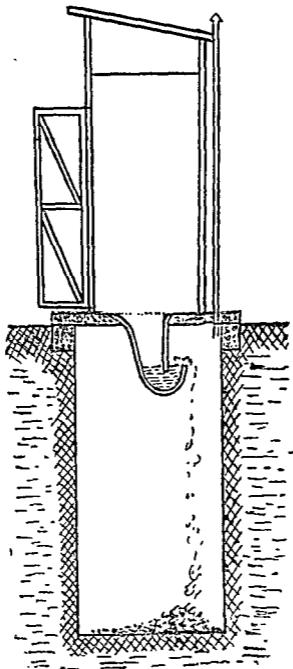
चित्र 6.3 गर्त शौचालय

इस शौचालय के निर्माण में ओवरसीयर की आवश्यकता नहीं होती। गड्ढा आसानी से खोदा जा सकता है। अधिक खर्च भी नहीं होता। शौचपात्र में जल-कुन्जी होने से मक्खियों का भीतर प्रवेश नहीं हो पाता और दुर्गन्ध भी नहीं आती। इसकी कार्य-क्षमता अवधि भी अधिक होती है।

गंभीर गर्त शौचालय

इस शौचालय के लिए लगभग 2½ या 3 फुट का गोलाकार गर्त (गड्ढा) लगभग 12 से 15 फुट गहराई का खोदा जाता है। धँसान के निराकरण के लिए इसमें भी बांस-पट्टियाँ या पत्थरों की सूखी चुनाई का संस्तर लगाया जाता है। इसके लिए शौचपट्टी, शौचपात्र, ट्रेप, ट्रेप में जल-कुन्जी, संयोजी नल आदि के लिए अलग-अलग डिजाइन एवं माप प्रस्तावित किये गये हैं, पर भारत सरकार के स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा प्रस्थापित रिसर्च कम् ऐक्शन (Research cum Action) प्रोजेक्ट्स के प्रस्तावित डिजाइन को अधिकांश में उपयुक्त समझा गया है। इसमें शौचपट्टी एवं शौचपात्र ठीक उसी डिजाइन एवं माप के हैं जो ऊपर वर्णित किये गये हैं। शौचपात्र के नीचे 3" व्यास की मुड़े नल की कुन्जी-ट्रेप होती है, जिसमें जल भरा रहता है। इसे जल-कुन्जी या जलवन्ध (Water seal) कहते हैं। यह जल कुन्जी लगभग ¾" या 1" की होती है (चित्र 6 4)। कुन्जी से जुड़ने वाला 3" व्यास का ही संयोजी नल (Connecting Pipe) होता है जो शौचालय गर्त में खुलता है। इस नल की लम्बाई कम से कम 3 फुट की प्रस्तावित की गई है। इस नल के प्रयोग के फलस्वरूप शौच-

चित्र 6 4 जल वन्ध

पट्टी व शौचपात्र शौचालय गर्त से यथोचित दूरी पर स्थित किये जाते है और उन पर इच्छानुसार ऊपरी ढांचा बनाकर शौचालय तैयार किया जाता है। (चित्र 6.5) शौचालय गर्त को ऊपर से सीमेंट ककरीट की पट्टी से अच्छी तरह बन्द कर दिया जाता है और इसमे से गैसीय तत्वो के निकास के लिए निकास पाइप लगाया जाता है जिसे मकान की छत से 3' ऊपर तक ले जाया जाता है। पाइप के ऊपरी सिरे

पर तारों की जाली लगा दी जाती है। शौचपात्र की सफाई के लिए एक या दो लिटर जल की आवश्यकता होती है। यह शौचालय एक परिवार के लिये, जिनमें 5 या 6

चित्र 6.5 गंभीर गर्त शौचालय

सदस्य हों, लगभग 8 से 10 वर्ष तक अच्छा काम देता है। गर्त भरने पर दूसरा गर्त पास ही में खोदा जा सकता है और संयोजी नल को उसमें खोल दिया जाता है। जब दूसरा गर्त भी भर जाय तो पहले को खाली करके पुनः काम में लाया जाता है।

उपर्युक्त किसी भी शौचालय मे विसंक्रामक दवाई (disinfectant) का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे जीवाणुओं को क्षति पहुँचती है और जो जैव-क्रिया होती है उनमे व्यर्थ का अवरोध उत्पन्न होता है। यदि कदाचित कभी कुछ दुर्गन्ध आये तो केवल शौचपात्र में अधिक जल प्रवाहित कर देना ही उचित होता है।

जलीय शौचालय

इस शौचालय के लिए उपयुक्त स्थान पर सीमेंट कंकरीट का पक्का हौज 6 फुट लम्बा, 4 फुट चौड़ा और 4 फुट ही गहरा बनवाया जाता है और उसे सीमेंट कंकरीट की पट्टी से सम्यक्तया बन्द कर दिया जाता है—केवल एक छोर पर शौच-पट्टी एवं शौचपात्र स्थित करने के लिए एक छिद्र रखा जाता है और दूसरी ओर निरीक्षण एवं

इस शौचालय के निर्माण में ओवरसियर की आवश्यकता नहीं होती। गड्ढा आसानी से खोदा जा सकता है। अधिक खर्च भी नहीं होता। शौचपात्र में जल-कुञ्जी होने से मक्खियों का भीतर प्रवेश नहीं हो पाता और दुर्गन्ध भी नहीं आती। इसकी कार्यक्षमता अवधि भी अधिक होती है।

गंभीर गर्त शौचालय

इस शौचालय के लिए लगभग 2½ या 3 फुट का गोलाकार गर्त (गड्ढा) लगभग 12 से 15 फुट गहराई का खोदा जाता है। धँसान के निराकरण के लिए इसमें भी बांस-पट्टियों या पत्थरों की सूखी चुनाई का सहारा लगाया जाता है। इसके लिए शौचपट्टी, शौचपात्र, ट्रैप, ट्रैप में जल-कुञ्जी, गंदोजी नल आदि के लिए अलग-अलग डिजाइन एवं माप प्रस्तावित किये गये हैं, पर भारत सरकार के स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा प्रस्थापित रिसर्च कम् ऐक्शन (Research cum Action) प्रोजेक्ट्स के प्रस्तावित डिजाइन को अधिकांश में उपयुक्त समझा गया है। इसमें शौचपट्टी एवं शौचपात्र ठीक उसी डिजाइन एवं माप के हैं जो ऊपर वर्णित किये गये हैं। शौचपात्र के नीचे 3" व्यास की मुड़े नल की कुञ्जी-ट्रैप होती है, जिसमें जल भरा रहता है। इसे जल-कुञ्जी या जलबन्ध (Water seal) कहते हैं। यह जल कुञ्जी लगभग ¾" या 1" की होती है (चित्र 6 4)। कुञ्जी से जुड़ने वाला 3" व्यास का ही गंदोजी नल (Connecting Pipe) होता है जो शौचालय गर्त में घुसता है। इस नल की लम्बाई कम से कम 3 फुट की प्रस्तावित की गई है। इस नल के प्रयोग के फलस्वरूप शौच-

चित्र 6 4 जल बन्ध
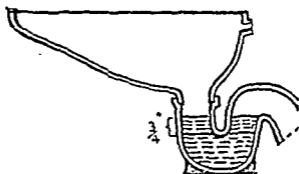
पट्टी व शौचपात्र शौचालय गर्त से यथोचित दूरी पर स्थित किये जाते हैं और उन पर इच्छानुसार ऊपरी ढांचा बनाकर शौचालय तैयार किया जाता है। (चित्र6.5) शौचालय गर्त को ऊपर से सीमेंट कंकरीट की पट्टी से अच्छी तरह बन्द कर दिया जाता है और इसमें से गैसीय तत्वों के निकास के लिए निकास पाइप लगाया जाता है जिसे मकान की छत से 3' ऊपर तक ले जाया जाता है। पाइप के ऊपरी सिरे

पर तारों की जाली लगा दी जाती है। शौचपात्र की सफ़ाई के लिए एक या दो लिटर जल की आवश्यकता होती है। यह शौचालय एक परिवार के लिये, जिनमें 5 या 6

चित्र 6.5 गभीर गर्त शौचालय

सदस्य हों, लगभग 8 से 10 वर्ष तक अच्छा काम देता है। गर्त भरने पर दूसरा गर्त पास ही मे खोदा जा सकता है और संयोजी नल को उसमें खोल दिया जाता है। जब दूसरा गर्त भी भर जाय तो पहले को खाली करके पुनः काम में लाया जाता है।

उपर्युक्त किसी भी शौचालय मे विसंक्रामक दवाई (disinfectant) का प्रयोग नही करना चाहिये क्योंकि इससे जीवाणुओं को क्षति पहुँचती है और जो जैव-क्रिया होती है उनमें व्यर्थ का अवरोध उत्पन्न होता है। यदि कदाचित कभी कुछ दुर्गन्ध आये तो केवल शौचपात्र में अधिक जल प्रवाहित कर देना ही उचित होता है।

जलीय शौचालय

इस शोचालय के लिए उपयुक्त स्थान पर सीमेंट कंकरीट का पक्का होज 6 फुट लम्बा, 4 फुट चौड़ा और 4 फुट ही गहरा बनवाया जाता है और उसे सीमेंट कंकरीट की पट्टी से सम्यक्तया बन्द कर दिया जाता है—केवल एक छोर पर शौच-पट्टी एवं शोचपात्र स्थित करने के लिए एक छिद्र रक्खा जाता है और दूसरी ओर निरीक्षण एवं

है। ऐसा शौचालय जहाँ जल की कमी न हो, वहां काम मे लाया जाता है। यह एक परिवार के लिये लगभग 6 वर्ष तक अच्छा काम देता है। इसके बाद इसकी सफाई करानी पड़ती है। चूँकि हौज का जल एवं उसमें बना स्लज दूषित होता है अतः इसका निस्तारण मलखातों में करना ही उपयुक्त होता है।

सैप्टिक टैंक—पूति-कुण्ड—चित्र (6 7)

सेप्टिक टैंक एक या एक से अधिक शौचालयों के लिये बनाये जाते हैं, जिनमे भी ठीक वही जैव-क्रिया होती है जो जलीय शौचालयों मे होती है। सेप्टिक टैंक मे नहाने-धोने का जल भी बहाया जा सकता है। सेप्टिक टैंक एक ही घर के लिये या कुछ घरो के समूह के लिये बनाया जाता है। शौचालयों से मल संयोजी नलों द्वारा गृह-निकास-नाली (House drain) मे होकर इसमें पहुँचाया जाता है। घरो मे शौचालय, ट्रंप, सयोजी नल, सॉएल पाइप, सम्प्रवाहक कुण्ड आदि की ठीक वैसी ही व्यवस्था करनी होती है जो जलवाह प्रणाली (Water Carriage System) मे करनी होती है और जिसका संक्षिप्त वर्णन हम यथास्थान करेंगे।

सेप्टिक टैंक की धारिता (Capacity) शौचालयों की संख्या पर निर्भर करेगी, लेकिन सामान्यतया एक ही घर के 2 या 3 शौचालयों के लिये इसे 500 गैलन की धारिता का बनाना होता है। इसकी गहराई 6 फुट की होती है और लम्बाई, चौडाई से दुगुनी, हालाँकि तिगुनी या चौगुनी भी हो सकती है। इसमें जल लगभग *4 या 5 फुट तक भरना होता है और शेष स्थान गैसीय तत्वों के संग्रहीत होने के* लिए रिक्त रखना होता है। टैंक के 2 भाग किये जाते हैं–पहला ग्रिट कक्ष (Grit chamber) जो समूचे कुण्ड का $\frac{1}{8}$" भाग होता है और दूसरा उपचारण कक्ष (Digestion chamber)। इन दोनों के बीच मे एक पतली दीवार होती है जिसमें कुण्ड की तह से लगभग 1 फुट ऊपर 12" से 18" का गोलाकार छिद्र होता है। उपचारण कक्ष का पैंदा मध्य स्थल की ओर ढालू होता है जहाँ स्लज जमा हो सके। सम्पूर्ण कुण्ड को ऊपर से ढक दिया जाता है और ग्रिट कक्ष एव उपचारण कक्ष पर प्रवेश-द्वार (man holes) रक्खे जाते है। इन पर गैस-निकास–पाइप भी लगाये जाते है जिनसे गैस ऊपर की ओर निकसित होते रहे। वाहित मल (Sewage) का प्रवेश-मार्ग ग्रिट कक्ष मे जल-सतह के नीचे होता है। वाहित मल जब ग्रिट कक्ष मे आता है तो उसके साथ आये रोड़ी, ककर, चिथड़े और अत्यन्त ही सख्त मल के अंश नीचे पैठ जाते है और जलीय मिश्रण उपचारण कक्ष मे पहुँचता है जहाँ वह 24 घण्टे के अन्दर अनॉक्सीय जैवी-क्रिया के फलस्वरूप विघटित हो जाता है और जल-सतह पर मलफेन की तह जमने लगती है जिसे ज्यो का त्यो बनाये रखना होता है ताकि अनॉक्सीय जैव-प्रक्रिया सक्रियता से होती रहे। विघटन के फलस्वरूप सभी कार्बनिक कोलायडीय पदार्थ (organic Colloidal matters),

क्रिस्टलीय (Crystalloid) पदार्थ में परिवर्तित हो जाते हैं और जो गैसीय तत्व पैदा होते हैं—जिसमें मुख्यतया मीथेन–NH_4, CO, CO_2, NH_3 व H_2S होते हैं—वे कुण्ड के ऊपरी रिक्त स्थान मे संग्रहीत होते हैं और निकास नलो द्वारा बाहर निकसित होते रहते हैं।

उपचारण कुण्ड से मल-निस्राव (Effluent) को निकालने के लिये निकास मार्ग मलफेन स्तर से नीचे को होता है (जैसा कि चित्र 6·7 में दिखाया गया है) जहाँ इसका निकास किया जाता है। मल-निस्राव वैसे काफी साफ और दुर्गन्ध-रहित
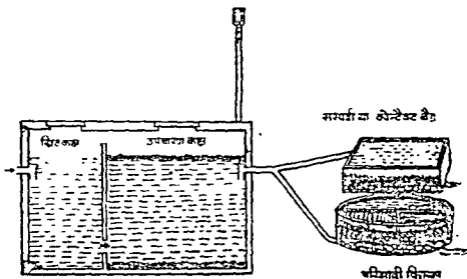
चित्र 6·7 सेप्टिक टेन्क

होता है पर इसमें नाइट्रोजन की मात्रा-एमोनिया (NH_3) के रूप में अधिक होती है और कुछ कीटाणु एव कृमि अण्डे आदि भी होते है जिनसे निपटने के लिये इसे जैव प्रक्रिया द्वारा और अधिक साफ करना होता है ताकि NH_3 नाइट्रेटस में परिवर्तित हो सकें और रोग-कीटाणु भी नष्ट हो सकें। इसके लिए इसे कोन्टेक्ट बेड्स (Contact Beds); परिस्रावी फिल्टर्स (Percolating filters) या सिंचाई नालियों में बहाना होता है—इस सम्बन्ध मे विशेष वृत्त जलवाह प्रणाली के साथ दिया जायेगा। इसके बाद इसे समुद्र, नदी या खेतो मे बहा दिया जाता है। नदी मे बहाने के पूर्व, सुरक्षात्मक दृष्टि से, इसमें 5gr प्रति गैलन के हिसाब से ब्लोचिंग पांउडर मिला देना श्रेयस्कर होता है।

स्लज को मलखातो में निस्तारित किया जाता है। साधारण साइज के सेप्टिक कुण्डों से स्लज कई वर्षों के अन्तर से निकालना होता है, पर बड़े साइज के कुण्डों से वर्ष में एक या दो बार।

गभीर खात शौचालय

गाँवों, सैनिक पड़ावों या लम्बे समय के विविध शिविरों के लिये सार्वजनिक शौचालय प्रायः इसी ढंग के बनाये जाते हैं। इसके लिये उपयुक्त स्थानों पर 6 फुट गहरी, 2 फुट चौड़ी और आवश्यकतानुसार लम्बाई की खाइयां खोदी जाती हैं। प्रत्येक सीट के लिये कम से कम 3 फुट की जगह रखनी होती है, अतः यदि 10 सीटों का शौचालय बनाना हो तो लम्बाई लगभग 30 फुट की रखनी होती है। खाइयों पर लकड़ी की वल्लियों या तख्तियों का ऐसा ढाँचा स्थित किया जाता है कि उस पर बैठने की सीटें बन सकें और परदे के लिये ओट भी बनायी जा सके (चित्र 6·8) प्रत्येक सीट–छिद्र पर लकड़ी की तख्ती का ऐसा ढक्कन लगाया जाता है जो खोला और बन्द किया जा सके। खाई की भीतरी दीवारों पर ढाँचे से दबी
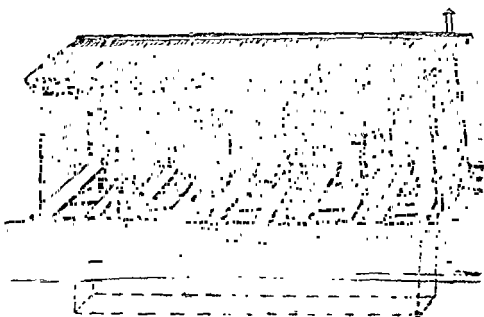
चित्र 6 8 गभीर खात शौचालय

टाटपट्टी किसी मोटे तेल में भिगो कर लटका दी जाती है जिससे मक्खियों के लारवा दीवारों के सहारे ऊपर आने के प्रयास में इनमें उलझ कर दम घुट कर मरते रहें। प्रत्येक सीट पर किसी पात्र में बालू मिट्टी रखी जाती है ताकि शौच के बाद खाई में थोड़ी–सी मिट्टी डाल दी जाय। इसमें भी अनॉक्सीय जैव प्रक्रिया होती है। जब खाई जमीन की सतह से 2 फुट नीचे तक भर जाय तब ऐसी दूसरी खाई पर शौचालय बनाना होता है और काम आई खाई को मिट्टी से भर कर बन्द कर देना होता

है। यह शौचालय लगभग 2 वर्ष तक सन्तोषप्रद काम देता है। बन्द की गई खाई को 6 माह के बाद खोद कर उसमें बने खाद को निकाल लिया जाता है।

अस्थायी शौचालय

उथला खात शौचालय

मेलों, तीज-त्योहारों या ऐसे ही थोड़े समय के जन-जमाव के लिये उथले खात शौचालयों का प्रयोग किया जा सकता है। इसके निर्माण में 8" से 10" चौड़ी और 1 से $1\frac{1}{2}$ फुट गहरी और आवश्यकतानुसार लम्बी खाइयाँ खोदी जाती हैं जिन पर बैठने की सीटें एवं ओट के लिये परदी लगा दी जाती है। शौच फिरने के बाद मिट्टी डालना आवश्यक होता है। खाई का $\frac{3}{4}$ भाग भर जाने पर इसे मिट्टी से भर दिया जाता है और आवश्यकतानुसार दूसरी खाइयाँ खोद दी जाती हैं।

रासायनिक कमोड शौचालय — (चित्र 6 9)

रासायनिक कमोड का प्रयोग अधिकांश नाव-घर, मोटरघर (Caravan), सैलानी कुटी, हवाई जहाज आदि में किया जाता है। कमोड के नीचे लोहे की एक टंकी होती है जिसमें कास्टिक सोडे और फिनोल का घोल भर दिया जाता है। मल इस घोल में पूर्ण रूप से द्रवित होकर कीटाणुरहित हो जाता है। रासायनिक कमोड के प्रयोग में प्रक्षालन के लिये जल का प्रयोग नहीं किया जाता क्योंकि इसमें रासायनिक घोल की
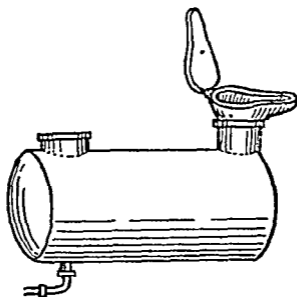
चित्र 6 9 रासायनिक कमोड

शक्ति क्षीण हो जाती है, अतः केवल टॉयलेट पेपर (Tiolet Paper) ही काम में लाया जाता है। जब कमोड की टंकी भर जाती है तो उसे खाली करके मल निस्राव को जहा मल-नल (Sewers) होते हैं उनमें, अन्यथा भूमि में, वहा दिया जाता है।

जहां जलवाह प्रणाली है वहाँ घरों से गन्दे पानी का निकास तो मल-नलों से ही किया जाता है, लेकिन जहाँ यह व्यवस्था नहीं होती या नगरपालिकाओं द्वारा समुचित ढलान की पक्की नालियों की भी व्यवस्था नही होती, वहां यह गन्दा पानी अधिकाशतः घरों के बाहर गलियों व सडको पर ही वहा दिया जाता है जिससे भारी कीचड़ और दलदल बन जाता है, गन्दगी फैलती है, दुर्गन्ध आती है और क्यूलेक्स (culex) मच्छरों की उत्पत्ति होती है। अतः जहाँ इनके निकास की कोई समुचित व्यवस्था न हो वहाँ कम से कम मकान मालिकों को अपने घरों के आस-पास उचित स्थान पर सोख्ते गड्ढे बनवाकर उन्ही में इसके निकास की व्यवस्था करनी चाहिये। सोख्ते गड्ढे कम से कम 4×4×4 फुट के बनाये जायें जिनमें नीचे से ऊपर की ओर ईंटो या पत्थरों के टुकडे, रोडी, ककरीट, बालू मिट्टी बिछाई जाय। यह गड्ढा जब जल सोखने योग्य न रहे तो दूसरा बनवाया जाय और बारी-बारी से इन्हें काम मे लाया जाय।

जल-प्रवाह प्रणाली (Water Carraig System)

इस प्रणाली में वाहित-मल (Sewage) जिसमें मलिन जल (Sullage) एवं बरसाती जल भी होता है, एक साथ ही निष्कासित किया जाता है।

वाहित मल मे घरों, व्यावसायिक स्थानों, औद्योगिक संस्थानों, गोशालाओं घुडशालाओं आदि का मलमूत्र एवं मलिन जल होता है और बरसाती जल भी। मलिन जल वह है जिसमें इन्हीं स्थानों का केवल नहाने-धोने का व रसोई-घर आदि का धोवन-धावन का गन्दा जल होता है—उसमें मलमूत्र नहीं होता।

इस प्रणाली के संस्थापन में, हालांकि प्रारम्भिक खर्च अधिक होता है, पर अन्ततोगत्वा यह प्रणाली सस्ती और अत्यन्त ही स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर सिद्ध होती है।

इस प्रणाली में निम्न साज-सामान एवं संयन्त्रों की आवश्यकता होती है—

1. घरों में—शौचालय, शौचकूप, शौचपात्र, पात्र से लगने वाली ट्रैप, संयोजी-पाइप, एन्टी-साइफन-पाइप (anti-Siphon-pipe), सॉयल-पाइप (Soil pipe), सम्प्रवाहक-टंकी (Flushing cistern), गृह-निकास नाली (House drain), व विच्छेदक ट्रैप (Intercepting trap) आदि। स्नानागार में स्नानस्थल, टब, हाथ मुँह धोने के लिए (Wash hand basin) व रसोई-घर आदि में बरतन धोने के [illegible] लगने वाली ट्रैप्स, [illegible] जल-प्रवाह नल (Waste water [illegible]) और गलि ट्रैप्स (Gully traps) आदि होते हैं।

2. सड़कों के किनारे नगरपालिकाओं की ओर से मलनल, विच्छेदक ट्रैप्स, मैनहोल (man-hole), निरीक्षण कक्ष व माइका वाल्व (MicaValve) आदि।

3. निस्तारण स्थल पर वाहितमल निस्तारण संयन्त्र।

घरों मे एक या एक से अधिक मञ्जिल पर निर्मित शौचालयों के शौचपात्रों को यथोचित ट्रैप से संयोजी नलो के साथ जोड़ा जाता है। संयोजी नल सॉयल पाइप मे खुलते हैं। सॉयल पाइप लोहे या चाइना क्ले का बना होता है जिसका व्यास 4" का होता है और इसे घर के बाहरी दीवार पर स्थित कर दिया जाता है। इसका निचला सिरा सीधा ही (बिना किसी ट्रैप के) गृह-निकास-नाली में खुलता है और ऊपरी सिरा छत से 5 या 6 फुट ऊपर को खुला रहता है जिस पर तारों की जाली का रक्षण लगा रहता है। इस सिरे से गृह-निकास-नाली मे पैदा होने वाले गैस ऊपर को निकसित होते रहते हैं। शौचपात्रों को सम्प्रवाहित (Flush) करने के लिये सम्प्रवाहन कुण्ड लगभग 6 या 7 फुट की ऊँचाई पर स्थित किये जाते हैं। इनकी धारण क्षमता लगभग 3 गैलन की होती है क्योंकि प्रत्येक सम्प्रवाहन मे इतने ही जल की आवश्यकता होती है। इन कुण्डो से जल बहाने के लिये जंजीर लगी रहती है। ऊपरी मञ्जिल के शौचपात्रो का सम्प्रवाहन निचली मञ्जिल के शौचपात्रो की जल कुञ्जी को अपने प्रवाह-वेग के कारण निष्कासित कर सकता है अतः इसके बचाव के लिये कुञ्जी के बाहरी सिरे पर एण्टी-साइफन-पाइप लगाये जाते हैं जिन्हे भी मकान की छत से ऊपर उठाकर खुला रखा जाता है।

स्नानागार आदि का उच्छिष्ट जल—स्नान-स्थल, वेसिन, सिङ्क—आदि में लगे ट्रैप्स मे होकर संयोजी नलो द्वारा उच्छिष्ट-जल-उच्छिष्ट-नलो मे बहा दिया जाता हैं। यह नल भी मकान की दीवारों से बाहर की ओर स्थित किये जाते हैं। उच्छिष्ट-जल-नल गृह निकास नाली मे गलि ट्रैप के माध्यम से खोले जाते हैं ताकि अनावश्यक कूड़ा कचरा इसी ट्रैप्स मे रुक सके और समय-समय पर साफ किया जा सके।

गृह निकास नाली जो लगभग 6" से 9" के घेरे की होती है और लोहे या क्ले पाइप की बनी होती है। जमीन मे सीमेंट कंकरीट की बनाई गई फर्श पर यथोचित ढलान से स्थित की जाती है और यह विच्छेदक ट्रैप के माध्यम से मल-नल में खोली जाती है। जहाँ विच्छेदक ट्रैप स्थित किया जाता है, वहाँ निरीक्षण कक्ष बनाया जाता है और उस पर मैनहोल रखा जाता है। इसी कक्ष मे सवातन के लिये माइका वाल्व भी स्थित किया जाता है। विच्छेदक ट्रैप मलनल से दुर्गन्ध एवं चूहो आदि के गृह-निकास नाली में प्रवेश को रोकता है। उपर्युक्त साज-सामान की स्थापन-व्यवस्था चित्र (6.10) मे यथासम्भव चित्रित करने का प्रयास किया गया है।

चित्र 6·10

1. शौचपात्र, 2. ट्रैप, 3. संयोजी-पाइप, 4. एन्टी-साइफन-पाइप, 5. सायल-पाइप, 6. सम्प्रवाहक-कुण्ड 7 गृह-निक स-नाली 8 विच्छेदक-ट्रैप, 9. स्नान गार, 10. बेसिन, 11. उच्छिष्ट नल, 12. बरसाती पानी नल 13. गलि ट्रैप, 14. निरीक्षण कक्ष, 15. माइका वाल्व, 16. मलनल ।

2. सड़कों के किनारे नगरपालिकाओं की ओर से मलनल, विच्छेदक ट्रैप, मेनहोल (man-hole), निरीक्षण कक्ष व माइका वाल्व (MicaValve) आदि।

3 निस्तारण स्थल पर वाहितमल निस्तारण संयन्त्र।

घरों में एक या एक से अधिक मञ्जिल पर निर्मित शौचालयों के शौचपात्रों को यथोचित ट्रैप से संयोजी नलों के साथ जोड़ा जाता है। संयोजी नल सॉयल पाइप में खुलते हैं। सॉयल पाइप लोहे या चाइना क्ले का बना होता है जिसका व्यास 4" का होता है और इसे घर के बाहरी दीवार पर स्थित कर दिया जाता है। इसका निचला सिरा सीधा ही (बिना किसी ट्रैप के) गृह-निकास-नाली में खुलता है और ऊपरी सिरा छत से 5 या 6 फुट ऊपर को खुला रहता है जिस पर तारों की जाली का रक्षण लगा रहता है। इस सिरे से गृह-निकास-नाली में पैदा होने वाले गैस ऊपर को निकसित होते रहते हैं। शौचपात्रों को सम्प्रवाहित (Flush) करने के लिये सम्प्रवाहन कुण्ड लगभग 6 या 7 फुट की ऊँचाई पर स्थित किये जाते हैं। इनकी धारण क्षमता लगभग 3 गैलन की होती है क्योंकि प्रत्येक सम्प्रवाहन में इतने ही जल की आवश्यकता होती है। इन कुण्डों से जल बहाने के लिये जंजीर लगी रहती है। ऊपरी मञ्जिल के शौचपात्रों का सम्प्रवाहन निचली मञ्जिल के शौचपात्रों की जल कुञ्जी को अपने प्रवाह-वेग के कारण निष्कासित कर सकता है अतः इसके बचाव के लिये कुञ्जी के बाहरी सिरे पर एण्टी-साइफॅन-पाइप लगाये जाते है जिन्हें भी मकान की छत से ऊपर उठाकर खुला रखा जाता है।

स्नानागार आदि का उच्छिष्ट जल—स्नान-स्थल, बेसिन, सिङ्क—आदि में लगे ट्रैप्स से होकर संयोजी नलों द्वारा उच्छिष्ट-जल-उच्छिष्ट-नलों मे बहा दिया जाता हैं। यह नल भी मकान की दीवारों से बाहर की ओर स्थित किये जाते हैं। उच्छिष्ट-जल-नल गृह निकास नाली मे गलि ट्रैप के माध्यम से खोले जाते हैं ताकि अनावश्यक कूड़ा कचरा इसी ट्रैप्स मे रुक सके और समय-समय पर साफ किया जा सके।

गृह निकास नाली जो लगभग 6" से 9" के घेरे की होती है और लोहे या क्ले पाइप की बनी होती है। जमीन में सीमेंट ककरीट की बनाई गई फर्श पर यथोचित ढलान से स्थित की जाती है और यह विच्छेदक ट्रैप के माध्यम से मल-नल में खोली जाती है। जहाँ विच्छेदक ट्रैप स्थित किया जाता है, वहाँ निरीक्षण कक्ष बनाया जाता है और उस पर मैनहोल रखा जाता है। इसी कक्ष मे संवातन के लिये माइका वाल्व भी स्थित किया जाता है। विच्छेदक ट्रैप मलनल से दुर्गन्ध एवं चूहों आदि के गृह-निकास नाली मे प्रवेश को रोकता है। उपर्युक्त साज-सामान की स्थापन-व्यवस्था चित्र (6.10) मे यथासम्भव चित्रित करने का प्रयास किया गया है।

चित्र 6·10

1. शौचपात्र, 2. ट्रैप, 3. संयोजी-पाइप, 4. एन्टी-साइफन-पाइप, 5. सायल-पाइप, 6. सम्प्रवाहक-कुण्ड 7 गृह-निकास-नाली 8 विच्छेदक-ट्रैप, 9. स्नानागार, 10. वेसिन, 11. उच्छिष्ट नल, 12. बरसाती पानी नल 13. गलि ट्रैप, 14. निरीक्षण कक्ष, 15. माइका वाल्व, 16. मलनल ।

मलनल—यह नल या तो ऐसे लोहे या जिस पर विशेष रोगन किया होता है या सीमेन्ट कंकरीट, चाइना वेयर, या ईंटों का बनाया जाता है जिसका घेरा वाहित मल की मात्रा पर निर्भर करता है। वैसे ये नल 9" से 10" के घेरे के हो सकते हैं। इनका पेंदा सिकुड़ा हुआ—अण्डे की आकार का रखा जाता है। इन्हें जमीन में लगभग 6 से 8 फुट की गहराई में पक्के सीमेंट कंकरीट की फर्श पर समुचित ढलान के साथ स्थित किया जाता है। जिन घरों में वर्षा के जल को, वाहितमल के साथ ही मलनल में निष्कासित करना होता है —अलग नल नहीं बिछाये जाते—वहाँ मलनल के घेरे को बड़ा रखना होता है। मलनलों में जहाँ शाखाओं का जोड़ किया जाता है वहाँ निरीक्षण कक्ष बनाये जाते हैं और कमरों, फर्शों के धावन-धावन व बरसाती जल को इनमें प्रविष्ट कराने के लिये गलि ट्रैप का प्रयोग किया जाता है।

वाहित मल निस्तारण

वाहितमल का लगभग 99.9% जलीय भाग होता है और केवल 0.1% भाग ठोस मल का। मल के कार्बनिक एवं अकार्बनिक पदार्थ जलीय भाग में निलम्बित या विलीन अवस्था में रहते हैं। इनमें असंख्य जीवाणु होते हैं जिनमें रोग जीवाणु भी। इसका निस्तारण दो चरणों में किया जाता है (1) प्राथमिक उपचारण (Primary treatment) और (2) द्वितीयक उपचारण (Secondary treatment)

प्राथमिक उपचारण में

- (i) पटेक्षण (Screening)
- (ii) ग्रिट निष्कासन (Grit Removal), और
- (iii) अवसादन (Sedimentation)

द्वितीयक उपचारण में

- (i) ऑक्सीय जैव क्रिया
  - (a) संस्पर्श कक्ष में (Contact Beds)
  - (b) परिस्रावी फिल्टर्स में (Percolating filters), और
  - (c) सांक्रियत स्लज प्रक्रम से (Activated Sludge process)
- *(ii) द्वितीयक अवसादन*
- *(iii) निस्राव निस्तारण, और*
- (iv) स्लज निस्तारण

उपर्युक्त तरीकों से वाहित मल के उपचार के लिये निस्तारण स्थल पर उपयुक्त संयन्त्र लगाये जाते हैं। वाहित मल का सर्वप्रथम लोहे के शलाकों की बनी जाली में से प्रवाहित किया जाता है जिससे इसका पटेक्षण होता है और तैरते हुए पदार्थ—लकड़ी के टुकड़े, चिथड़, कूड़े-कचरे के अंश और मरे हुए छोटे जानवर हटा लिये

जाते है। इसके बाद इसे ग्रिट कक्ष मे पहुँचाया जाता है जहाँ भारी पदार्थ–कंकर, रोड़ी, मिट्टी आदि का पृथक्करण होता है। तब इसे बड़े-बड़े आयताकार अवसादन कुण्डो मे भरा जाता है, जहाँ इसे 6 से 8 घण्टे तक रक्खा जाता है। इन कुण्डो में निलम्बित पदार्थ नीचे पैठते जाते हैं। यदि निलम्बित पदार्थ अधिक हो, जैसाकि औद्योगिक संस्थानो के मलिन जल में होते हैं, तब इसमे चूना, एलम,फेरिक-सल्फेट आदि रासायनिक पदार्थों का निर्धारित मात्रा में मिश्रण किया जाता है ताकि निलम्बित पदार्थ ऊणिकाएं बन कर जल्दी ही अवसादित हो जाय। अवसादन कुण्डों में सीमित जैव-क्रिया भी होती है जिसके फलस्वरूप कार्बनिक पदार्थ विघटित होते रहते हैं और छोटे-छोटे कणो मे विभाजित होकर नीचे पैठ जाते हैं या मलफेन के रूप मे सतह पर संग्रहीत हो जाते हैं जिन्हें निकाल लिया जाता है। इस अवस्था तक मल निस्राव काफी साफ और दुर्गन्ध-रहित हो जाता है पर इसमे अभी भी नाइट्रोजनीय पदार्थों के विघटन के फलस्वरूप काफी मात्रा में एमोनिया रहता है। यद्यपि जैव प्रक्रिया के फलस्वरूप बहुत से रोग-जीवाणु–लगभग 30 से 40%–नष्ट हो जाते हैं, फिर भी अभी इसके और अधिक उपचार की आवश्यकता होती है द्वितीयक उपचारण से पूरी की जाती है।

द्वितीयक उपचारण में मल निस्राव का यथोचित ऑक्सीकरण किया जाता है जिसमें ऑक्सीय जीवाणुओं की प्रक्रिया के फलस्वरूप नाइट्रोजनीय पदार्थ एवं रोग–जीवाणु अधिशोषित (adsorb) होकर नष्ट हो सकें और एमोनिया–नाइट्रेट्स में परिवर्तित हो सकें। इसके लिये छोटे पैमाने पर, जैसे सेप्टिक टैंक के मल–निस्राव को संस्पर्श कक्षों में बहाया जाता है या परिश्रावी फिल्टर्स में, लेकिन बड़े पैमाने पर तो इसे अनिवार्य रूप से परिश्रावी फिल्टर्स में बहाकर या सक्रियित स्लज प्रक्रम से ही जो उपचारित करना होता है।

संस्पर्श कक्ष

ये पक्के आयाताकार कुण्ड होते हैं जिनकी गहराई 6′ होती है। इसमें ईंटों या पत्थरों के छोटे-छोटे टुकड़े, कंकरीट व रोड़ी इस तरह बिछाई जाती है कि इनमें हवा का प्रवेश सम्यक् हो सके। मल–निस्राव को अवसादन कुण्डों से इन कक्षो में बहाया जाता है और इसे लगभग 2 से 4 घण्टे तक इनमें रहने दिया जाता है। तत्पश्चात् इसे कक्ष के नीचे लगे नलो से निकाल लिया जाता है और अधिकांश सिंचाई के काम में ले लिया जाता है। इन कक्षो की देख-रेख अधिक रखनी होती है और चार घण्टे के प्रयोग के बाद आठ घण्टे तक निश्चल पड़ा रहने देना होता है अतः इनके स्थान पर आजकल परिश्रावी फ़िल्टर्स का प्रचलन अधिक होता जा रहा है।

परिश्रावी फिल्टर्स

इनमे भी मल निस्राव के स्वच्छीकरण का सिद्धान्त वही है जो संस्पर्श कक्ष का है। परिश्रावी फ़िल्टर्स अधिकांशतः गोलाकार 10 से 100 फुट व्यास और 6 फुट

के फलस्वरूप सभी कार्बनिक पदार्थ विघटित हो जाते हैं और रोग-जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। इसके बाद निस्राव को द्वितीयक अवसादन कुण्डो में लगभग 2 से 2½ घण्टे तक पड़ा रहने दिया जाता है जिससे बचे-बचाये निलम्बित कार्बनिक कण अवसादित हो सकें।

निस्राव निस्तारण

1. समुद्र तट के स्थानों पर समुद्र में बहा दिया जाता है।
2. जहाँ नदियाँ समीप ही हों, वहाँ नदियों में बहाया जाता है पर इसके लिये यह आवश्यक होता है कि उसमें विघटित कार्बनिक पदार्थों का अंश 10mg. प्रति लीटर में अधिक न हो और उसका यथोचित क्लोरीनिकरण किया गया हो।
3. आस-पास के खेतों, उद्यानों आदि की सिंचाई-नालियों में बहा दिया जाता है।

स्लज निस्तारण

अवसादन कुण्डो में शेष बचे स्लज को निम्न तरीकों से निस्तारित किया जाता है—

1. विशेष संयन्त्रो मे उष्मायित (incubate) करके सुखाया जाता है जिससे उत्तम खाद प्राप्त हो पाता है। उष्मायन के फलस्वरूप मीथेन गैस की उपलब्धि होती है जिसे ईंधन के काम में लाया जाता है।
2. समुद्र तट के स्थानों पर समुद्र में बहा दिया जाता है।
3. मलखातों में निस्तारित किया जाता है; या
4. कम्पोस्ट बना दिया जाता है।

वाहित मल के इस प्रकार से निस्तारण की आदि से अन्त तक की प्रक्रिया को चित्र (6.12) मे यथासाध्य चित्रित करने का प्रयास किया गया है।

जलवाह प्रणाली के लाभ

1. बड़े पैमाने पर—बड़े-बड़े शहरों व नगरों के मल निष्कासन की यह सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।
2. मल निष्कासन अत्यन्त ही स्वच्छ ढंग से हो पाता है।
3. गन्दगी, चाक्षुप एवं घ्राण अनुत्रास नहीं हो पाता।
4. मल के साथ मलिन जल एवं बरसाती जल का भी सन्तोषप्रद निकास हो पाता है।
5. मानव (हरिजन) सेवा की आवश्यकता नही होती। मानव द्वारा मल ढोने की घृणित प्रथा का परित्यजन होता है।
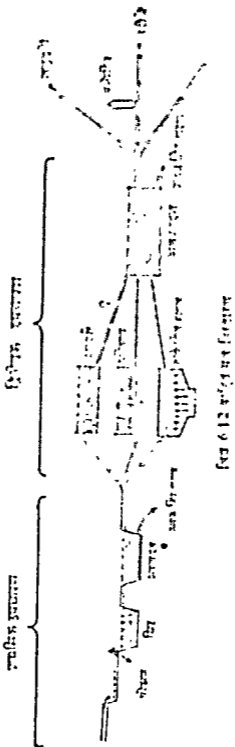
6. भूमि, वायु एवं जल स्रोतों के प्रदूषण व संदूषण की सम्भावना नगन्य रहती है।
7. मक्खियों की उत्पत्ति नहीं होती।
8. मक्खियों द्वारा भोजन सामग्री व खाद्य पदार्थों के संदूषण की सम्भावना नहीं रहती।
9. मल व मक्खियों द्वारा फैलने वाले रोगों का सर्वाधिक निराकरण होता है।
10. स्लज निस्तारण से उत्तम खाद एवं गैसीय ईंधन प्राप्त हो पाता है; और
11. अन्ततोगत्वा यह प्रणाली सस्ती सिद्ध होती है।

7
स्वच्छ वातावरण-जैव वातावरण

जीव जन्तुओं से हम सदा घिरे रहते हैं। पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सूक्ष्म जीव (Micro-organisms) आदि हमारा जैव वातावरण बनाते हैं। जीव जन्तु जहाँ एक ओर हमारे लिए अत्यन्त ही उपयोगी सिद्ध होते हैं, वहाँ दूसरी ओर कष्टदायक, रोग-प्रसारक एवं रोग कारक बनते हैं। अतः जैव वातावरण हमारे दैनिक जीवन में काफी महत्व रखता है। इससे जो लाभ होते हैं उसके लिये तो हमें इसका कृतज्ञ होना ही चाहिए पर जो कुप्रभाव होते हैं उनके निराकरण में भी हमें यथासम्भव प्रयत्नशील होना चाहिए। पशु, पक्षी, कीटपतंग, सूक्ष्मजीव आदि प्रतिपल हमारा कितना उपकार करते हैं, वह मोटे तौर पर हमे विदित ही है, फिर भी उदाहरणार्थ पशु हमें दूध, दही, मक्खन, घी, पनीर, छैना, आदि उत्तम सामग्री प्राप्त कराते हैं; खेती, सवारी और माल ढोने में हमें अनुपम सहयोग देते हैं; उत्पादन के विविध क्षेत्रों मे हमारे सहायक होते हैं और पालतू जानवर हमारे स्नेहिल साथी बनते हैं। फल-फूल एवं वनस्पति के प्रजनन में कीट-पतंग महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं; शहद जैसा अमूल्य खाद्य पदार्थ तैयार करते हैं; पक्षी भाँति-भाँति के हानिकारक कीटपतंगो का नाश करते हैं और सूक्ष्मजीव तो हमारा अकथनीय उपकार करते हैं।

पिछले अध्यायों में हमने देखा कि सूक्ष्मजीव–ऑक्सीय एवं अनॉक्सीय जीवाणु–किस प्रकार कूड़े-कचरे और मलमूत्र आदि का निस्तारण करके हमारे द्वारा फैलाई गई गन्दगी का निराकरण करते हैं और हमारे वातावरण को स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर बनाये रखते हैं। जीवाणु प्रकृति के नाइट्रोजन आवर्तन (cycle) को बनाये रखते हैं; नाइट्रोजनीय पदार्थों का विघटन करके एल्ब्युमिनॉइड एमोनिया को नाइट्राइट्स व नाइट्रेट्स में परिवर्तित करते हैं; वनस्पति को वाञ्छित मात्रा मे नाइट्रोजन प्राप्त कराते हैं और नाइट्रोजन का स्थितिकरण करते हैं जिससे हमे प्रोटीन-युक्त खाद्य-पदार्थों की प्राप्ति होती है; ऑक्सीजन एवं कार्बन-डाई-ऑक्साइड के आवर्तन को भी नियमित करते हैं; भाँति-भाँति के एन्जाइम्स पैदा करते हैं जिनमें मुख्यतया विटामिन "$बी_{12}$", "बी वर्ग" के कुछ विटामिन एवं प्रोटिएज आदि हैं। हमारी आँतों मे भी नाइट्रोजनीय

एवं कार्बोहाइड्रेट के निरर्थक पदार्थों का विघटन करते हैं और विटामिन "बी वर्ग" के कुछ तत्वों का एवं विटामिन "के" का निर्माण करते हैं। दही, पनीर व छैना और अन्य खाद्य पदार्थों में खमीर पैदा करने का काम भी यह जीवाणु ही करते हैं, किण्वन (Fermentation) पैदा करके अनेक व्यावसायिक उद्योगों को लाभ पहुँचाते हैं। चमड़े की वस्तुएँ—जूते, दस्ताने, हेण्ड-बैग, पर्स, सूटकेस आदि बनाने में चमड़े की तैयारी के लिए जीवाणु-उत्पादित प्रोटिएज एन्जाइम ही काम में लाया जाता है। रेशम व अन्य उच्च किस्म के कपड़ा उद्योग में भी जीवाणु महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। फंगस कई प्रकार के अम्ल और एण्टी-बायोटिक औषधियाँ तैयार करवाते हैं। पेनिसिलिन (Penicillin) जैसी अमूल्य औषधि फंगस ही की तो देन है। इस प्रकार जीव-जन्तु एवं सूक्ष्मजीव जहाँ हमारा इतना उपकार करते हैं, वहाँ यह कुछ कष्टदायी भी हो जाते है और रोग-प्रसारण एवं रोगोत्पादन के कारण भी बन जाते हैं। ऐसे जीव जन्तुओं में हम केवल कुछ ही का उल्लेख यहाँ करेंगे।

इन जीव जन्तुओ को हम निम्न श्रेणियों में विभाजित करेंगे—

1. पशु
2. आर्थ्रोपोडा (Arthropoda)
   (a) पीड़क जन्तु
   (b) रोगवाहक जन्तु
3. सूक्ष्म-जीव (Micro-organisms)
   (a) जीवाणु
   (b) वाइरस
   (c) प्रोटोजोआ, और
   (d) फंगस

1. पशु

विभिन्न जाति के पशु—मुख्यतया निम्न रोग फैलाने में सहायक होते है। इन रोगों को हम पशु-जन्य रोग (Zoonosis) कहते हैं।

रोग	पशु
(i) रेबीज (Rabies)	—कुत्ते, भेड़िये, सियार, बन्दर, बिल्ली, तरक्षु, ऊँट, घोड़ा, बाघ, चमगादड़ आदि–काटने से
(ii) क्षयरोग-गोयक्ष्मा (Bovine T.B)	—गाय, बकरी आदि के कच्चे दूध और मांस द्वारा (सूअर के मांस द्वारा भी)

(iii) ग्रन्थिल प्लेग (Bubonic Plague) रेट् बाइट फीवर (Rat Bite fever) टाइफस (Typhus) पुनरावर्ती ज्वर (Relapsing fever) ट्रिकाइनोसिस (ट्रिचिनोसिस Trichinosis) लेप्टोस्पाइरा रुग्णता (Leptospirosis)	चूहे
(iv) एन्थ्रेक्स (Anthrax)	घोड़ा, गाय, बकरी, भेड़, आदि
(v) ग्लैंडर्स (Glanders)	घोड़ा, खच्चर आदि
(vi) हाइडेटिड सिस्ट (Hydatid cyst)	कुत्ते, भेड़, गाय आदि
(vii) भाँति-भाँति के आंत कृमि	गाय, सूअर, मछली आदि
(viii) साल्मोनेलोसिस (Salmonellosis)	चूहे, कुत्ते—भोजन उच्छिष्ट करने पर। (बहुधा भोजन विपाक्त हो जाता है)

2. आर्थ्रोपोडा

(a) पीडक जन्तु—वैसे यह कोई रोग विशेष तो नहीं फैलाते पर काटने से पीडा अवश्य पैदा करते हैं, किन्तु कुछ जहरीले जन्तुओं के काटने पर, समुचित उपचार के अभाव मे, मृत्यु भी हो जाती है। इन जन्तुओं मे मुख्यतया चीटियाँ, चींटे, कुथ, बरसाती कीट पतंग, मधुमक्खियाँ, ततैये, बिच्छू, कनखजूरा आदि हैं।

(b) रोगवाहक कीट—कुछ रोगवाहक कीट और उनसे फैलने वाले रोग निम्न हैं :—

कीट	रोग
(i) मच्छर	मलेरिया, फाइलेरिया, डेंगु, पीत-ज्वर (yellow fever), रक्त-स्रावी ज्वर (Haemorrhagic fever), मस्तिष्क शोथ (Encephelitis) आदि।
(ii) घरेलू मक्खी	टाइफाइड, पेराटाइफाइड, प्रवाहिका (Diarrhoea) हैजा, आंत्रशोथ, पोलियो, संक्रामी-यकृत-शोथ, नेत्र-श्लेष्मा-शोथ, ट्रेकोमा, पेचिश आदि।
(iii) बालु मक्षिका (Sand fly)	कालाजार, बालुमक्षिका-ज्वर, ओरिएन्टल व्रण (Oriental sore)।
(iv) सेत्सी मक्षिका (Tsetse fly)	निद्राव्याधि (Sleeping sickness)।

(v) यूका–जूँ (louse)	टाइफस, पुनरावर्ती ज्वर, खाई ज्वर (Trench fever)
(vi) पिस्सू-(Flea)	
चूहा पिस्सू-(Rate flea)	ग्रन्थिल प्लेग
जल पिस्सू-(cyclope)	नारू
(vii) टिक (Tick)-चिचड़	टाइफस, रक्त स्रावी ज्वर, मस्तिष्क शोथ
(viii) माइट (mite)	मुख्यतया स्केबिईज (Scabies)

इनमे से हम केवल कुछ प्रमुख कीटों का ही संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

मच्छर

मच्छर की मुख्यतया तीन जातियाँ होती है जिनमें कितनी ही उप-जातियाँ भी होती हैं। मुख्य जातियाँ हैं :—

(i) ऐनोफेलीज् (Anopheles)

(ii) क्यूलेक्स फेटिगन्स् (culex Fatigans), और

(iii) ईडीज् ईजिप्टाई (स्टीगोमैया) (Aedes aegypti)–(Stegomyia)

ऐनोफेलीज्

यह मच्छर मलेरिया की बीमारी फैलाते हैं, भारत मे इनकी लगभग 48 उप-जातियाँ हैं, पर मलेरिया फैलाने वाली मुख्य उप जातियाँ निम्न ही हैं—

(i) ऐ क्यूलिसीफेसीज् (A. culicifacies)—सारे भारत मे, मैदानी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में।

(ii) ऐ. फ्लूवियेटिलिस (A. Fluviatilis)—पठारी एवं उत्तरी तराई क्षेत्र में।

(iii) ऐ. मिनिमस (A. minimus)—पूर्वी पहाड़ी एवं पठारी क्षेत्र व आसाम के तराई क्षेत्र मे।

(iv) ऐ. स्टिफेन्साइ (A. Stephensi)—शहरी क्षेत्रों मे।

(v) ऐ. फिलीपिनेन्सिस (A. Philippinensis)—डेल्टाई क्षेत्रों मे, विशेषकर बंगाल व उड़ीसा।

(vi) ऐ. संडाइकस (A. Sundaicus)—पूर्वीय समुद्री तट क्षेत्रो में, विशेषकर बंगाल व उड़ीसा।

इनके अतिरिक्त ऐ. एन्यूलैरिस (A. Annularis) व ऐ. वरुना (A. Varuna) भी सीमित रूप से कुछ सीमित क्षेत्रो मे यह रोग फैलाते हैं।

क्यूलेक्स

यह मच्छर अधिकांशतः फाइलेरिया (Filaria) रोग फैलाते हैं, इस रोग में एक या दोनो पाँव, एक या दोनो हाथ अथवा गुप्त अंग फूल कर मोटे हो जाते हैं। पाँव हाथी के पाँवो जैसे मोटे हो जाते हैं, और इसी के कारण इसे हाथी-पगा रोग कहते

हैं। यह मच्छर भारत मे लगभग सभी जगह बहुतायत से पाये जाते हैं पर फाइलेरिया का अधिक प्रकोप उड़ीसा, बिहार, आन्ध्रप्रदेश, तामिलनाडू, कर्नाटक, केरला, पूर्वी मध्य-भारत व पूर्वी उत्तर-प्रदेश मे पाया जाता है।

ईडीज़

यह मच्छर—डेंगु, पीतज्वर, रक्त-स्रावी-ज्वर एवं मस्तिष्क-शोथ रोग फैलाता है। भारत में यह सभी जगह बहुतायत से पाया जाता है और विशेषकर आवासी घरो में ही रहता है। अधिकांशत. यह दिन मे काटता है।

मच्छरों की उत्पत्ति

मच्छर पड़े पानी पर अण्डे देते हैं—अण्डो मे से 3 दिन में लारवा निकलते हैं, 3 दिन ही में लारवा से प्यूपा बनते हैं और उनमे से 3 दिन ही में बड़े मच्छर बन कर निकल जाते हैं। मादा मच्छर एक बार मे लगभग 100–120 तक अण्डे देती है।

उत्पत्ति स्थल

एनोफेलीज़ जाति के मच्छर अधिकाशत. स्वच्छ जल में अण्डे देते हैं—जैसे बांधों व सिंचाई नहरो के निथरे जल मे; नदियों के पाट मे जहाँ से बहते जल का स्तर उतर चुका हो, छोटे-छोटे खड्डो मे पड़े जल मे; रेल, सड़क व इमारतो काम के लिए खोदे गये गड्ढो व खानियो मे—जहाँ बरसाती पानी इकट्ठा हो गया हो; सिंचाई नालियो के किनारो में रुके जल मे; धान के खेतो में; सीमेंट होज व टंकियों में, शहर के सजावटी जलाशयो आदि मे।

स्टीफेंसाइ—सीमेन्ट होजो व उथले कुओ मे और **संडाइकस** खारे पानी में—समुद्री किनारों पर पड़े पानी मे, अण्डे देना पसन्द करते है।

क्यूलेक्स—किसी भी पड़े गन्दे जल मे–गन्दी नालियों, होजो, दल-दल स्थलो आदि मे।

ईडीज—अधिकाश घरों के आस-पास व छत पर पड़े बेकार ढोल, पीपे, कनस्तर, टीन, टूटे बरतन, मटके आदि मे पड़े पानी मे।

मच्छरों के अण्डे देने का समय—अधिकाश सभी मच्छर सन्ध्या समय अण्डे देते हैं पर ऐ. मिनिमस सूर्य की चमकती हुई धूप मे, दिन के पूर्वार्द्ध मे, अण्डे देना पसन्द करता है।

मच्छरों के काटने का समय—अण्डे देने के बाद इन्हे जोर की भूख लगती है अतः लगभग सभी एनोफेलीन मच्छर सन्ध्या के बाद अर्धरात्रि तक काटते रहते है पर मिनिमस मच्छर दिन में काटता है, क्योंकि वह दिन में ही अण्डे देता है। ईडीज़ भी दिन ही मे काटता है। केवल मादा मच्छर ही काटते हैं-नर नही। नर केवल फूल-पत्तो के रस पर ही निर्वाह करते हैं।

मच्छरों का विश्राम स्थल—झोपड़ो, गौशालाओ, घुड़शालाओं आदि मे दीवारो और छत के उपयोगी स्थलो के आस-पास; पक्के मकानो मे अपेक्षाकृत अंधेरे स्थानो में

	ऐनोफेलीज्	क्यूलेक्स	ईडीज्
अण्डे	नाव की आकार के बहुधा अलग-अलग	बेड़े के आकार के जुड़े हुए	अलग या जुड़े हुए
लारवा	जल सतह पर समानान्तर तैरते रहते है।	जल सतह के नीचे मुँह लटकाये तैरते हैं।	क्यूलेक्स जैसे ही
	साइफन नली नही होती शरीर पर पामेट (Palmate) बाल होते है।	साइफन नली होती है जिससे सतह पर से साँस लेते रहते हैं। पामेट बाल नही होते	लगभग क्यूलेक्स जैसे ही केवल इनकी साइफन नली छोटी होती है पामेट बाल नही होते
प्यूपा	गोलाकार शरीर-साँस लेने के लिए 2 छोटी-छोटी साइफन नालियाँ निकल आती है, गोलाकार भाग बड़ा होता है	वैसा ही आकार, साइफन नालियाँ कुछ बड़ी होती हैं, गोलाकार भाग कुछ छोटा होता है	क्यूलेक्स जैसा ही
बड़े मच्छर	स्पर्शक शुण्ड के बराबर लम्बे होते है, परो पर सफेद धब्बे होते है, पाँवों पर भी सफेद दाग होते है, शुण्ड, स्पर्शक, सिर, सीना व उदर एक ही सीध मे होते है *अत: किसी भी सतह* पर बैठते समय सतह के समानान्तर बैठते है या फिर थोड़ा-सा कोण बनाते हैं।	स्पर्शक छोटे होते हैं परों पर सफेद धब्बे नही होते, पाँवो पर सफेद दाग नही होते, सीने और उदर के बीच मोड होता है अत: बैठते समय समानान्तर स्थिति नही बना पाते।	स्पर्शक छोटे होते है, परों पर सफेद धब्बे नही होते, पाँवों पर सफेद दाग होते हैं, सीने पर बड़ा सफेद दाग होता है। क्यूलेक्स की भाँति ही बैठते हैं।

मच्छरों का निराकरण—उत्पत्ति स्थानों के जल का यथासाध्य निष्कासन; हौज कुण्ड आदि के जल का सप्ताह में एक बार परिवर्तन; बेकार पड़े टूटे-फूटे पात्रों में जल-भराव का निराकरण; और जहाँ जल का निष्कासन न हो सके वहाँ फैलने वाले तेल–मलेरिओइल, क्रूड-आइल, केरोसिन आदि का छिड़काव; जहाँ जल पीने के काम आता हो या सजावटी जलाशयों में भरा रखा हो वहाँ 2 भाग पेरिस ग्रीन व 10 भाग सोपट स्टोन पाउडर के मिश्रण का छिड़काव किया जाता है जिससे लारवा की स्थिति में ही मच्छरों का नाश किया जा सके। लारवा को मारने के लिए डी.डी. टी.; बी. एच. सी. आदि का प्रयोग भी किया जाता है पर इन रसायनों के प्रति लारवा मे प्रतिरोध क्षमता (Resistance) भी जल्दी ही पैदा हो जाती है।

बड़े मच्छरों को मारने के लिये तुरन्त संघात (Knock down effect) के लिये–पाइरीथ्रम (Pyrethrum) के मिट्टी के तेल मे बनाये गये घोल का कमरों में फुआर (spray) करते हैं। यह घोल अधिकांश बाजार में फिलट के नाम से बिकता है। लम्बे समय तक संघात प्रभाव बना रहे (Residual effect) इसके लिये डी. डी. टी. (Dichlor–diphenyl–trichlorethane), बी. एच. सी. (Benzene-Hexa-chloride) डेल्ड्रीन आदि के घोलका निर्धारित मात्रा मे दीवारों पर–अन्दर व बाहर–और भीतर छत पर स्टरप पम्प (Stirrup Pump) से छिड़काव किया जाता है। D. D. T. की मात्रा इस छिडकाव में 50 से 100 mg. प्रति वर्ग फुट रखी जाती है और B H.C. की 10 से 20 mg. प्रति वर्ग फुट। डेल्ड्रीन का इन दिनों अधिक प्रयोग नही किया जाता क्योंकि यह मानव एव पालतू जानवरों पर विषाक्त प्रभाव पैदा कर सकता है। D.D T. व B H.C. का प्रभाव लगभग 6-12 सप्ताह तक बना रहता है। जब मच्छर इस पर बैठते है तो घातक मात्रा अपने अन्दर अवशोषित करते हैं और ½ घण्टे से 2 घण्टे के अन्दर मर जाते है। एनोफेलीज मच्छरों पर D.D.T. का प्रभाव काफी अच्छा होता है हालांकि कई बार यह प्रतिरोधात्मक क्षमता भी पैदा कर लेते हैं; फिर भी मलेरिया उन्मूलन अभियान में इस रसायन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

मच्छरों से व्यक्तिगत बचाव—जालीदार मकान, मच्छरदानी का प्रयोग, संध्या समय पूरे बाँह के वस्त्रों का प्रयोग, पंखों का प्रयोग और प्रतिकारक क्रीम (Repellent cream) का प्रयोग हितकर होता है। प्रतिकारक क्रीम भाँति-भाँति के रासायनिक पदार्थों से बनाई जाती है जिसमे Diethyl-tolu-amide अधिक प्रभावकारी होता है जिसका असर लगभग 3 से 4 घण्टे तक बना रहता है।

घरेलू मक्खी

घरेलू मक्खी कूड़े-कचरे पर अथवा मानव-मल एव पशु-मल पर अण्डे देती है। एक बार मे यह लगभग 120–150 अण्डे देती है। अपने जीवन काल मे

600 से 900 अण्डे देती है। अण्डे से लारवा, लारवा से प्यूपा, और प्यूपा से मक्खी ग्रीष्म ऋतु में 5 से 6 दिन और शरद ऋतु में 8 से 20 दिन में, बन कर निकलती है। मक्खियां द्वारा फैलाये जाने वाले रोगों का उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं।

निराकरण - इनकी उत्पत्ति पर नियन्त्रण करना ही निराकरण का श्रेष्ठ उपाय है। मल-मूत्र एवं कूड़े-कचरे का समुचित एवं तुरन्त निकास इनकी उत्पत्ति का सफलतम निरोधात्मक कदम है। यदि इसका तुरन्त निकास नहीं किया जा सके तो लारवा को मारने हेतु 5% क्रीसोल (Cresol) व $\frac{1}{2}$ lb बोरेक्स (Borex) का 2 या 3 गैलन पानी में बनाये गये घोल का छिड़काव कर देना हितकर होता है। अन्य रासायनिक घोल जैसे 0 5% डायाजिनोन (Diazinon) या 2% डाइमीथोएट (Dimethoate) का घोल भी छिड़का जा सकता है पर समयान्तर में इनके प्रति लारवा प्रतिरोधात्मक शक्ति उत्पन्न कर लेते हैं। डी.डी.टी. या ब्लीचिंग पाउडर का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता।

बड़ी मक्खियों को मारने के लिए डी.डी टी 5% का छिड़काव या फिलट का फुआर समुचित होता है। फ्लाई पेपर जिस पर मक्खियां बैठते ही चिपक जाती हैं या फ्लाई फ्लेपर—हाथ से मक्खियां मारने का फट्टा-काम में लाया जा सकता है। फ्लाई पेपर बनाने के लिए 5 भाग अरण्डी का तेल और 8 भाग रेजिन (Resin) मक्षधूप-गरम करके चमकदार कागज पर लेप दिया जाता है।

मक्खियों से बचाव के लिए जालीदार दरवाजे तथा खिड़कियाँ लगवाना या चिकों का प्रयोग करना और खाने-पीने की सभी वस्तुओं को जाली से ढके रखना आवश्यक होता है।

यूका (जूं)

जूएँ अधिकांशत. सिर में (Head Lice) शरीर पर (Body lice), या जघन भाग (Pubic Region) में होती है। सिर की जूं, शरीर जूं, से कुछ छोटी होती है पर दोनों ही लम्बे आकार की होती है, जबकि जघन भाग की जूं लगभग समकोण आकार की होती है और सिर की जूं से छोटी भी होती है। जूएं प्रतिदिन 3 से 1 अण्डे देती हैं और अपने जीवन काल में लगभग 300 अण्डे। ये अंडे सफेद रंग के--लीखें-कहलाते हैं। अधिकांशतः व्यक्तिगत स्वच्छता न रखने वाले लोगों में ही जूएं पैदा होती है। ठंडे देशों या प्रान्तों में कुछ लोग महीनों नहीं नहाते, न भीतरी वस्त्रों को धोते या बदलते हैं, या लड़ाई के दिनों में सैनिक खन्दकों में लम्बे समय तक पड़े रहते हैं और नहाने धोने या वस्त्र बदलने का उन्हें अवकाश नहीं मिलता; ऐसे लोगों के सिर, शरीर तथा वस्त्रों पर जूएं पैदा हो जाती हैं। जूंओं का प्रसार जूंओं से प्रभावित व्यक्ति के सम्पर्क में आने, उसके वस्त्रों को काम में लेने या लीखें लिपटी कंघी काम में लाने से होता है।

जूएँ खुजली एवं त्वक शोथ (Dermatitis) पैदा करने के अनन्तर टाइफस, पुनरावर्ति-ज्वर एवं खाई-ज्वर पैदा करती है।

जूँओं एवं लीखों का निराकरण

(i) व्यक्तिगत स्वच्छता—नहाना धोना तथा धुले हुए स्वच्छ वस्त्र धारण करना।

(ii) जूएँ पड़ जायें तो वस्त्रों को भट्टी में—खौलते पानी मे डालकर—धोना और इस्तरी (iron) करना।

(iii) रासायनिक प्रयोग

(a) D.D T –सिर की जूँओं के लिए 1% D.D.T. (Powder) को बालों मे मलना और 24 घण्टे बाद सिर धोना। एक सप्ताह बाद पुनरावृत्ति करना।

(b) शरीर जूँ के लिए 10% D.D.T. (Powder) को मलना और 24 घण्टे बाद नहाना।

(c) W.H.O द्वारा प्रस्तावित प्रयोग (1970)—68% Benzyle Benzoate, 12% Benzocaine, 6% D.D T. and 14% Tween 80 का इमल्शन (Emulsion) तैयार करके 3 भाग यह इमल्शन और 5 भाग जल का घोल बनाकर सिर में अच्छी तरह मलना और 24 घण्टे बाद सिर धोना। जूँएँ एवं लीखें सभी मर जायेंगी।

पिस्सू (Flea)

वैसे पिस्सू चूहे, कुत्ते, बिल्ली आदि पर और मिट्टी एवं जल में रहते हैं। पर हम केवल चूहे-पिस्सू और जल-पिस्सू का ही वर्णन करेंगे।

चूहा-पिस्सू (Rat flea) (चित्र 7 2)

मादा पिस्सू फर्श पर, गन्दे कालीन या दरी पर, या मिट्टी मे, एक बार में 8 से 12 अण्डे देती है जो सफेद चमकीले अण्डाकार होते हैं। 2 या 4 दिन में इनमे से लारवा निकल आते है जो प्यूपा बनकर लगभग 14–15 दिनों में पिस्सू बन जाते है। चूहा-पिस्सू चूहों का रक्त चूसते हैं और चूहे न मिलें तो मानव-रक्त पीते हैं। चूहे जब प्लेग की बीमारी के शिकार होते है और पिस्सू उनका रक्त पीते है तब प्लेग-जीवाणु भी पिस्सू अपने अन्दर लेते है। ये जीवाणु इनके पेट के अगले भाग में तेजी से अधिकाधिक संख्या में पनपने लगते है और पेट को लगभग बन्द-सा कर देते हैं। पिस्सू जब दुबारा काटता है तो खून पीने के पूर्व इन जीवाणुओं को काटे घाव में प्रवाहित करता है। इस प्रकार यह रोग-जीवाणुओं का संचार करता है। बन्द-पेट-

पिस्सू को ब्लोक्ड फ्ली (Blocked flea) कहते हैं जिसे हम अवरोधित पिस्सू भी कह सकते है। अवरोधित पिस्सू चूहो के अभाव में (प्लेग की बीमारी मे अधिक संख्या मे मर जाने पर) मानव को काटता है और ग्रन्थिल प्लेग (Bubonic Plague) फैलता है।
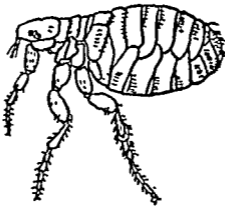
चित्र 7·2 चूहा-पिस्सू

इन पिस्सुओ को मारने के लिए 10% D.D.T. पाउडर का प्रयोग किया जाता है। फर्श पर तथा कमरो के किनारों, कोनो आदि मे इसे बिखेरा जाता है। चूहे या पिस्सू जब इस पर होकर गुजरते हैं तो डी.डी.टी की घातक मात्रा पिस्सुओं मे अवशोषित होती है और ये मर जाते है। सौभाग्य से भारत में अब प्लेग का पूर्ण रूप से उन्मूलन हो चुका है।

जल-पिस्सू (Cyclops)

जल-पिस्सू अधिकांश पोखरो, तालाबो, बावडियो तथा उथले कुओं के जल मे पाये जाते हैं। यह लगभग 1 m.m लम्बाई के होते हैं और किसी सफेद प्लेट मे जल लेकर देखें तो साफ दिखाई देते हैं (चित्र 7·3 a)। अधिकांशतः ये नारू (Guinea-worm) रोग फैलाते हैं। नारू का मरीज जब इन जलाशयों मे प्रवेश करता है या उसके नारू पीड़ित अंग पर जहाँ नारू का एक सिरा बाहर निकल आया है, उस पर से जल बह कर इन जलाशयों मे गिरता है तो नारू के लारवा इस जल में प्रवेश पा लेते हैं। जल-पिस्सू इन्हे खा लेते हैं। ऐसे पिस्सुओं को जब जल के साथ मानव पी लेता है तो वे उसके आमाशय के हाइड्रोक्लोरिक एसिड (HCL) मे मर जाते हैं और नारू लारवा बाहर निकल आते हैं। यह लारवा HCL से नही मरते। धीरे-धीरे यह बढ़ने लगते हैं और आमाशय से निकल कर माँसपेशियो मे स्थित हो जाते हैं। मादा नारू लगभग 94′ से 30″ लम्बी होती है (चित्र 7·3 b)। नर नारू जो केवल 12 से 30 cm. लम्बा होता है, मादा को गर्भित करके मर जाता है। तदनन्तर मादा मासपेशियो मे ऐसे स्थान पर स्थित होती है जहाँ वह जल के सम्पर्क में आ सके। इसके लिए यह अधिकांशतः पाँवो, हाथो

में या भित्तियों के पीठ की मांसपेशियों में पहुँचती है और समय पाकर लारवा बाहरी जल में बहाने के लिए फफोला पैदा करती है। फफोले के फूटने पर यह अपना
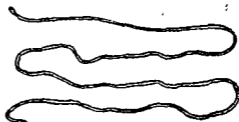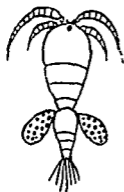
चित्र 7·3 a. जल-पिस्सू b. नारू

सिरा बाहर निकालती है और जल का स्पर्श होते ही लारवे बहाने लगती है। लारवा खाया हुआ जल-पिस्सू पानी के साथ हमारे पेट में पहुँचने के लगभग 9 या 12 माह में नारू रोग उत्पन्न करता है। नारू की बीमारी राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात, आन्ध्र-प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक व तामिलनाडू आदि प्रान्तों मे अभी भी प्रचलित है। नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ कम्युनिकेबल डिजीजिज की रिपोर्ट के अनुसार (अप्रेल 1983 में) इन प्रान्तो के कुल 83 जिले के 12081 गाँवों मे इस रोग का प्रसार रहा। सन् 1982 में इन्ही प्रान्तों मे लगभग 42926 रोगी हुए। राजस्थान में सबसे अधिक 23 जिले प्रभावित हैं जिनमें 6104 गाँवों में सन् 1982 में कुल 20596 रोगी हुए। समस्या गम्भीर है। इसके निवारणार्थ राष्ट्रीय स्तर पर निवारक अभियान हाथ में लिया गया है जिसमें मुख्यतया प्रभावित क्षेत्रों में स्वच्छ जल प्रदाय योजना प्रस्थापित करने का कार्य क्रियान्वित किया जा रहा है।

नारू का उपचार नारू निकालने से ही किया जाता है पर इसके बचाव के लिए सर्वप्रथम तो जल को अच्छे मोटे कपड़े से छान कर या उबाल कर पीना ही श्रेयस्कर होता है। छानने से पिस्सू कपड़े में पूरी तरह छन जाते हैं। इसके उपरान्त स्वच्छ जल व्यवस्था स्थापित करनी होती है। इस व्यवस्था की अनुपलब्धि में नारू पीड़ित लोगों को जल स्रोतों में नहीं जाने देना चाहिये, जल का समय-समय पर चूने (quick lime) 60 gr/Litre, ब्लीचिंग पाउडर 5 oz प्रति 1000 गैलन या हाल ही में नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ कम्यूनिकेबल डिजीजिज द्वारा प्रस्तावित नये रासायनिक पदार्थ "Temephos or Abate" का 1 mg. प्रति लीटर या 50 ग्राम प्रति cu. मीटर के हिसाब से उपचार करना चाहिये। 'Temephos' 2% मृद्-कणिका के रूप में काम में लाया जाता है इससे जल-पिस्सू मर जाते हैं। पिस्सू-नाशक मछलियाँ भी जल स्रोतों में छोड़ी जा सकती हैं।

माइट Mite

वैसे तो माइट कई तरह की होती हैं पर हम केवल स्केबिईज (Scabies) पैदा करने वाली माइट पर ही विचार करेंगे। इस माइट को सार्कोप्टेस स्कॅबिआइ

(Sarcoptes Scabiei) कहते हैं। यह त्वचा में, अधिकांशतः अंगुलियों के बीच की जगह में, कोहनियों के आस-पास, बगल, स्तनों या नितम्बों (Buttocks) पर प्रवेश करती है और एक टेढ़ी-मेढ़ी सुरंग-सी बनाती है। सुरंग के भीतरी सिरे पर 2 या 3 अण्डे प्रतिदिन की दर से लगभग 30 अण्डे देकर यह मर जाती है। अण्डों में से लारवा 3 या 4 दिन में निकलते हैं और ये 3 दिन बाद निम्फ (nymphs) में परिवर्तित हो जाते हैं। निम्फ 5–7 दिन में पूर्ण माइट में परिवर्तित हो जाते हैं।

चित्र 7·4 माइट

लारवा सुरंग से बाहर आकर लोमकूप (Hair Follicles) में प्रवेश करते हैं और भारी खुजली पैदा करते हैं। खुजलाने से द्वितीयक संक्रमण (Secondary infection) के फलस्वरूप फोड़े-फुन्सी निकल आते हैं जो काफी कष्टदायक होते हैं। माइट का प्रसार व्यक्तिगत सम्पर्क या माइट ग्रस्त व्यक्ति के कपड़ों आदि से होता है।

उपचार—कुछ वर्ष पूर्व गन्धक के मरहम का प्रयोग किया जाता था जो काफी प्रभावकारी होता था पर इन दिनों 25% बेन्जाइल बेन्जोएट (Benzyl Benzoate) या 5% टेटमोसोल (Tetmosol) के घोल का प्रयोग किया जाता है जो और भी अधिक प्रभावकारी होता है। सर्वप्रथम व्यक्ति को अच्छी तरह नहलाया जाता है और तब उसके मुँह को छोड़ बाकी सारे शरीर पर इस घोल का किसी कोमल रोगन-ब्रश या क्षौर ब्रश से लेप किया जाता है। 12 घण्टे बाद पुनः लेप किया जाता है और उसके 12 घण्टे बाद उस व्यक्ति को अच्छी तरह साबुन से नहलाया जाता है तथा स्वच्छ वस्त्र धारण कराये जाते हैं। इससे अण्डे, लारवा, निम्फ आदि सब मर जाते है। रोगी के वस्त्र, चादर, तकिये, गिलाफ आदि खौलते पानी में डालकर धो दिये जाते है।

3. सूक्ष्मजीव (micro-organisms)

जैसा कि पूर्व में लिख आये हैं सूक्ष्म जीवों को हम चार श्रेणियों में विभाजित करते हैं—

A. जीवाणु–Bacteria
B. वाइरस–Virus
C. प्रोटोजोआ–Protozoa, और
D. फंगस–Fungus जिसमें मोल्ड्स–फफूंदी (moulds) व ईस्ट मुख्य है।

A. जीवाणु—ये अति ही सूक्ष्म एक-कोशीय (unicellular) चेतन पिण्ड है जिनमें प्रोटोप्लाज्म और प्रोटोप्लाज्म ही के बाहरी तह की बनी एक्टोप्लाज्म (Ectoplasm) की भित्ति होती है। भित्ति के चारों ओर एक आवरण भी होता है जिसे केपस्यूल (Capsule) कहते हैं। इनका आकार सदा एक-सा ही रहता है। जो साधारणतया 1μ से 18μ तक का होता है $(1\mu = \frac{1}{1,000}$ m m.) हालांकि इनकी गणना वनस्पति श्रेणी मे ही की जाती है फिर भी इनमें सेल्युलोज की भित्ति नहीं होती और न ही क्लोरोफिल (Chlorophyll) होता है। इनमें नाभिक (Nucleus) भी नही होता जबकि नाभिक कण अवश्य होते हैं। क्लोरोफिल के अभाव मे ये अपना आहार स्वय तैयार नही कर सकते, अतः इन्हें जड पदार्थों या चेतन प्राणियो पर निर्भर करना होता है। जब यह कार्बनिक जड पदार्थों पर निर्भर करते है तब मृतोपजीवी (Saprophytes) कहलाते हैं और जब चेतन प्राणियों पर निर्वाह करते है तब परजीवी–Parasites कहलाते हैं। परजीवी स्थिति में यदि ये पोषद–Host पर रोगादि का कोई कुप्रभाव पैदा नहीं करते तब इन्हें सहभोजी (Commensals) कहते हैं पर जब ये रोग उत्पन्न करते है तब रोगजनक (Pathogens) कहलाते है। *जीवाणु अपना प्रजनन मुख्यतया विखण्डन (fission) से करते है। 20 से 60* मिनट में एक जीवाणु दो भागो में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार यदि एक जीवाणु एक घण्टे में भी दो मे विभक्त होता है तो वह 24 घण्टों में लगभग 1 करोड़ 70 लाख की संख्या में अपनी वृद्धि कर लेता है।

जीवाणुओं का आकार, व्यवहार अभिरजन (Staining), सम्वर्ध (Culture) आदि के आधार पर अलग-अलग वर्गीकरण किया गया है किन्तु मोटे तौर पर आकार के आधार पर किया गया वर्गीकरण ही प्रमुख मान्यता रखता है अतः हम केवल इसी वर्गीकरण पर संक्षिप्त विचार करेंगे—

आकारीय वर्गीकरण (चित्र 7·5)

(i) कोकाई (Cocii) यह गोलाकार आकृति के होते हैं। इनका औसतन परिमाण 1μ के लगभग होता है। इनमें मुख्य निम्न श्रेणी के है—

(a) डिप्लोकोकाइ (Diplococii), यह जोड़े के रूप मे रहते हैं। परिमाण लगभग $1–1{\cdot}5\mu$ के होता है। यह निमोनिया, मेनिन्जाइटिस, गोनोरिया आदि रोग फैलाते हैं।

(b) स्ट्रप्टोकोकाई (Streptococii)—ये श्रृंखला के रूप मे रहते है । परिमाण लगभग 0·5–1μ का होता है । अधिकांशत: टान्सिलाइटिस, फेरिन्जाइटिस, ब्रॉन्को-न्युमोनिया, रूमेटिक ज्वर, एम्पाइमा, मेनिन्जाइटिस, पेरिटोमाइटिस प्रासूतिक ज्वर, स्कारलेट ज्वर, एण्डो कार्डाइटिस, नेफ्राइटिस, पाईमिया, सेप्टिसीमिया, आदि रोग फैलते हैं ।

(c) स्टेफिलोकोकाई (Staphylococii)—ये अंगूर के गुच्छे की भाँति समूह में रहते हैं । परिमाण लगभग 0.5–1μ का होता है । अधिकांशत: ये त्वचा पर फोड़े-फुंसी एवं कारबंकल पैदा करते हैं और एम्पाईमा, सेप्टिसीमिया, ऑस्टीयोमाइलाइटिस, पेरिटोनाइटिस, ऑटाइटिस-मीडियाई आदि रोग फैलाते हैं । भोजन विपाक्तता (Food-Poisoning) का भी यह कारण बनते है ।

(d) टेट्राजेन (Tetragena)—यह चार-चार के समूह में रहते है । परिमाण लगभग 1.5–2μ का होता है । अधिकाशत: प्राथमिक रोगकारक नही हैं पर द्वितीयक रोगकारक हो जाते हैं और तब कई प्रकार की शोथ पैदा कर सकते हैं ।

(ii) बेसीलाई (Bacillii)—ये दण्ड या शलाका (rod) के आकार के होते हैं और या तो अकेले ही या श्रृंखला के रूप में रहते हैं । इनका परिमाण लगभग 6 से 12×0·7 से 1·5μ का होता है । अधिकांशत: इनके पिण्ड पर कशाभ (Flagella) होते हैं अत: ये स्वत: गतिशील (motile) होते है । मुख्य बेसीलाई निम्न हैं—

(a) बेसिलस एन्थ्रेक्स (B. Anthrax)—पशु एवं मानव में एन्थ्रेक्स रोग फैलाते हैं ।

(b) बेसिलस डिफ्थीरिया (B.orCorynebacterium Diphtheriae) डिफ्थीरिया रोग फैलाते हैं ।

(c) बेसिलस कोलीफार्म (B. Coli, or Coliform)—अधिकाशत: ये मानव एवं पशु की आंतों में सहभोजी के रूप में रहते है पर आतों से परे ये विभिन्न रोग फैलाते हैं, जैसे पित्त की थैली की शोथ, पाइलाइटिस, सिस्टाइटिस, एपेन्डिसाइटिस आदि । जल, दूध या अन्य खाद्य पदार्थों में मानव एवं पशु-मल के संदूषण की जाच करने के लिए इन्हीं जीवाणुओं को संकेतक रूप में जांचा जाता है ।

(d) बेसिलस या साल्मोनेला वर्ग (Salmonella Group)
साल्मोनेला टाइफी–टाइफाइड ज्वर पैदा करता है
,, पैराटाइफी-पैराटाइफाइड ज्वर पैदा करता है
अन्य साल्मोनेला वर्ग के बेसिलाई भोजन-विषाक्तता पैदा करते हैं।

(e) बेसिलस या शिगेला डिसेन्टरी (Shigella Dysenteriae)—पेचिश पैदा करते हैं।

(f) बेसिलस या पाश्चुरेला पेस्टिस (Pasteurela Pestis)—प्लेग फैलाते हैं।

(g) बेसिलस या माइकोबेक्टीरियम ट्युबरकुलोसिस (Mycobacterium tuberculosis) क्षय रोग फैलाते हैं।
माइकोबेक्टीरियम लेप्रे (Myco. Leprae) कुष्ट रोग फैलाते हैं।

(h) बेसिलस या क्लोस्ट्रीडियम (Clostridium) टेटेनाई (Tetani) टेटनस फैलाते हैं।
,, ,, (बॉटूलाइनम Botulinum) भोजन को विषाक्त करते हैं।
,, ,, वेलशाई (Welchii) आंतों में सहभोजी की तरह रहते हैं पर आंतों से परे गैस गैन्ग्रीन पैदा करते हैं।

(iii) विब्रियो (Vibrio)—शलाका आकार के ही होते हैं पर कोमा (,) की तरह मुड़े होते हैं। इनके एक सिरे पर पक्ष्म (Cilia) होता है। ये स्वतः गतिशील होते हैं। इनका परिमाण लगभग $1.5 \times 0.5\mu$ होता है। यह हैजा रोग फैलाते हैं।

(iv) स्पाइरिला (Spirilla) अपने शलाका आकार में कुछ–4 या 5–मोड़ लिये हुए होते हैं। इनके एक या दोनों सिरों पर कशाभ (flagella) होते है जिनसे ये स्वतः गतिशील बने रहते हैं। परिमाण लगभग 2 से$5\mu \times 0.5\mu$ होता है। ये रैट-बाइट-ज्वर फैलाते हैं।

(v) स्पाइरोकीटा (Spirochaeta)—इनका पिण्ड स्प्रिंग की तरह स्पाइरिला से अधिक मोड़ लिये हुए होता है; यह मोड़ नियमित रूप एवं परिमाण का होता है। इनमें कशाभ नहीं होते, फिर भी ये पिण्ड मोड़ के कारण स्वतः गतिशील होते हैं। परिमाण में ये लगभग 3–18μ की लम्बाई के होते हैं। ये उपदंश (Syphilis), यॉज (Yaws) लेप्टोस्पाइरा रुग्णता तथा पुनरावर्ती ज्वर फैलाते हैं।

जीवाणुओं की जीवन-प्रणाली (Mode of Life)

जैसाकि हमने पूर्व में विवेचन किया, जीवाणु मृतोपजीवी या परजीवी होते है और परजीवियों में भी या तो सहभोजी या रोगजनक। इन्हे अपना आहार अपने पोषद ही से प्राप्त करना होता है। चूंकि इनका पिण्ड प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, लाइपिड्स, खनिज पदार्थ एवं जल से बना होता है—जल लगभग 70 से 85% होता है—अतः इन्हे इन्हीं सब पोषक तत्वो की आवश्यकता होती है। खनिज पदार्थों मे इन्हें फॉस्फोरस, सल्फर, सोडियम, पोटॉशियम, आइरन व केलशियम की आवश्यकता होती है। इन्ही पदार्थो के चयापचय के लिए अधिकांश जीवाणुओ को ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। अत: ऐसे जीवाणुओं को ऑक्सीय जीवाणु कहते है, लेकिन कुछ श्रेणी के जीवाणुओ को ऑक्सीजन की आवश्यकता नही होती। अत: इन्हे अनॉक्सीय जीवाणु कहते हैं। अधिकाश रोगजनक जीवाणु ऑक्सीय श्रेणी के होते है। केवल क्लोस्ट्रीडियम ही अनॉक्सीय श्रेणी मे आते है। जीवाणुओ को उपर्युक्त पोषण तत्वों के अनन्तर आवश्यक वृद्धि घटकों (Essential growth factors) की भी आवश्यकता होती है जिन्हे ये स्वयं संश्लेषित कर लेते है। इनमें मुख्य विटामिन "बी–वर्ग" के तत्व है जैसे बी$_{12}$, थायमिन, फोलिक एसिड, निकोटिनिक एसिड, बायोटिन राइवोफ्लेविन आदि। इसलिए हमारी आंतों में भी बहुत से सहभोजी जीवाणु वह तत्व पैदा करते रहते हैं जो हमारे लिए अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होते हैं। जीवाणुओं को अपने जीवनयापन के लिए उपयुक्ततम ताप (Optimum temperature) 37°C चाहिए लेकिन यह अधिकतम 70°C या न्यूनतम 5°C ताप मे भी वने रहते है। आर्द्र ऊष्मा (moist Heat) मे 10 या 15 मिनट तक तापने पर अधिकांश वर्धी रूप (Vegetative form) के जीवाणु नष्ट हो जाते है; पर अनेक जीवाणु जो अनुपयुक्त परिस्थितियो में स्पोर (spore) बन जाते है; वे नही मरते। उन्हे लगभग 130°C से 140°C तक की आर्द्र ऊष्मा में एक या $1\frac{1}{2}$ घण्टे तक तपाना होता है। जीवाणु अधिकांश प्रकाश पसन्द नही करते। सूर्य के तेज प्रकाश में और अल्ट्रावायलेट किरणों में अधिकांश जीवाणु नष्ट हो जाते है। इनका प्रजनन, जैसा कि पूर्व मे लिखा जा चुका है, विखण्डन द्वारा ही होता है।

(B) वाइरस (Virus)

ये अत्यन्त ही सूक्ष्म, निस्यन्दी (Filtrable) और अल्ट्रा माइक्रोस्कोपिक (ultramicroscopic) परजीवी चेतन पिण्ड हैं जो सरासर रोगजनक कीटाणु है।

इनका परिमाण मिली-माइक्रोन–m.μ. में मापा जाता है जो μ का $\frac{1}{1000}$ वाँ भाग होता है। साधारणतया वाइरस 10 से 350 m.μ. के होते हैं जबकि स्टेफिलोकोकस 1000 mμ. या 1μ का होता है। इन्हें पनपने के लिये या इनका

(culture) करने के लिए जीवित ऊतकों (tissues) की ही आवश्यकता होती है। इनको पर्याप्त संख्या में पनपने के लिए—जिसमें ये रोग उत्पन्न कर सकें—काफी समय लगता है अतः इनके द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले रोगों का उद्भवन काल (incubation period) लम्बा होता है। जीवाणु जहाँ कुछ ही घण्टों या दिनों में रोग उत्पन्न कर पाते हैं वहाँ वाइरस सप्ताहों का समय लेते हैं। इनके द्वारा उत्पादित रोगों से ठीक होने पर, व्यक्ति में, इनके खिलाफ प्रतिरक्षा शक्ति बढ़ जाती है जिससे अधिकांश में उसके उसी रोग से दुबारा रोगी होने की सम्भावना अति ही न्यून हो जाती है।

वाइरस मुख्यतया निम्न रोग फैलाते हैं :—

शीतला, छोटी माता (chicken-pox), खसरा (measles), रेबीज, पोलियो, मस्तिष्कशोथ, संक्रामक-यकृत-शोथ, डेंगु, इन्फ्लुएन्जा, पीतज्वर (yellow fever), हर्पीज (Herpes), मम्प्स (mumps) आदि।

वाइरस ही के समान—लेकिन इनसे परिमाण में कुछ बड़े और जीवाणुओं से छोटे-300 से 500m.μ के अन्य कीटाणु होते हैं जिन्हें रिकेट्सिया (Rickettsia) कहते हैं और ये मुख्यतया टाइफस रोग पैदा करते हैं।

(C) प्रोटोज़ोआ (Protozoa)

प्रोटोज़ोआ प्राणी (animal) श्रेणी के एक-कोशीय जीव होते हैं जिनमें प्रोटोप्लाज़्म होता है और उनकी बाहरी तह (भित्ति)—एक्टोप्लाज्म की बनी होती है जो इन्हें संरक्षण के साथ-साथ गमन शक्ति (Locomotion) भी प्रदान करती है। इनमें नाभिक भी होता है और ये श्वसन, पाचन, उत्सर्जन आदि क्रियाओं में स्वतः सक्षम होते हैं। अधिकांशतः ये परजीवी एवं रोगजनक होते हैं और इनका प्रसार रोगवाहक जन्तुओं द्वारा होता है। परिमाण में ये 2.5 से 35μ तक के हो सकते हैं। इनका प्रजनन लैंगिक, अलैंगिक या दोनों ही प्रकार का होता है। लैंगिक प्रजनन अधिकांश रोगवाहक जन्तुओं में होता है जबकि अलैंगिक पोषद शरीर ही में। कुछ प्रोटोजोआ जैसे एमीबा या जियार्डिया, सिस्ट (cyst) का रूप धारण करके, वर्षों तक अपना जीवनयापन करते रहते हैं और पोषद में रोग की अवस्था बनाये रखते हैं।

प्रोटोजोआ में हम निम्न मुख्य-मुख्य जातियों पर ही कुछ संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

	वंश	जाति	मानव पोषक में आवास स्थल	उत्पादित रोग
A.	एन्टामीबा या एन्ट-अमीबा (Ent-amoeba)	ए हिस्टोलिटिका (E. Histolytica) (20–30μ.)	बड़ी आंत	एमीबिक पेचिश, यकृत-शोथ या यकृत फोड़ा
B	जियार्डिया (Giardia)	जि-इन्टेस्टाइनेलिस (G Intestinalis) (7–14 μ.)	छोटी आंत	प्रवाहिका (Diarrhoea)
	...			

C. ट्रिपेनोसोमा (Trypanosoma)	ट्रि. गैम्बिएन्सि (T. Gambiense) (15–37 μ)	रक्त, लसीका पर्व (Lymph node) व केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र (Central Nervous System)	निद्रा व्याधि (Steeping-Sickness)
D. लीशमॅनिया (Leishmania)	(i) ली. डोनोवानाई (L. Donovanai) (2–4μ)	जालीय अंतःकला तंत्र (Reticulo-Endothelil System)	कालाजार (Kala-azar)
	(ii) ली. ट्रोपिका (L. Tropica)	त्वचा	ऑरिएन्टल व्रण (Oriental Sore)
E. प्लाजमोडियम (Plasmodium)	(i) प्ला. वाइवैक्स (Pl. Vivax) (2·5-3μ to9-10μ.)	लाल रक्त कणिकाएँ (R. B. C.)	मलेरिया—हर दूसरे दिन आने वाला ज्वर
	(ii) प्ला. फाल्सिपैरम (Pl. Falciparum) (1.25–1.5μ. to 4.5–5μ.)	,,	मलेरिया प्रतिदिन आने वाला ज्वर
	(iii) प्ला. मलेरी (Pl. malariae) (3μ to 10μ.)	,,	मलेरिया हर तीसरे दिन आने वाला ज्वर

D. फंगस (Fungus)

फन्जाई (Fungii) वनस्पति श्रेणी के एक-कोशिक से लेकर बहुकोशिक, मृतोपजीवी व परजीवी चेतन पिण्ड हैं जिनमें अनेको जातियाँ हैं और ये लगभग सभी जगह होते हैं। इनमें क्लोरोफिल नहीं होता और ये अपना आहार स्वयं नहीं बना पाते, अतः इन्हें अन्यों पर निर्वाह करना पड़ता है। एक ओर इनमे से प्राप्त अनेकों मोल्ड्स एवं ईस्ट अनेकानेक व्यवसायों एवं उद्योगों में लाभकारी सिद्ध होते हैं; एण्टिबायोटिक व विटामिन की प्राप्ति कराते हैं; भाँति-भाँति के कार्बनिक अम्ल प्राप्त कराते हैं; अनेकों एन्जाइम्स प्राप्त कराते हैं; वहीं दूसरी ओर ये कुछ रोगोत्पादन भी करते हैं। मानव रोगोत्पादन के क्षेत्र में हम केवल दो जातियों का ही उल्लेख करेंगे—(1) माइक्रोस्पोरीन आंडुइनी (Microsporon andouini) जो अधिकांश बच्चों के सिर में दाद पैदा करते हैं, और (2) ट्राइकोफाइटॉन (Trichophyton) जो वयस्क लोगों में दाढ़ी, गर्दन व नाखून आदि पर दाद पैदा करते है।

एन्थ्रेक्स बेसीलस को प्रमाणित किया। पास्चूर ने इस बेसीलस के अनुग्र (Avirulent) उपभेद (Strain) को सम्वर्ध (Culture) विधि से तैयार किया और इससे वेक्सीन तैयार की, जो इस रोग के बचाव में अत्यन्त ही सफल सिद्ध हुई। इसी प्रकार इन्होंने कुक्कुट कॉलरा (Chicken cholera) का भी अध्ययन किया और इसके प्रतिरोधात्मक वेक्सीन का टीका तैयार किया। इन्होने जीवाणुओं की सक्रियता को नियन्त्रित करने या उनका विध्वंस करने के लिये अत्यन्त ही महत्वपूर्ण पास्चूरीकरण (Pasteurisation) विधि का भी आविष्कार किया। इस प्रकार विभिन्न जीवाणुओ की खोज-तलाश, उनके द्वारा उत्पादित रोगों का प्रतिकार एवं वेक्सीन आदि बनाने के कार्य का श्रीगणेश पास्चूर द्वारा किया गया।

रोबर्ट काक (Robert Koch : 1843–1910)—कॉक जर्मनी मे एक चिकित्सक का कार्य करते थे। उन्होंने भेड, बकरी, गाय और घोड़ों में होने वाले एन्थ्रेक्स रोग के बेसीलस का गहन अध्ययन किया, माइकोबेक्टीरियम-ट्यूबरकुलोसिस का विस्तार से विवेचन किया, कई जीवाणुओं के जीवन-चक्र (life-cycle) का अध्ययन किया, जीवाणुओ के सम्वर्ध (culture) पद्धति में नये-नये आविष्कार किये जीवाणु परीक्षण के लिये माइक्रोस्कोप में महत्वपूर्ण सुधार किये, अधिक शक्ति के लेन्स का निर्माण किया और जीवाणुओ की रोगोत्पादन व रोग-प्रसारण प्रक्रिया पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला। क्षय रोग जीवाणुओं पर ऐसे ही अध्ययन के फलस्वरूप उन्होंने निम्न अभ्युपगम (Postulates) अर्थात् स्वीकृत तथ्य प्रस्तुत किये—

(i) अमुक रोग उस रोग के रोगजनक जीवाणुओं से होता है, अत: रोगी में वह रोगजनक जीवाणु होने ही चाहिये।
(ii) इन जीवाणुओं का अलग से सवर्धन होना चाहिये।
(iii) संवर्धित जीवाणु से नये व्यक्ति मे रोग उत्पन्न होना ही चाहिये, और
(iv) नये व्यक्ति में पाये जाने वाले जीवाणु ठीक वैसे ही होने चाहिये जो मूल रोगी मे पाये गये थे।

इस प्रकार रोबर्ट कॉक ने पास्चूर द्वारा प्रतिपादित उस परिकल्पना (Hypothesis) को प्रतिष्ठित किया कि जीवाणु निश्चित रूप से रोगोत्पादक कारण बनते हैं।

ऐमिल वॉन बेरिंग (Emil Von Behring, 1854–1917)—एमिल बेरिंग रोबर्ट कॉक संस्था ही मे जीवाणु-विज्ञानी (Bacteriologist) के पद पर कार्य करते थे। उन्होंने टेटनस व डिफ्थीरिया बेसीलस के ब्रॉथ-सम्वर्ध माध्यम (Broth culture media) मे इन जीवाणुओं के टॉक्सिन (Toxin) का पता लगाया और इसका थोड़ी-थोडी मात्रा में बार-बार घोडों मे इन्जेक्शन लगाकर उनके रक्त सीरम में ऐण्टिटॉक्सिन (Anti-toxin) तैयार किया। यह ऐण्टिटॉक्सिन इन्ही जीवाणुओं द्वारा उत्पादित रोगों के इलाज और बचाव में अत्यन्त ही लाभकारी सिद्ध हुआ।

8
संक्रमण

संक्रमण (Infection)

संक्रमण का अर्थ है रोग-जनक सूक्ष्म जीवों का मानव या पशु शरीर में प्रवेश, उनका विकास, समुचित संख्या में वृद्धि और कुप्रभाव की उत्पत्ति। कुप्रभाव वस्तुतः रोगोत्पत्ति के रूप में ही होते हैं। अतः वह सभी रोग जो संक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं, संक्रामक रोग (Infectious diseases) कहलाते है। संक्रामक रोग अधिकांशतः एक व्यक्ति से दूसरे में फैलने वाले होते है अतः इन्हें संचारी रोग कहते है (Communicable diseases)। रोग संचार सीधा रोगी से; रोगवाहक व्यक्ति (Carrier) से; किसी मध्यस्थ कारक (Agent) जैसे रोगवाहक कीट से, संदूषित वस्तु (Fomites) आदि से या वाहनिक पदार्थों जैसे जल, दूध, खाद्य पदार्थों आदि से होता है। जो रोग सीधे रोगी के सम्पर्क या संसर्ग से फैलते है, उन्हे सांसर्गिक (Contagious) रोग कहते है जैसे—उपदंश (Syphilis), गोनोरिया (Gonorrhoea), स्केबिईज आदि। वे रोग जो संचारी नही होते, जैसे मधुमेह, उच्च रक्त-दाब, हृद्वाहिका रोग (Cardio Vascular diseases), पोषणज रोग (nutritional disorders or diseases) कैन्सर आदि, को असंचारी रोग (non-communicable diseases) कहते हैं।

संचारी रोग जब एक ही समय में किसी विस्तृत क्षेत्र में एक साथ अनेकों लोगों में फैलते हैं तब वह महामारी या जानपदिक (Epidemic) रूप ले लेते हैं—जैसे शीतला, खसरा, हैजा आदि; लेकिन यदि वह किसी सीमित क्षेत्र में, सक्रमण के द्वारा कहीं बाहर से आयातित न होने पर भी, लम्बे समय के लिए बारह महीनो से कम या अधिक समय तक बने रहते हैं तब उन्हें स्थानिक (Endemic) होने की संज्ञा दी जाती है जैसे टाइफाइड, एमीबारुग्णता (Amoebiasis), हुकवर्म फाइलेरिया आदि। जब संक्रमण इक्का-दुक्का लोगों में ही समय-समय पर होता रहता है और उन लोगों के आपसी सम्पर्क की कोई सम्भावना भी नहीं होती, तब इन्हें विकीर्ण (Sporadic) रूप में होने की संज्ञा दी जाती है। यदि महामारी एक ही समय में एक साथ अनेकों

है तथा लक्षण-हीन होने के कारण अन्यों को उससे सावधानी बरतने की आवश्यकता भी महसूस नही होती । अतः ऐसे व्यक्ति रोग-प्रसारण में अधिक खतरनाक सिद्ध होते हैं और इनसे भी अधिक खतरनाक स्वस्थ रोग-वाहक व्यक्ति होते हैं ।

रोग-वाहक व्यक्ति (Carriers)

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, वे व्यक्ति जो रोग-वाहक सूक्ष्म जीवों को आश्रय तो देते हैं पर स्वयं रोगी नहीं होते या रोग लक्षणों को प्रकट नही करते, वे रोग-वाहक व्यक्ति कहलाते है । इन्हें हम चार श्रेणियो मे विभक्त करते है—

(a) उद्भवन-कालिक-रोगवाहक (Incubatory Carrier)—ये वे व्यक्ति हैं जो संक्रमण होने के समय से लक्षण प्रकट होने तक की अवधि मे सक्रमण प्रसारित करते हैं । ऐसे रोगवाहक व्यक्ति अधिकाश इन्फ्लूएन्जा, जुकाम, खसरा, शीतला, डिफ्थीरिया, कूकर खांसी (Whooping Cough), मम्प्स आदि रोग फैलाते है ।

(b) उल्लाघ-रोगवाहक (Convalescent Carrier)—रोग मुक्ति की ओर अग्रसर होने वाले वे व्यक्ति जिनमे अब रोग-लक्षण तो नही रहे पर जो अभी पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं हो पाये हैं । ये अधिकांश टाइफाइड, हैजा, पेचिश इन्फ्लूएन्जा आदि रोग फैलाते हैं ।

(c) चिरकारी-रोग-वाहक (Chronic Carriers)—वे व्यक्ति है जो रोग मुक्ति के बाद भी चिरकाल तक रोग-प्रसारित करते रहते है । ऐसे व्यक्ति अधिकांश टाइफाइड, पेचिश, डिफ्थीरिया, संक्रामी यकृत शोथ, गोनोरिया आदि रोग फैलाते रहते है ।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के रोगवाहक लक्षणहीन व्यक्ति ऐसे होते है जो या तो तुरन्त रोगी होने वाले है या रोगी हो चुके हैं ।

(d) स्वस्थ रोग-वाहक (Healthy Carriers)—ये व्यक्ति स्वयं तो रोगग्रसित नहीं होते पर रोगाणु वहन करते हैं—रोगाणु इनमें प्रश्रय पाते है । ये व्यक्ति जब रोग से आक्रान्त नहीं होते तो इनमें लक्षण पैदा होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । लेकिन ऐसे रोग-वाहक व्यक्ति सबसे अधिक खतरनाक होते हैं । अधिकांशतः ये रोग-वाहक व्यक्ति पोलियो, हैजा या मेनिन्गोकोकल मेनिनजाइटिस के रोगाणु प्रसारित करते रहते है ।

रोगी या रोगवाहक व्यक्ति से रोग-जनक सूक्ष्म जीवों के निष्कासन मार्ग

(a) श्वसन-मार्ग (Respiratory)—नाक, मुंह, गला श्वसन-नलियाँ व फेफडों से खाँसने, छीकने, थूकने, या जोर से बोलते समय जुकाम, खाँसी, मम्प्स, शीतला, इन्फ्लूएन्जा, निमोनिया, निमोनिया-जनक-प्लेग, खसरा, तपेदिक आदि के रोग-जनक सूक्ष्म जीव निष्कासित होते है ।

(b) आन्त्र मार्ग (Intestinal)—मलमूत्र में टाइफाइड, पेचिश, प्रवाहिका, हैजा, आंत्रशोथ, पोलियो, संक्रामी-यकृत-शोथ आदि के सूक्ष्म जीव एवं आंत-कृमि के अण्डे आदि निष्कासित होते हैं।

(c) मूत्रीय मार्ग (Urinary)—लगभग वे ही सूक्ष्म-जीव जो आन्त्र-मार्ग से निष्कासित होते हैं।

(d) त्वचा —फोड़े, फुन्सी, व्रण आदि की पपड़ी से शीतला, छोटी माता और पूतिजनक रोगाणुओं का निष्कासन।

(e) रक्त —मच्छरों, पिस्सुओं, बालू या रेतली मक्खी व जूं आदि से मलेरिया, फाइलेरिया, डेंगु, कालाजार, पीत ज्वर, टाइफस, निद्राव्याधि आदि के रोग-जनक सूक्ष्म-जीव निष्कासित होते हैं।

2. संचार पद्धति (Mode of transmission)

रोग-जनक सूक्ष्म-जीवों का संचार निम्न रूप से होता है—

(i) स्पर्श या संसर्ग माध्यम से—(By contact)

(a) प्रत्यक्ष स्पर्श या संसर्ग (Direct contact)—इनमें उपदंश, गोनोरिया, खुजली, दाद, स्केबिईज, इम्पेटाइगो और नवजात शिशु में जनेन्द्रिय से होने वाले संक्रमण से नेत्राभिष्यन्द-*Ophthalmia* Neonotorum आदि।

(b) अप्रत्यक्ष स्पर्श या संसर्ग (Indirect contact)—

(a) हाथों के माध्यम से—प्रवाहिका, पेचिश, टाइफाइड, हैजा, आंत-कृमि आदि।

(b) संक्रमणी पदार्थों से (Fomites)—रूमाल, तौलिए बिस्तर, पहिनने के कपड़े, कप, चम्मच, चाकू, अन्य बरतन, पेन्सिल, कलम, खिलौने, पुस्तक आदि के माध्यम से डिफ्थीरिया, तपेदिक, शीतला, खसरा, छोटी माता, नेत्रश्लेष्मला शोथ, ट्रेकोमा, टाइफाइड, पेचिश, आंत्र-शोथ, हैजा आदि।

(c) बिन्दुक माध्यम से (Droplet)—खांसने, छींकने, जोर से बोलने पर 2 या 3 फुट के फासले तक के सम्पर्क से शीतला, खसरा, जुकाम, इन्फ्लूएन्ज़ा, निमोनिया, कूकर खांसी, मम्प्स तपेदिक आदि।

(ii) वाहनिक पदार्थों के माध्यम से (Vehicular Transmission)—जल, दूध, आइसक्रीम, भोजन या भोजनीय खाद्य पदार्थ, सीरम, प्लाज्मा आदि

से वहन किये जाने वाले रोग-जनक रोगाणु जिनमें टाइफाइड, हैजा, आंवशोथ, पेचिश, प्रवाहिका, नारु, गोयक्ष्मा, संक्रामी-यकृत-शोथ, आदि रोग मुख्य रूप से फैलते है।

(iii) रोग-वाहक कीट (vectors) के माध्यम से फैलने वाले रोगों का वर्णन पूर्व मे कर चुके है।

(iv) वायु-वाहित (air borne)

(a) बिन्दुक द्वारा और | फैलने वाले रोगों का उल्लेख
(b) धूलि (dust) द्वारा | ऊपर किया जा चुका है।

धूल अधिकांशतः रोगी के बिस्तर झाड़ने, झाड़ू लगाने आदि से उड़कर हवा के साथ हमारे श्वसन क्षेत्र में पहुँचती है या खुले पड़े खाद्य पदार्थों के माध्यम से पाचन-तन्त्र में पहुँच कर संक्रमण प्रसारित करती है।

(v) अपरापार संचारण (Transplacental Transmission)—कभी-कभी गर्भ ही मे बच्चे को खसरा, रुबेला (Rubella)–एक प्रकार की खसरा जैसी ही बीमारी, उपदंश आदि के अपरा से होकर सक्रमण होने की सम्भावना रहती है।

3. **स्वस्थ व्यक्ति में रोगजनक सूक्ष्म जीवों का प्रवेश** (Mode of entry) रोग-जनक सूक्ष्म जीवों के स्वस्थ व्यक्ति में स्वाभाविक प्रवेश-मार्ग से प्रविष्ट होने का रोग-सचारण में विशेष महत्त्व है। यदि इनका स्वाभाविक मार्ग से प्रवेश होता है तब तो ये रोग उत्पन्न कर पाते है अन्यथा नही/जैसे यदि हैजा के जीवाणु भोजन, जल आदि के माध्यम से किसी के पेट में पहुँचते है तब यह रोग पैदा कर पाते है किन्तु यदि इन्हे इन्जेक्शन द्वारा शरीर में पहुँचाया जाय तो ये रोग पैदा नही कर पाते। रोगाणुओं के मुख्य प्रवेश मार्ग (channels of infection) निम्न है—

(i) **श्वसन** (Inhalation)—इस मार्ग से प्रविष्ट होने वाले रोगाणु अधिकाश बिन्दुक प्रसार पद्धति से ही प्रवेश पाते है। रोगी या रोगवाहक व्यक्ति से नजदीकी सम्पर्क, असवातित आवास, अधिक सघन-जनवास या भीड़-भाड़ के स्थान इस प्रसारण में अधिक सहायक होते है।

(i) **अशन** (Ingestion)—वाहनिक पदार्थों के माध्यम से फैलने वाले रोगों के रोगाणु इसी मार्ग से प्रवेश पाते है।

(iii) **संरोपण** (Inoculation)—इसमे रोगाणु त्वचा या श्लेष्मल–झिल्ली (mucous membrane) मे होकर प्रवेश पाते हैं जैसे एन्थ्रेक्स, टेटेनस व ग्लेन्डरर्स; त्वचा में पडी खरौच, रगड़ या अपघर्षण आदि मे होकर रेबीज—रोग-प्रसारण करने वाले जानवरों के काटने से क्षतिग्रस्त त्वचा में होकर; मलेरिया, फाइलेरिया, पीत-ज्वर, डेंगु, ग्रन्थिल प्लेग, कालाजार, टाइफस, निद्रा-व्याधि आदि क्रमशः मच्छर, पिस्सू, बालु-मक्षिका, जूं, सेत्सी मक्षिका आदि के काटने से और उपदश व गोनोरिया श्लेष्मल-झिल्ली में पड़ी रगड़ व खरौच में होकर फैलते है।

इन्फ्लुएन्जा	1 से 3 दिन	लक्षण उत्पत्ति के एक सप्ताह बाद तक।
डेंगु (Dangue)	3 से 15 दिन	लक्षण उत्पत्ति के एक दिन पूर्व से लगभग 5 दिन तक।
पीत ज्वर (Yellow fever)	3 से 10 दिन	लक्षण उत्पत्ति के 3-4 दिन बाद तक। यदि इस अवधि में मच्छर काटता है तो संक्रमण ग्रहण कर पाता है।
पोलियो (Poliomyelitis)	7 से 14 दिन	उद्भवनकाल के उत्तरार्ध मे लगभग 1 सप्ताह और लक्षण उत्पत्ति के बाद भी 1 सप्ताह तक।
मम्प्स (Mumps)	2 से 3 सप्ताह	जब तक पेरोटिड ग्रन्थि (Parotid gland) की सूजन नही मिट जाती।
डिपथीरिया	2 से 5 दिन	औसतन 2 से 4 सप्ताह; पर जब तक गले व नाक से 24 घण्टे के अन्तर पर लिये गये संवर्ध स्वॉब (Culture Swab) मे जीवाणु न पाये जायें।
टाइफाइड	5 से 21 दिन	जब तक मल-मूत्र जीवाणु मुक्त नही हो जाते। लगातार तीन बार परीक्षण करना होता है।
हैजा	कुछ घण्टो से 5 दिन	औसतन 7 से 14 दिन; पर जब तक मल जीवाणु-रहित नही हो जाता।
प्लेग	2 से 7 दिन	ग्रन्थिल प्लेग संक्रामक नही होता, केवल निमोनिक प्लेग ही संक्रामक होता है।
बेसीलरी पेचिश	1 से 6 दिन	जब तक मल जीवाणु-रहित नही हो जाता।

रोग-निरोध-क्षमता या प्रतिरक्षा शक्ति (Immunity)

व्यक्ति मे रोगोत्पादक सूक्ष्म जीवो के प्रभाव का निराकरण करने की शक्ति को रोग-निरोध-क्षमता या प्रतिरक्षा शक्ति कहते है। यह शक्ति व्यक्ति मे स्वाभाविक भी हो सकती है या कृत्रिम रूप से उपार्जित की जा सकती है।

(Betalysin) आदि रोगाणुओं का अपघटन (Lysis) करते हैं और श्वेत रक्त-कणियां इन्हें निगल कर नष्ट करती हैं। इस पर भी यदि रोगाणु संख्या में अधिक होते हैं और बच निकलते हैं तो जालीय अन्तःकला-कोशिकाएं (Reticulo-Endothelial cells) इन्हें निगल जाती हैं और नष्ट कर देती हैं। फिर भी यदि रोगाणु इस लड़ाई में जीत जाते हैं तब रोगोत्पत्ति करते हैं।

(2) जातिगत—कुछ बीमारियाँ केवल मानव जाति में ही होती हैं पशु-जाति मे नहीं, जैसे उपदंश, गोनोरिया, हैजा, खसरा, पोलियो, कुष्ट आदि। कुछ बीमारियाँ केवल पशु-जाति ही मे होती हैं, मानव में नही, जैसे, रिंडरपेस्ट या डिस्टेम्पर। पशुओं में भी ग्लैंडर्स केवल घोड़ों मे ही होती है, गाय-बैल में नहीं। मानव में भी अफ्रीका के कृष्णवर्ण के लोग जहाँ पीत ज्वर से अधिक बचाव क्षमता लिए रहते हैं वहाँ तपेदिक से बचाव की क्षमता नही रखते।

B. कृत्रिम उपार्जित रोग-निरोध-क्षमता

1. सक्रिय—(1) रोग होने के बाद, या थोड़ी-थोड़ी मात्रा मे समय समय पर संक्रमण होते रहने से लक्षणहीन रोग होने पर जालीय-अन्त:कला-प्रणाली, उस रोग-विशेष के रोगाणुओं के खिलाफ ऐण्टिबोडीज पैदा करती हैं जो व्यक्ति को दुबारा उसी रोग से आक्रांत होने से बचाये रखती हैं। यह बचाव-क्षमता लम्बे समय की होती है जैसे–शीतला, खसरा, डिप्थीरिया, पोलियो पीतज्वर आदि से आक्रान्त व्यक्ति दुबारा इस रोग का शिकार नहीं होते और यदि कभी हों भी तो अत्यन्त ही हल्के रूप में।

(2) टीकों द्वारा उपार्जित रोग-निरोध-क्षमता—टीके अधिकांश वैक्सीन या टॉक्सॉइड के रूप में तैयार किये जाते हैं। कुछ वैक्सीन जीवित अनुग्र उपभेद (Avirulent strain) वाइरस या जीवाणुओं से तैयार किये जाते हैं, जैसे शीतला, पोलियो, रेबीज, बी. सी. जी. खसरा, पीतज्वर आदि और कुछ मृत जीवाणुओं से जैसे टाइफाइड, हैजा, प्लेग, कूकर खांसी, टाइफस आदि के। टॉक्सॉइड के टीके टॉक्सीन के विषैले भाग को निकालने के बाद शेष बचे पदार्थ के बनाये जाते हैं। इनमें डिफ्थीरिया व टेटनस टॉक्सॉइड मुख्य हैं।

किन-किन रोगों में कौन-कौन से टीके कब-कब लगाये जाते हैं और इनसे उत्पादित सक्रिय रोग-निरोध-क्षमता किस अवधि तक रहती है इसका विवरण अग्रांकित तालिका मे दिया जाता है:—

टाइफाइड	T.A B वैक्सीन मृत जीवाणु	प्रथम 0 5 ml. द्वितीय 0.5ml. 4 से 6 सप्ताह के अन्तर पर	[प्रथम वर्ष] बाद में हर वर्ष एक टीका 0.5ml. का यदि रोग स्थानिक रूप में होता हो ।	एक वर्ष
रेबीज़	अनुग्र जीवित वाइरस वैक्सीन	2–10 ml.	जब भी रेबीज फैलाने वाले जानवर काटें और उनके रोगी होने का पूर्ण खतरा हो । 14 टीके-प्रति दिन एक टीके के हिसाब से लगाये जाते हैं ।	रेबीज होने के खतरे की अवधि के परे तक
पीत ज्वर	अनुग्र जीवित वाइरस वेक्सीन	0.5 ml.	एक ही टीका	10 वर्ष तक । भारत मे यह रोग सौभाग्य से अब तक नही हुआ है ।

2. निष्क्रिय-रोग-निरोध-क्षमता—माता से प्राप्त (i) गर्भ ही मे माता के रक्त में विद्यमान ऐण्टिबॉडीज—अपरा में से होकर—बच्चे को प्राप्त होते हैं या फिर कोलोस्ट्रम (colostrum) व दूध में होकर । ये ऐण्टिबॉडीज अधिकांश शीतला, खसरा, मम्प्स, डिप्थीरिया व टेटनस के प्रतिरोधात्मक होते हैं पर इनका प्रभाव केवल 3–6 माह तक ही रहता है । अतः इसी अवधि के अन्दर ही अन्दर सक्रिय रोग-निरोध-क्षमता उपार्जन के लिये टीके लगवाना प्रारम्भ कर दिया जाता है ।

(ii) पूर्व तैयार किये गये ऐण्टिबॉडीज का नियमित मात्रा मे टीका लगाया जाता है जिससे सम्भावित रोगोत्पत्ति का पूर्व ही से निराकरण किया जा सके, या रोग की उग्रता को अत्यन्त ही हल्का किया जा सके और रोग होने पर उपचार किया जा सके। ये ऐण्टिबॉडीज, घोड़ो या भेड़ों मे टॉक्सीन का थोडी-थोड़ी मात्रा मे टीका लगा कर तैयार किये जाते हैं और ऐण्टिटोक्सिक सीरम के रूप में उपलब्ध होते हैं । गामा-ग्लोबुलीन, या इम्यूनो-ग्लोबुलिन रोगी हुए व्यक्ति के सीरम से प्राप्त किया जाता है जो अधिकांश रोग की उग्रता को कम करने के काम मे लाया जाता है । इनका

सहायता की व्यवस्था। उपचार यथासम्भव समूल संक्रमण निवारण (Radical treatment) का हो।

2. अधिसूचना (notification)—डॉक्टर अथवा वैद्य को संक्रामक रोग की सूचना अनिवार्य रूप से स्वास्थ्य-अधिकारियों को तुरन्त देनी होती है जिसमें रोगी एवं रोग का पूर्ण विवरण हो जिससे निवारक कार्यवाही तुरन्त की जा सके। यदि डॉक्टर-वैद्य रोगी को नहीं देख पायें तो परिवार के मुखिया, मकान मालिक या अड़ोसी-पड़ोसी को भी सम्भावित रोग की सूचना देनी होती है। यदि एक से अधिक बीमार हुए हों तो ग्राम मुखिया, सरपंच, समाजसेवी संस्थाओं के सदस्य, क्षेत्र के अधीन स्वास्थ्य कर्मचारियों आदि को सूचना देनी होती है।

जिन रोगो की सूचना देनी पडती है उन्हे विज्ञाप्य रोग (notifiable diseases) कहते हैं। अलग-अलग देशों में या एक ही देश के विभिन्न प्रान्तों में, रोगों को उनकी व्यापकता या सम्भावित प्रसार-क्षमता के आधार पर विज्ञाप्य रोग-सूची में संकलित किया जाता है। सामान्यतया ये रोग हैं—शीतला, खसरा, छोटी माता, पोलियो, रेबीज, संक्रामी-यकृत. आंत्रशोथ, हैजा, टाइफाइड, पेचिश, प्लेग, मम्प्स डिफ्थीरिया, मेनिन्जाइटिस पीतज्वर, कुष्ठ, मलेरिया, इन्फ्लुएन्जा आदि। शीतला का वैसे अब उन्मूलन हो चुका है।

3. सर्वेक्षण - अधिसूचना मिलने पर स्वास्थ्य विभाग द्वारा रोग स्थिति का पूर्ण अध्ययन, संचार-सर्वेक्षण, वाहनिक माध्यमों का परीक्षण, संसर्ग या सम्पर्क में आये व्यक्तियों का पञ्जीकरण आदि।

4. पृथक्करण (isolation)—रोगी का तुरन्त संक्रामक रोग अस्पतालों में स्थानान्तरण और यदि घर में ही रखना है तो वहाँ समुचित पृथक्करण की व्यवस्था।

5. संगरोध (Quarantine)—जो व्यक्ति रोगी के सम्पर्क में आये हैं, सम्पर्क की आशंका के है, रोग-ग्रसित क्षेत्र से आये हैं या बाहर जा रहे हैं और पूर्व ही से रोग के विरुद्ध समुचित प्रतिरक्षित (immunized) नहीं हैं उन्हें रोग के अधिकतम उद्भवनकाल तक देख-रेख में नियन्त्रित रखा जाता है। इस व्यवस्था को संगरोध कहते हैं। संगरोध, हैजा, टाइफस व पीतज्वर के लिये अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन पर अधिक सख्ती से लागू किया जाता है।

स्कूली बच्चों को भी शीतला, डिफ्थीरिया, छोटीमाता आदि रोगों से पीडित होने पर, या घर मे किसी अन्य रोगी के सम्पर्क में होने पर, रोग संक्रामक अवधि की समाप्ति तक स्कूल से पृथक् रखा जाता है।

6. रोगवाहक व्यक्तियों—की यथोचित जांच-पडताल और उनका समुचित उपचार। उपचार तक की अवधि में इनका खाद्य प्रतिष्ठानों से, यदि वे वहाँ काम करते हों तो पृथक्करण।

के कपड़े, बिस्तर, बर्तन आदि के साथ-साथ कमरे का भी समुचित विसंक्रमण करना होता है।

जैसे कि ऊपर लिखा जा चुका है फटे पुराने कपड़े, चिथड़े, अनुपयोगी गद्दे आदि जला देना ही हितकर होता है, अन्यथा उपर्युक्त निर्देशानुसार उबालकर या संतृप्त वाष्प से विसंक्रमित कर देना चाहिये। इसी प्रकार बर्तन आदि को भी उबाल कर साफ कर लेना चाहिए।

कमरा कमरे की फर्श एवं 3–4 फुट तक की दीवारों को अच्छी तरह साबुन, ब्रश व वॉशिंग सोडा से रगड़ कर गरम पानी से धो देना होता है ताकि उल्टी, दस्त, मलमूत्र या व्रण-पपड़ी आदि के अवशेष साफ किए जा सकें। फिर $2\frac{1}{2}\%$ क्रीसोल, 5% फीनोल या 10% फॉर्मेलिन का पोंचा लगाकर लगभग 4 घण्टे के लिये वैसे ही रहने दिया जाता है और तदुपरान्त खूब अच्छी तरह से धो दिया जाता है। यदि धूमन (Fumigation) की सुविधा हो तो फॉर्मेल्डिहाइड गैस का धूमन करना उपयुक्त होता है। इसके लिये कमरे के सामान को जैसे के तैसे ही पड़ा रहने दिया जाता है ताकि धूमन का उस पर भी असर हो और बाद में उसे आवश्यकतानुसार उबाल कर या संतृप्त स्टीम द्वारा फिर से साफ कर लिया जाता है। धूमन के लिये कमरे को पूर्णरूप से बन्द करना होता है और उसमें फॉर्मेल्डिहाइड गैस निस्तारित करना होता है। इसके लिये किसी गहरे बर्तन में प्रति हजार घनफुट के लिये 5 oz. पोटैशियम परमैंगनेट (Potassium Permanganate) रख कर उस पर 40% फॉर्मेलिन लगभग 10 या 15 oz. डाल दिया जाता है। फॉर्मेलिन को P.P. पर डालने के तुरन्त बाद व्यक्ति कमरे के बाहर आ जाता है और दरवाजा बन्द कर देता है। इस गैस का लगभग 6–12 घण्टे तक असर होने दिया जाता है। तब कमरे को खोलकर अच्छी तरह वातित होने दिया जाता है। फर्नीचर को वैसे तो धूमन के बाद किसी अन्य विधि से विसंक्रमित करने की आवश्यकता नहीं रहती पर यदि धूमन न हो सके तो 5% क्रीसोल या फीनोल से धो देना होता है। आजकल अल्ट्रावायोलेट किरणों से अस्पताल के वार्ड व प्रयोगशालाओं के कक्षों को विसंक्रमित किया जाता है।

शीतला या हैजे के रोग से यदि रोगी की मृत्यु हो जाती है तो उसके शव को 10% फॉर्मेलिन या 5% फीनोल से भिगोई गई चद्दर में लपेट कर मरघट स्थल पर ले जाना श्रेयस्कर होता है।

विसंक्रामक पदार्थों (Disinfectants) का वर्गीकरण

(a) प्राकृतिक (Natural)—(i) सूर्य की रोशनी एवं धूप (ii) वायु।

(b) भौतिक (physical(—(i) शुष्क ऊष्मा—(Dry heat)-जलाना।

(ii) आर्द्र ऊष्मा (moist heat)—उबालना या संतृप्त स्टीम का प्रयोग

(iii) रेडियेशन—अल्ट्रा वायोलेट किरण।

(c) रासायनिक (Chemical) (i) ठोस पदार्थ

प्राथमिकता का महत्व रखते हैं। इसके अनन्तर विभिन्न माध्यमों से प्रसारित होने वाले रोगों के महामारी के रूप में फैलने की आशंका पर, उन माध्यमों से बचने के लिये विशेष सुरक्षा करने की आवश्यकता होती है—

जल—जहा सार्वजनिक जल प्रदाय व्यवस्था है वहां उसकी कार्यकुशलता एवं कार्य-क्षमता पर पूर्ण निगरानी रखनी होती है। उन दिनों सभी सयन्त्रों के ठीक से काम करने के सम्बन्ध मे पूर्ण सावधानी रखनी होती है। क्लोरीनिकरण पर पूरा ध्यान रखना होता है। अवशिष्ट क्लोरीन की मात्रा यथोचित रखनी होती है और आवश्यक हो तो सुपर क्लोरीनिकरण करना होता है। जहा सार्वजनिक जल-प्रदाय-व्यवस्था नही है वहां जल स्रोतों का समुचित रक्षण, उनके जल का परीक्षण एवं क्लोरीनीकरण करना होता है जो महामारी की अवधि तक निरन्तर होते रहना चाहिये। घरों मे भी सुरक्षित जल-संग्रह व्यवस्था करनी होती है। जल को उबालकर काम में लाना और भी अधिक श्रेयस्कर होता है।

खाद्य पदार्थ

दूध—पास्चुरीकृत (Pasteurised) या उबला दूध ही काम में लाना हितकर होता है। दूध से बने पदार्थ एवं अन्य सभी भोजन सामग्रियों को मक्खियों से सुरक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। कुल्फी, आइसक्रीम, मलाई आदि का महामारी के दौरान प्रयोग न करना ही उचित है।

भोजन व भोजनीय पदार्थ—भोजन ताजा बना हो, ठण्डा-बासी न हो, मक्खियों से दूषित न हुआ हो; बाजार की बनी मिठाइयां, नमकीन, चाट, ठण्डे पेय पदार्थ, फलो की कतरन आदि उन दिनों काम में न लाना ही अच्छा है। रेस्टोरेन्ट व होटलों का खाना न खाना ही हितकर है।

फल सब्जियां आदि—महामारी के दिनो में सड़े-गले फलों के बेचने पर नगर-पालिका द्वारा प्रतिबन्ध लगना ही चाहिए। व्यक्तिगत रूप में भी अधिक पके या कच्चे फलो के प्रयोग में पूर्ण सावधानी रखनी चाहिये। फल-सब्जियों को पोटॅशियम परमेगनेट के घोल मे धो लेना अच्छा रहता है।

वायु—वायु दूषण निराकरण के सामान्य उपायों के साथ-साथ समुचित संवातन, अधिक जनवास निवारण और वायु विसंक्रमण की व्यवस्था भी करनी चाहिये। वायु विसंक्रमण के लिये कमरों मे एरोसोल्स (aerosols)–जिनमे रिसोसिनोल (Resorcinol), प्रोपीलेन (Propylene) व ट्राइ-ईथिलेनग्लाइकोल (TrEthylen Glycol) आदि मुख्य है—का फुंआर देना या अल्ट्रावायोलेट किरणो का प्रयोग करना समुचित होता है।

इसके अनन्तर व्यक्तिगत सुरक्षा के लिये उन दिनो मास्क (mask) का प्रयोग, खाँसते या छींकते समय रुमाल का प्रयोग, भीड़-भाड़ के स्थानों से बचाव, सांस्कृतिक कार्यक्रम, सिनेमा, थियेटर आदि का परिहार वाञ्छनीय होता है।

9

संक्रामक रोग
श्वसन, अशन एवं संरोपण

श्वसन रोग

वह रोग जिनका संक्रमण श्वसन मार्ग (Respiratory tract) से होता है, उन्हें हम श्वसन रोग की संज्ञा देंगे। उनमें से कुछ मुख्य रोगों पर हम यहां यथोचित विचार करेंगे।

शीतला (Small-pox or Variola)

यह एक अत्यन्त ही भयंकर छूत की सचारी बीमारी है जो लगभग 1930 तक विश्वभर में स्थानिक रूप से व्यापक थी और समय-समय पर महामारी का रूप धारण कर लेती थी। अनेक विकसित देशों ने पिछले 30--35 वर्षों मे योजनाबद्ध वैक्सीनेशन अभियान से इस बीमारी का अपने यहां से उन्मूलन कर दिया है। 1967 तक इसका स्थानिक प्रकोप केवल 30 विकासशील देशों में ही रहा और 1973 तक, केवल 4 देशों को छोड़, अन्य सभी देशो से इसका उन्मूलन कर दिया गया है। जिन 4 देशों में इसका स्थानिक प्रकोप सन् 1973 तक रहा वे हैं—भारत, पाकिस्तान बंगला देश और ईथियोपिया—लेकिन अब तो इन देशों से भी इसका उन्मूलन कर दिया गया है। भारत में चेचक का आखिरी रोगी 24 मई, 1975 को हुआ था। इसके बाद कोई भी व्यक्ति रोगी (Case) नही होने से भारत को भी अप्रैल सन् 1977 में रोगमुक्त घोषित किया गया और W. H. O. द्वारा विश्वव्यापी घोषणा की गई कि भारत मे शीतला उन्मूलन हो चुका है।

शीतला का रोग उग्रता के आधार पर मुख्य दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है—(1) वेरियोला मेजर (Variola major) और (2) वेरियोला माइनर (Variola minor)। मेजर श्रेणी उग्र रूप धारण करती है और इससे मृत्यु-दर लगभग 30% होती है, जब कि माइनर श्रेणी से केवल 1% ही। अधिकाशतः वेरियोला का प्रसार अक्टूबर से अप्रैल मास तक होता है और यह उन सभी बालक-

ilocular) होते है और इनका केन्द्रिक भाग कुछ धँसा-सा रहता है वे जिसे नाभिक-भवन (Umblication) कहते है। धँसे नाभिक-भवन पर एक काला विन्दु उभर आता है। आठवें या नवें दिन वेसिकल्स पस्ट्यूल्स (Pustules) बन जाते है। इनमें आनुषंगिक संक्रमण (Secondary infection) के कारण पूय (Pus) पड जाती है। इस समय रोगी को पुनः ज्वर हो आता है। पस्ट्यूल्स लगभग चौदहवे दिन से सूखने लगते है और इक्कीसवें दिन से गिरने लगते हैं तथा 28वें दिन तक लगभग सभी गिर जाते है। दाने मेक्यूल्स के रूप में सर्वप्रथम ललाट पर, फिर सारे मुंह पर, हाथ और हथेलियों पर, कमर पर, पावों और पांवों के तलों पर निकलते हैं और सब एक ही बार में एक ही झोप में निकल आते है, बार-बार रह-रह कर नहीं। अतः इनका परिवर्धन भी एक सार ही होता है अर्थात् जब मेक्यूल्स होते है तो सभी जगह मेक्यूल्स ही दिखाई देंगे; पेप्यूल्स, वेसिकल्स और पस्ट्यूल्स बनते हैं तो सभी जगह समरूप पेप्यूल्स, वेसिकल्स व पस्ट्यूल्स ही दिखाई देंगे। दाने अधिकांश शरीर के खुले भाग पर—मुंह, हाथ, पाँव आदि पर—अधिक होते है; ढ़के भाग पर—पेट, जाँघें, कमर—आदि पर कम। बगल व वक्षण (Groin) भाग मे भी कम। इस प्रकार इनका वितरण केन्द्रापसारी (Centrifugal) होता है। उपद्रव के रूप में फोड़े, फुन्सी, खासी, न्युमोनिया, ब्रॉङ्को-न्युमोनिया, ओस्टीयोमाइलाइटिस (Osteomyelitis), आँखों में कोर्निया पर पित्तिका निकल आने से फुल्ली और फलस्वरूप अंधापन हो जाते है। चूंकि दाने त्वचा में गहरे पैंठ हुए होते है अतः रोगी के ठीक हो जाने पर भी इनके दाग सदा के लिये बने ही रहते है।

प्रतिरक्षण—वैक्सीनेशन द्वारा सक्रिय रोग-निरोध-क्षमता उपार्जित की जाती हैं। प्राथमिक वैक्सीनेशन 0–3 माह की आयु में किया जाता है जिसका प्रभाव लगभग 5 वर्ष तक रहता है, अतः पांचवें वर्ष में दुबारा री-वैक्सीनेशन किया जाता है और तदुपरान्त हर तीसरे वर्ष में री-वैक्सीनेशन कराना होता है। वैक्सीनेशन ग्लिसरीन मिश्रित द्रव-लिम्फ-वैक्सीन से या फ्रीज-ड्राइड-वैक्सीन (Freeze dried Vaccine) से किया जाता है। भारत मे फ्रीज-वैक्सीन पर्याप्त मात्रा मे तैयार किया जाता है। इसे रेफीजरेटर में 4°C से 10°C के ताप पर रखने पर यह साल भर तक खराब नही होता। जहां रेफ्रीजरेटर की सुविधा न हो वहाँ इसे प्राप्ति से एक माह के अन्दर अन्दर ही काम में लेना होता है। प्राथमिक वैक्सीनेशन बाहु पर—त्रिकोणिका पेशी (Deltoid muscle) पर और री-वैक्सीनेशन अग्रबाहु (Forearm) पर किया जाता हैं। प्राथमिक वैक्सीनेशन में आजकल केवल एक ही निवेशन (Insertion) लगाया जाता है और री-में एहतियातन दो निवेशन लगाये जाते हैं।

वैक्सीनेशन विधि—वैसे तो वैक्सीनेशन की कई विधियां हैं पर आजकल अधिकाश बहु-वेधन-विधि (Multiple Puncture Method) ही काम में लाई जाती है। इसमें एक द्विफाकी सुई (Bifurcated needle) का प्रयोग किया जाता है। (चित्र 9.1)।

बालिकाओं को या बड़ी उम्र के नर-नारियों को आक्रान्त करता है जिनमे प्रतिरोधात्मक रोग-निरोध-क्षमता नही होती। रोग-निरोध-क्षमता या तो रोगी होने पर स्वाभाविक रूप से उपार्जित होती हैं या निर्धारित समय पर प्राइमरी व री-वैक्सीनेशन से। ऐसे व्यक्ति जो निरन्तर रोगी या रोगी के संक्रमणशील पदार्थों के सम्पर्क में आते हैं—जैसे डॉक्टर नर्स, अस्पतालों के अन्य अधीनस्थ कर्मचारी एव धोबी आदि और जो पूर्ण रूप से प्रतिरक्षित नही होते, उन्हें इस रोग से आक्रान्त होने का अधिक खतरा रहता है। एक बार रोगी होने पर स्वाभाविक सक्रिय रोग-निरोध-क्षमता लगभग जीवन भर के लिये बनी रहती है।

रोग कारक सूक्ष्म जीव वेरियोला वाइरस (Variola Virus)।

आगार या स्रोत.- केवल मानव—रोगी व्यक्ति। इसमें रोगवाहक स्थिति (Carrier State) उत्पन्न नही होती।

प्रसार या संचार—रोगी के साथ सम्पर्क से या उसकी संक्रामी वस्तुओं से। प्रसार श्वसन मार्ग ही से होता है। प्रारम्भिक अवस्था मे प्रसार के फलस्वरूप रोगी के नाक, मुँह आदि से निकले आस्राव (Discharge) से–बिन्दुक माध्यम द्वारा–और बाद में रोगी की संक्रामक वस्तुओं से या पित्तिका (Rashes) और पपड़ियों (Scabs) से। पित्तिका-पपड़ियाँ सूखकर कण बन जाने पर वायुवाहित होकर रोग प्रसार करती हैं। पपडियों एवं संक्रामी पदार्थों में वेरियोला वाइरस लगभग 6 सप्ताह तक जीवित रह सकते हैं।

उद्‌भवन काल—7 से 17 दिन—व्यावहारिक 12 दिन।

संक्रामक अवधि—पित्तिका-पपड़ियों के पूर्णतया गिर जाने तक।

लक्षण—बीमारी का प्रारम्भ सहसा शीतकम्प (Chill or Rigors) के साथ तेज ज्वर 103^0F से 104^0F तक से होता है। भारी सिर दर्द, कमर दर्द, हाथों, पावों व जोड़ों में दर्द और अत्यधिक शक्तिहीनता की शिकायत होती है। बच्चों में जी मचलाने और कै होने की भी शिकायत होती है। लगभग 3 दिन तक यह स्थिति बनी रहती है। तीसरे या चौथे दिन पित्तिका—दाने—निकल आते हैं। पित्तिका निकलने के साथ ही ज्वर उतर आता है या काफी कम हो जाता है और उपर्युक्त शिकायतें भी लगभग मिट जाती हैं। दाने सर्वप्रथम छोटे-छोटे लाल रंग के होते हैं जिन्हें मेक्यूल्स (Macules) कहते है जो 24 घण्टे के अन्दर-अन्दर पेप्यूल्स (Papules) में परिवर्तित हो जाते हैं। पेप्यूल्स कुछ मटमैले नीले रंग के होते हैं, त्वचा मे गहरे पैठे हुए होते हैं और छूने पर काफी सख्त प्रतीत होते हैं। पांचवें या छठे दिन पेप्यूल्स वेसिकल्स (Vesicles) में परिवर्तित हो जाते हैं। त्वचा में गहरे पैठे होने के साथ-साथ ये त्वचा के ऊपर काफी उभर आते है; सीप के बटन की भांति आकार मे बिलकुल गोल और उसी साइज के मटमैले सफेद रंग के होते हैं। इनमे लिम्फ भर आता है और असंख्य वाइरस भी। यह बहुखण्डीय (Mult-

ilocular) होते है और इनका केन्द्रिक भाग कुछ धँसा-सा रहता है वे जिसे नाभिक-भवन (Umblication) कहते है। धँसे नाभिक-भवन पर एक काला विन्दु उभर आता है। आठवें या नवें दिन वेसिकल्स पस्ट्यूल्स (Pustules) बन जाते है। इनमें आनुषंगिक संक्रमण (Secondary infection) के कारण पूय (Pus) पड़ जाती है। इस समय रोगी को पुनः ज्वर हो आता है। पस्ट्यूल्स लगभग चौदहवे दिन से सूखने लगते हैं और इक्कीसवें दिन से गिरने लगते है तथा 28वें दिन तक लगभग सभी गिर जाते हैं। दाने मेक्यूल्स के रूप में सर्वप्रथम ललाट पर, फिर सारे मुँह पर, हाथ और हथेलियों पर, कमर पर, पावों और पांवों के तलों पर निकलते है और सब एक ही बार मे एक ही खेप में निकल आते है, बार-बार रह-रह कर नही। अतः इनका परिवर्धन भी एक सार ही होता है अर्थात् जब मेक्यूल्स होते है तो सभी जगह मेक्यूल्स ही दिखाई देंगे; पेप्यूल्स, वेसिकल्स और पस्ट्यूल्स बनते हैं तो सभी जगह समरूप पेप्यूल्स, वेसिकल्स व पस्ट्यूल्स ही दिखाई देगे। दाने अधिकांश शरीर के खुले भाग पर—मुँह, हाथ, पाँव आदि पर—अधिक होते है; ढके भाग पर—पेट, जाँघें, कमर—आदि पर कम। बगल व वक्षण (Groin) भाग मे भी कम। इस प्रकार इनका वितरण केन्द्रापसारी (Centrifugal) होता है। उपद्रव के रूप में फोड़े, फुन्सी, खांसी, न्युमोनिया, ब्रॉङ्को-न्यूमोनिया, ओस्टीयोमाइलाइटिस (Osteomyelitis), आँखों में कोनिया पर पित्तिका निकल आने से फुल्ली और फलस्वरूप अंधापन हो जाते है। चूकि दाने त्वचा में गहरे पैठ हुए होते है अतः रोगी के ठीक हो जाने पर भी इनके दाग सदा के लिये बने ही रहते है।

प्रतिरक्षण—वैक्सीनेशन द्वारा सक्रिय रोग-निरोध-क्षमता उपार्जित की जाती हैं। प्राथमिक वैक्सीनेशन 0–3 माह की आयु में किया जाता है जिसका प्रभाव लगभग 5 वर्ष तक रहता है, अतः पांचवें वर्ष में दुबारा री-वैक्सीनेशन किया जाता है और तदुपरान्त हर तीसरे वर्ष में री-वैक्सीनेशन कराना होता है। वैक्सीनेशन ग्लिसरीन मिश्रित द्रव-लिम्फ-वैक्सीन से या फ्रीज-ड्राइड-वैक्सीन (Freeze dried Vaccine) से किया जाता है। भारत में फ्रीज-वैक्सीन पर्याप्त मात्रा मे तैयार किया जाता है। इसे रेफ्रीजरेटर मे 4^0C से 10^0C के ताप पर रखने पर यह साल भर तक खराब नही होता। जहां रेफ्रीजरेटर की सुविधा न हो वहाँ इसे प्राप्ति से एक माह के अन्दर अन्दर ही काम में लेना होता है। प्राथमिक वैक्सीनेशन बाहु पर—त्रिकोणिका पेशी (Deltoid muscle) पर और री-वैक्सीनेशन अग्रबाहु (Forearm) पर किया जाता है। प्राथमिक वैक्सीनेशन में आजकल केवल एक ही निवेशन (Insertion) लगाया जाता है और री-में एहतियातन दो निवेशन लगाये जाते है।

वैक्सीनेशन विधि—वैसे तो वैक्सीनेशन की कई विधियां है पर आजकल अधिकाश बहु-वेधन-विधि (Multiple Puncture Method) ही काम में लाई जाती है। इसमें एक द्विफाकी सुई (Bifurcated needle) का प्रयोग किया जाता है। (चित्र 9.1)।

वैक्सीनेशन फ्रीज-ड्राइड वैक्सीन को निर्धारित विधि से तैयार करता है; अपने हाथ साबुन से अच्छी तरह धोता है, सुई को स्पिरिट लेम्प की लौ में तपा कर जीवाणु-रहित (Sterilize) करता है और फिर उसे ठण्डी करता है; तदनन्तर बच्चे या व्यक्ति के बाहु या अग्रबाहु को यथास्थान गीले रुई के फोहे से साफ करता है—कीटाणु-नाशक दवाई या स्पिरिट आदि का प्रयोग नहीं किया जाता क्योंकि इससे वैक्सीन में जीवित वाइरस के मर जाने का खतरा रहता है। इसके बाद वह सुई से नियमित मात्रा में तैयार किया हुआ वैक्सीन लेकर, वैक्सीनेशन स्थल पर एक सूक्ष्म बूंद के रूप मे रखता है और उसमें उसी सुई से 10-15 बार वेधन करता है या वह प्रेशर विधि में केवल सुई से उतनी ही बार प्रेशर देता है। इस बात का ध्यान रखा जाता है कि वेधन में अबाध (Free) रक्त न निकले। वैक्सीनेशन के बाद बच्चे को कुछ देर तक छाया में रखा जाता है और वैक्सीनेशन किये स्थल पर कपड़ा आदि नही लगने दिया जाता।
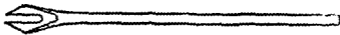
(चित्र 9.1 द्विफांकी सुई)

प्राथमिक वैक्सीनेशन करने के पूर्व इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि बच्चा ज्वर से पीड़ित न हो, उसे कोई त्वचा रोग न हो और वह अत्यधिक कमजोर न हो।

यदि अत्यधिक संख्या मे सामूहिक वैक्सीनेशन करना हो (Mass Vaccination) तो जेट इन्जेक्टर (Jet injector) काम में लाया जाता है। इसका प्रचलन भारत मे सन् 1967 में हुआ और इससे, बिना किसी दर्द के, एक घण्टे मे लगभग 1000 वैक्सीनेशन किये जा सकते हैं।

प्रतिरोधात्मक उपाय

मुख्य उपाय तो निर्धारित समय पर प्राथमिक वैक्सीनेशन एव री-वैक्सीनेशन करना ही है और महामारी की स्थिति में निवार्य रूप से सामूहिक वैक्सीनेशन। उन्मूलन अभियान में भी यही उपाय अपनाया गया था। इसके अनन्तर—

अधिसूचना—स्थानीय स्वास्थ्य अधिकारियों को तुरन्त सूचना देनी होती है। प्रान्तीय स्वास्थ्य निदेशालय, केन्द्रीय निदेशालय और विश्व स्वास्थ्य संघ को सूचना देते हैं और अन्य प्रान्तीय निदेशालयो को भी।

पृथक्करण—अस्पतालो मे या समुचित साधन-सुविधा होने पर घरो ही में पृथक्करण किया जाता है और जब तक समस्त पित्तिकाएँ सूखकर पपड़ियां झड़ नहीं जाती तब तक अन्य लोगो से रोगी को अलग ही रखा जाता है। सेवा सुश्रूषा के लिये पूर्ण प्रतिरक्षित व्यक्ति को ही लगाया जाता है।

विसंक्रमण—समकालिक–रोगी के नाक–मुँह आदि से निकले आश्रावों को गाँज के टुकड़ों, कागज के रुमालों आदि मे लेकर जला दिया जाता है। कपड़े के रूमाल, तौलिये या अन्य वस्त्रों को उबाल कर या संतृप्त स्टीम से विसंक्रमित किया जाता है। पपड़ियों को गाँज में इकट्ठी करके जला दिया जाता है या 10% फार्मेलिन या 5% फिनोल मे लगभग 2 घण्टे तक रखने के बाद भूमि के गाड़ दिया जाता है।

अन्तिम–कमरे की फॉर्मेलिन 10% से सम्यक् सफाई की जाती हैं और अन्य सभी साज-समान की भी। फॉर्मेल्डिहाइड से धूमन करना भी उपयुक्त होता हैं। सभी वस्त्र विस्तर, बर्तन आदि को उबाल कर या संतृप्त वाष्प से साफ किया जाता है।

सर्वेक्षण—क्षेत्र में असूचित सभी सम्भावित रोगियों का पता लगाया जाकर उनके सम्यक् पृथक्करण व उपचार की व्यवस्था की जाती है। छोटी माता के यदि कोई रोगी मिलें तो उनको भी पूरी देख-रेख में रक्खा जाता है, जिससे उनमें से यदि कोई शीतला के रोगी हों तो उनके लिए भी वैसी ही व्यवस्था की जाती है और सम्पर्क मे आये सभी व्यक्तियों का वैक्सीनेशन किया जाता है।

संगरोध—सीधे सम्पर्क में आये व्यक्तियों को, यदि वह वैक्सीनेशन से प्रतिरक्षित नही है या वैक्सीनेशन लेने से इन्कार कहते हैं तो, अन्तिम सम्पर्क से 14 दिन के लिए अनिवार्य संगरोध में रक्खा जाता है, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन में।

शीतला उन्मूलन-अभियान

भारत में यह अभियान सन् 1962 में प्रारम्भ किया गया था। शुरू मे कुछ चयनित क्षेत्रों में प्रयोगात्मक कार्य किया गया और उसके परिणामस्वरूप सन् 1963-64 मे सारे देश में विधिवत् अभियान प्रारम्भ किया गया। इसे तीन चरणों मे विभाजित किया गया।

(1) **आक्रमण प्रावस्था** (Attack Phase)—इस प्रावस्था में 3 से 5 वर्ष की अवधि मे सारे देश मे 100% प्राथमिक वैक्सीनेशन और 80% से ऊपर री-वैक्सीनेशन करने का लक्ष्य रक्खा गया। इस अभियान के लिये सारे देश को 30 लाख आबादी की क्षेत्रीय इकाइयों में बांटा गया और प्रत्येक इकाई के लिए आवश्यक संख्या में निर्धारित स्वास्थ्य कर्मचारियों की टोलियां बनाई गई। स्वास्थ्य कर्मचारियो का समुचित प्रशिक्षण किया गया। टोलियों का नेतृत्व प्रशिक्षित चिकित्सकों को सौंपा गया। प्रशासनिक व्यवस्था संस्थापित की गई। साज सामान, वाहन व वैक्सीन का समुचित प्रवन्ध किया गया। देश मे फ्रीज-ड्राइड वैक्सीन तैयार करने वाली प्रयोग-शालाओं का विस्तार किया गया और प्रत्येक क्षेत्रीय इकाई में रहने वाले परिवारों और उनके सदस्यों का पञ्जीकरण किया गया तथा सभी के प्राथमिक वैक्सीनेशन या री-वैक्सीनेशन करने का कार्य प्रारम्भ किया गया।

(1) **दृढ़ीकरण प्रावस्था** (Consolidation Phase)—प्रथम प्रावस्था में निर्धारित लक्ष्य में वैक्सीनेशन हो जाने पर सभी नवजात शिशुओं का प्राथमिक

जाती है। पित्तिकाएँ प्रारम्भ में मेक्यूल्स होती हैं पर कई बार यह इस रूप में दिखाई भी नहीं देती—कुछ ही घण्टों में पेप्युल्स बन जाने पर ही दिखाई देती हैं। पेप्युल्स शीतला की भाँति सख्त नहीं होते क्योंकि यह त्वचा में गहरे पैठे हुए नहीं होते। पेप्युल्स भी 12 घण्टे के अन्दर-अन्दर वेसिकल्स बन जाते हैं। यह शीतला के रंग के ही होते हैं पर आकार में कुछ छोटे-बड़े होते हैं—एक समान नही होते—और गोलाकार न होकर अण्डाकार होते हैं। पित्तिकायें शीतला की भाँति एक ही क्रम में व एक ही उपज (crop) मे नहीं निकलती। रह-रह कर निकलती है अतः एक ही समय में वेसिकल्स, मेक्यूल्स, पेप्यूल्स आदि साथ-साथ दिखाई दे सकते हैं। 2 या 3 दिन में वेसिकल्स पस्ट्यूल्स बन जाते हैं जो छठे या सातवें दिन सूख कर पपड़ी के रूप में गिरने लगते हैं। शीतला की भाँति इसके दाग स्थायी नहीं रहते।

इस बीमारी के अधिक उग्र एवं घातक न होने के कारण अब तक इसके बचाव के निमित्त संक्रिय रोग-निरोध-क्षमता उपार्जन हेतु कोई टीका तैयार करने की आवश्यकता नही समझी गई लेकिन अब जबकि शीतला का उन्मूलन हो चुका है तो, इसका टीका तैयार करने का काम भी हाथ मे ले लिया है। भारत में ट्रोपिकल मेडिकल स्कूल, कलकत्ता मे यह कार्य हो रहा है और जो वैक्सीन तैयार किया गया है उसके परीक्षण हो रहे हैं।

निष्क्रिय रोग-निरोधक-क्षमता उत्पत्ति के लिए गामाग्लोबुलिन (इम्यूनोग्लोबुलिन) दिया जा सकता है पर इसकी साधारणतया कोई आवश्यकता नही होती।

प्रतिरोधात्मक उपाय—

अधिसूचना—स्वास्थ्य अधिकारियों को तुरन्त सूचना देनी चाहिए ताकि शीतला का यदि कोई हल्का रोगी भी हो तो उसकी समय से जाँच की जा सके और आवश्यक प्रतिरोधात्मक उपाय किये जा सकें।

पृथक्करण—पित्तिका निकलने के समय से लगभग 1 सप्ताह तक।

विसंक्रमण

समकालिक—श्वसन पथ से निकले आस्रावों को जला कर नष्टीकरण।

अन्तिम—विशेष कुछ नहीं—केवल कमरे को साबुन, सोड़ा व गरम पानी से धो कर साफ करना और वस्त्र,बिस्तर आदि को 12घण्टे धूप मे रखना।

संगरोध—विशेष कुछ नही—केवल स्कूली बच्चों को यदि रोगी के सम्पर्क मे आए हों तो एक सप्ताह तक स्कूल से पृथक् रखना वाञ्छनीय होता है। अन्य सम्पर्क में आये व्यक्तियो की उद्भवन काल की अवधि तक समय-समय पर जाँच एवं देख-रेख।

शीतला एवं छोटी माता में मुख्य लाक्षणिक भेद

	शीतला	छोटी माता
(1) उद्भवन काल—	7–14 दिन (व्यावहारिक 12 दिन)	14 से 21 दिन

(2) संक्रमण अवधि	—प्रारम्भ ही से सम्पूर्ण पपड़ियों के गिरने तक	पित्तिका निकलने के 1 दिन पूर्व से 6 दिन तक
(3) पूर्व लक्षण	—अत्यन्त ही उग्र एवं तेज ज्वर, सिर दर्द, कमर दर्द, हाथों-पाँवों में दर्द, कै आदि।	अत्यन्त ही मन्द एवं हल्का ज्वर एवं कमर दर्द आदि।
(4) पित्तिकाएँ	—(i) क्रम से एक ही उपज में निकलती हैं। पित्तिका निकलते ही ज्वर उतर जाता है या अत्यन्त ही मन्द हो जाता है।	निश्चित क्रम नहीं होता, एक ही उपज में न निकल कर अलग-अलग उपज में निकलती है। चूं कि पित्तिका अलग-अलग उपज में निकलती रहती हैं अतः ज्वर थोड़ा बहुत बना ही रहता है।
	(ii) पित्तिकाएँ शरीर के खुले भाग पर अधिक निकलती हैं—केन्द्रापसारी	शरीर के ढके भाग पर निकलती है—केन्द्राभिसारी
	(iii) पेप्यूल्स सख्त होते हैं	सख्त नही होते
	(iv) वेसिकल्स गोलकार होते हैं	अण्डाकार होते हैं।
	(v) वेसिकल्स बहुखण्डीय होते हैं	बहुखण्डीय नही होते।
	(vi) वेसिकल्स मे नाभिक-भवन होता है।	नाभिक-भवन नही होता।
	(vii) पस्ट्यूल्स बनने पर पुनः ज्वर अधिकांशतः होता है।	नही होता।
	(viii) पित्तिकाएँ मेक्यूल्स के रूप मे तीसरे दिन निकलती हैं जो क्रम से निश्चित अवधि में पस्ट्यूल तक परिवर्तित होकर 14वें दिन से सूखने लगती हैं। पपड़ियां 21वें दिन से गिरने लगती है और 28 वे दिन तक पूर्ण गिर पाती हैं।	पित्तिकाएँ क्रम से नही निकलती। अवधि न्यून होती है। छठे दिन तक पस्ट्यूल्स सूखने लगते है और 14वें दिन तक पपड़ियां पूर्णरूप से गिर जाती हैं।
	(ix) पपड़ियाँ संक्रामिक होती हैं।	संक्रामिक नही होती।
(5) मृत्यु दर	25 से 30%।	यदि कोई भयंकर उपद्रव न हो तो मृत्यु नहीं होती।

(6) उपद्रव	—उपद्रव अधिक होते हैं और भीषण भी	अधिकांशतः नहीं होते और हों भी तो अत्यन्त ही मन्द।
(7) पश्च प्रभाव	—स्थायी दाग रह जाते हैं, अन्धापन हो जाता है।	स्थायी दाग नही रहते। अन्य कोई शिकायत नही रहती।

खसरा (Measles)

अधिकांश बच्चों में फैलने वाली संचारी बीमारी है। लक्षण प्रकट होने के पूर्व ही इसका अधिकांश प्रसार हो जाता है। 6 माह से 10 वर्ष तक की आयु के बच्चे अधिकतर इसके शिकार होते हैं। 6 माह तक शिशुओं में माता से प्राप्त निष्क्रिय रोग-निरोध-क्षमता बनी रहती है। लड़के-लड़कियों में प्रसार समरूप से ही होता है और अधिक प्रकोप सर्दियों के महीनो में होता है। असंवातित एवं अधिक जनवास के आवास रोग प्रसार में अधिक सहायक होते हैं। एक आक्रमण जीवनभर के लिए रोग-निरोध-क्षमता उपार्जित करता है और चूंकि यह रोग अधिकतर बचपन ही में हो जाता है; अतः बड़ी उम्र के लोगों में इसका प्रसार नगण्य ही होता है। वैसे यह रोग विश्व-व्यापी है और महामारी या स्थानिक रूप में फैलता ही रहता है।

रोगजनक सूक्ष्मजीव—खसरा के विशेष वाइरस।

आगार— रोगी स्वयं

प्रसार—रोगी से सीधे सम्पर्क से—बिन्दुक संक्रमण–या रोगी के श्वसन पथ से निकले आस्रावों से दूषित संक्रमी पदार्थों से।

उद्भवन काल—लगभग 10 से 14 दिन

संक्रामक अवधि—पिटिका निकलने के 4 दिन पूर्व एवं 5 दिन बाद तक।

लक्षण-प्रारम्भ में सर्दी-जुकाम, खांसी और ज्वर 103°F तक होता है। आँखों में ललाई रहती है, आँसू गिरते रहते हैं, रोशनी अच्छी नही लगती। दूसरे या तीसरे दिन गाल के भीतरी भाग में सफेद नीले रंग की चित्ती उभर आती है जिसके चारों ओर अच्छी खासी ललाई होती है। इस चित्ती को कॉपलिक्स स्पॉट (Koplick's Spot) कहते है और यह रोग निदान में विशिष्ट महत्व रखती है। चौथे दिन, लाल रंग की मैक्यूलो-पैप्युलर (Maculo-Papular) ढंग की पिटिका निकल आती है जो सर्वप्रथम ललाट पर और उसके बाद में क्रम से सारे मुँह, गर्दन, सीना, पेट, कमर व हाथों-पावों पर निकलती है। पिटिकाएँ निकलने पर भी ज्वर में कोई विशेष कमी नही होती। छठे दिन से पिटिकाएँ मिटने लगती हैं और नवें दिन तक लगभग सभी मिट जाती हैं। ज्वर भी उस समय तक उतर आता है। वैसे खसरा स्वतः मृत्यु-कारक नही होता लेकिन यदि न्युमोनिया, ब्राङ्कोन्युमोनिया आदि उपद्रव शामिल होते हैं तो उनसे मृत्यु की आशंका बन सकती है।

प्रतिरक्षण—हाल ही में अनुप्र जीवित धाइरस से फ्रीज-ड्राइड वैक्सीन तैयार किया गया है जिसके टीके अमेरिका व इग्लैण्ड में लगाये जा रहे हैं और परिणाम काफी सन्तोषप्रद सिद्ध हुए हैं। भारत में भी इसका अब प्रयोग होने लगा है। यह टीका एक वर्ष की आयु में लगाया जाता है और इससे उपार्जित सक्रिय रोग-निरोध-क्षमता लगभग 15 वर्ष की आयु तक रहती है। तदुपरान्त रोग की सम्भावना नगण्य होने से दुबारा टीके की जरूरत नहीं होती। वैसे मन्द रोग हो जाना अच्छा ही है ताकि जीवन भर की रोग-निरोध-क्षमता पैदा हो सके। रोग मन्द हो, इसके लिए 0 04ml. प्रति किलो शारीरिक वजन के हिसाब से गामाग्लोबुलिन-इम्यूनोग्लोबुलिन–का टीका लगाया जाता है जिससे निष्क्रिय रोग-निरोध-क्षमता पैदा हो सके, लेकिन यदि कमजोर बच्चो मे रोग का पूर्ण निवारण करना हो तो इसकी मात्रा 0.2ml. प्रति किलो वजन के हिसाब से करनी होती है। हमारे यहाँ इम्यूनोग्लोबुलिन की पर्याप्त मात्रा मे उपलब्धि कराते रहने की आवश्यकता है।

प्रतिरोधात्मक उपाय—चूँकि मन्द रोग का हो जाना अच्छा ही होता है अतः प्रयत्न इसी बात का होना चाहिये कि घर में यदि एक बच्चे को यह रोग हुआ है या क्षेत्र मे इसका प्रसार होने लगा है तो अन्य बच्चो को इम्यूनोग्लोबुलिन के द्वारा आंशिक रूप मे प्रतिरक्षित कर दें और जब मन्द रोग हो तो समुचित उपचार से उपद्रवों का निराकरण करें।

अधिसूचना—चूंकि रोग-प्रसार लक्षण उत्पत्ति के पूर्व ही हो जाता है अतः अधिसूचना का कोई विशेष महत्त्व तो नही रहता फिर भी सूचना देना अच्छा है जिससे रोग प्रसार की जानकारी हो सके, अन्य बालकों को इम्यूनोग्लोबुलिन का लाभ दिया जा सके, गरीब परिवार के बच्चों को अस्पताल मे इलाज की व्यवस्था की जा सके जिससे उपद्रवों का यथा-साध्य निराकरण हो, और विसंक्रमण की व्यवस्था की जा सके।

पृथक्करण—अस्पताल या घर मे लगभग 7 दिन तक–रोगी के स्वय के हित मे।

विसंक्रमण—समकालिक - रोगी के आस्रावों को जलाकर नष्ट करना
अन्तिम—कमरे व साज सामान की समुचित सफाई—धोना उबालना आदि।

संगरोध—व्यावहारिक नही होता। स्कूल से पृथक्करण भी कोई लाभप्रद नही होता। हाँ, यदि बच्चा स्वय बीमार हो जाय तो उसे पृथक् रखना ही होता है। स्कूल बन्द करने का भी कोई प्रश्न नही उठता।

जुकाम (Common Cold)

ऊपरी श्वसन पथ की साधारण-सी बीमारी है पर है काफी छूत की। इसमे नाक, गला, श्वास-प्रणाल (Trachea), श्वसन-नलिकाएँ (Bronchii) एवं यूस्टेशियन

नली-एक या दोनों की-श्लेष्मकला (Mucous membrane) मे शोथ हो जाती है जिसके कारण खराश, खांसी, छीक, नजला, सिर दर्द, कान दर्द आदि शिकायतें होती है। ज्वर अधिकाशतः नहीं होता पर एक अजीब सी घबराहट रहती है और काम-काज करने को जी नही चाहता। अधिकतर इसका प्रसार ठण्डे देशो में सर्दियों के महीनों में होता है पर गरम देशों में कभी भी होता रहता है। एक आक्रमण कोई रोग-निरोध-क्षमता उपार्जित नही कर पाता, अतः वर्ष भर मे कई आक्रमण हो सकते है। रोग का असर लगभग 2–7 दिन तक रहता है। सभी उम्र व दोनों लिंग के व्यक्तियों पर समान रूप से इसका आक्रमण होता है। आनुषंगिक संक्रमण (Secondary infection) के फलस्वरूप ग्रसनी शोथ, (Pharyngitis), स्वर-यन्त्र शोथ (Laryngitis), श्वास-प्रणाल-शोथ (Tracheitis), श्वसन-नलिका शोथ (Bronchitis), साइनुसाइटिस (Sinusitis) व मध्यकर्ण शोथ (Otitis media) आदि हो जाते है। *यह विश्वव्यापी रोग है जो महामारी या स्थानिक रूप से होता* ही रहता है।

रोगकारक सूक्ष्मजीव—विभिन्न वर्ग के वाइरस। कुछ व्यक्तियो को नजला जुकाम किसी पदार्थ विशेष की ऐलर्जी (Allergy) के कारण भी होता रहता है।

आगार—मानव रोगी

उद्भवन काल—12 से 72 घण्टे—अधिकांश 24 घण्टे।

संक्रामक अवधि—लक्षण उत्पत्ति के 24 घण्टे पूर्व से 4 या 5 दिन तक।

लक्षण—जैसे कि ऊपर वर्णित किये गये।

प्रतिरक्षण—सक्रिय-रोग-निरोध-क्षमता उपार्जन का कोई टीका नहीं है। कुछ व्यक्ति स्वभावत: बचे रहते है।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—कोई विशेष महत्त्व नही रखती।

पृथक्करण—सामान्यतया अव्यावहारिक। साधारणतया रोगी को स्वतः ही अन्यो के सम्पर्क मे न आने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए और उग्र जुकाम मे बिस्तर पर लेटे रहना चाहिये। छीकते या खासते समय रुमाल का प्रयोग करना चाहिये।

विसंक्रमण—समकालिक–नाक, मुँह के आस्रावो को कागजी रुमालो में लेकर जला देना चाहिए।

अन्तिम—कोई विशेष नही केवल कमरे को समुचित रूप से वातित करना।

संगरोध—अव्यावहारिक।

इन्फ्लुऐन्जा (Influenza)

यह अत्यन्त ही उग्र छूत की संचारी बीमारी है जो अधिकांश महामारी के रूप मे फैलती है और कभी-कभी विश्वमारी के रूप में भी। सन् 1918–19 मे जो

विश्वमारी हुई थी उसमें लगभग 50 करोड़ व्यक्ति आक्रान्त हुए और लगभग 2 करोड़ मृत्यु के ग्रास बने। सन् 1957 की विश्वमारी में लगभग एक अरब व्यक्ति रोग-ग्रसित हुए और लगभग $2\frac{1}{2}$ करोड़ मरे। ठण्डे देशों में अधिकांशतः इसका प्रसार सर्दियों में होता है जबकि गरम देशों में सर्दी-गर्मी कभी भी हो सकता है। 1957 की विश्वमारी भारत में मई के महीने में उभरी थी। सभी उम्र के नर-नारी समान रूप से आक्रान्त होते हैं। 1918-19 की विश्वमारी में जहाँ नवयुवक अधिक रोगग्रसित हुए वहाँ 1957 की विश्वमारी में बच्चे, नवयुवक व बड़ी उम्र के वयस्क एक आक्रमण के बाद सक्रिय-रोग-निरोध क्षमता अधिक अवधि की उपार्जित हो नहीं पाती। इन्फ्लुऐन्जा के वाइरस कई वर्ग के होते हैं और एक समय एक वर्ग सक्रिय होता है तो दूसरे समय दूसरा अतः एक वर्ग के प्रति पैदा हुई रोग-निरोध-क्षमता दूसरे के प्रति प्रभावकारी नहीं हो पाती; इस कारण इसके बार-बार आक्रमण होते रहने की आशंका बनी ही रहती है।

रोग कारण सूक्ष्म जीव—इन्फ्लुऐन्जा वाइरस। यह वाइरस A, B व C वर्ग में विभक्त किए गए हैं और प्रत्येक वर्ग में इनके अलग-अलग उपभेद होते हैं। A वर्ग का वाइरस अधिक उग्र होता है और यही महामारी या विश्वमारी फैलाता है। B वर्ग का वाइरस केवल स्थानिक बीमारी ही फैलाता है और C वर्ग का अधिक महत्त्व नहीं रखता। 1957 की विश्वमारी A_2 | Singapur | 57 वाइरस द्वारा फैली थी। क्योंकि इस विश्वमारी का प्रारम्भ सिंगापुर से हुआ था, अतः इस वाइरस को सिंगापुरी होने की संज्ञा दी गई।

आगार—अधिकांश रोगी मानव ही होते हैं। कभी-कभी पशु–Swine–व पक्षी भी आगार बन सकते हैं।

प्रसार—वायु वाहित बिन्दुक माध्यम से एवं संक्रामी वस्तुओं से जैसे—रूमाल, तौलिये, कप, गिलास, खिलौने आदि से। भीड़-भाड़; अधिक जन आवास; रेल, जहाज आदि की यात्रा में प्रसार अधिक द्रुतगति से होता है।

उद्भवन काल—24 से 72 घण्टे।

संक्रामक अवधि—लक्षण उत्पत्ति के एक दिन पूर्व से लगभग 1 सप्ताह बाद तक।

लक्षण—जुकाम, सूखी खांसी, सिर दर्द, कमर, कन्धे व हाथ-पांवों में दर्द के साथ साधारण सर्दी या शीतकम्प से ज्वर होता है जो 101° से 103°F तक का हो सकता है। रोगी काफी बेचैनी एवं शक्तिहीनता अनुभव करता है। कभी-कभी पेट में भी दर्द होता और उल्टी या दस्त होते हैं। ज्वर 1 से 6 दिन तक रहता है। उपद्रव के रूप में न्यूमोनिया, ब्राङ्को-न्युमोनिया आदि हो जाते हैं।

प्रतिरक्षण—इन्फ्लुऐन्जा वैक्सीन के टीके लगाये जाते हैं। यह वैक्सीन विभिन्न

वर्ग के कई उपभेदों के वाइरस से तैयार की जाती है। इसमें एक मृत वाइरस से और दूसरी जीवित अनुग्र वाइरस से तैयार की जाती है। अधिकांश मृत वाइरस-वैक्सीन ही काम में लाई जाती है। सेलाइन(Saline) में तैयार की गई वैक्सीन का एक टीका-मात्रा 1ml—रोग प्रसारण की सम्भावना के लगभग3 माह पूर्व ही लगवा लेना होता है। उपार्जित रोग-निरोध-क्षमता लगभग एक वर्ष की ही होती है, अतः यह टीका प्रति वर्ष लेना होता है। अधिकांशतः सर्वसाधारण के लिए यह व्यावहारिक हो नही पाता, अतः अन्य रोगों से पीड़ित चिरकारी रोगी, वृद्ध, डॉक्टर, नर्स व अन्य स्वास्थ्य कर्मचारियों को सामयिक प्रतिरक्षित करना वाञ्छनीय होता है।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—रोगी होने की तुरन्त सूचना स्वास्थ्य अधिकारी को देनी होती है। चूँकि इसके विश्वमारी के रूप मे फैलने का डर रहता है, अतः प्रान्तीय स्वास्थ्य निदेशालय, केन्द्रीय निदेशालय, विश्व स्वास्थ्य संघ एवं अन्य प्रान्तीय निदेशालयों को तार द्वारा सूचना देनी होती है और प्रतिदिन होने वाले रोगियों व मृतकों की सूचना भी तब तक देनी होती है जब तक महामारी शान्त न हो जाय।

पृथक्करण—अस्पतालों में, और यदि समुचित साधन सुविधा उपलब्ध हो तो घरों में। सेवा-सुश्रुषा करने वाले डॉक्टर, नर्स व स्वजनों का मास्क धारण करना लाभप्रद होता है।

विसंक्रमण—समकालिक—रोगी के नाक, मुँह आदि से निकले आस्रावों को कागजी रूमाल या गॉज के टुकड़ों मे लेकर जलाना होता है और उसके सभी संक्रामक पदार्थों को उबाल कर साफ करना होता है।

अन्तिम—केवल कमरे का समुचित वातन या अल्ट्रा वायलेट किरणीकरण।

संगरोध—व्यावहारिक नहीं होता लेकिन महामारी के दिनों में स्कूल, सिनेमा, थियेटर, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि बन्द रखना हितकर होता है और व्यक्तिगत रूप में भी ऐसे ही भीड़-भाड़ के आयोजनों में सम्मिलित नही होना ही श्रेयस्कर रहता है।

मम्प्स (Mumps)

यह वाइरस उत्पादित छूत की बीमारी है जो अधिकांश 5 से 15 वर्ष के बालकों व किशोरों में होती है। छोटे बच्चों में भी हो सकती है पर अनुपात में कम। 9माह से छोटे शिशुओं में अधिकांश नही होती। एक आक्रमण जीवन भर की रोग-निरोध-क्षमता उपार्जित कर देता है। लड़के-लड़कियों में यह रोग समान रूप से ही होता है। बड़े शहरों में यह स्थानिक रूप से फैलता है और किसी भी ऋतु मे हो सकता है जबकि शरद और बसन्त ऋतु में इसकी उग्रता अधिक होती है। अधिक जनवास के आवास और भीड़-भाड़ का वातावरण रोग प्रसार में विशेष सहायक होते हैं। इस रोग में एक या दोनों कर्ण पूर्व-ग्रन्थियाँ (Parotid glands) सूज जाती है।

रोग-जनक सूक्ष्म जीव—वाइरस।

आगार —मानव-रोगी।

प्रसार —रोगी से सीधा नजदीकी सम्पर्क-बिन्दुक माध्यम-एवं रोगी के संक्रामक पदार्थों से।

उद्भवन काल —2 से 3 सप्ताह

संक्रामक अवधि —लक्षण उत्पत्ति के 6 दिन पूर्व और 13 दिन बाद तक या जब तक कर्णपूर्व-ग्रन्थि की सूजन मिट नहीं जाती।

लक्षण—सामान्यतया प्रथम लक्षण कर्णपूर्व-ग्रन्थि मे दर्द, मुँह खोलने में कष्ट और एक या दोनो ग्रन्थियों में सूजन हो जाने के होते हैं। यदि संक्रमण अधिक उग्र होता है तो ग्रन्थि सूजन के साथ-साथ 3 से 5 दिन तक ज्वर 101–102°F, सिरदर्द, बेचैनी, भूख की कमी व कोष्टबद्धता आदि की शिकायत होती है। कर्ण-पूर्व-ग्रन्थि की सूजन लगभग 7 से 14 दिनों में बैठ जाती है। कभी-कभी अन्य लार ग्रन्थियाँ जैसे—सब्-मेक्सिलरी व सब्-लिंगुवल (Sub-maxillary and Sub-Lingual glands) भी सूज जाती हैं और उस स्थिति में लार कम बनने से मुँह सूखा-सूखा सा रहता है। दर्द और लार के अभाव में कुछ भी निगलने में कठिनाई होती है। इन ग्रन्थियो के अतिरिक्त कभी-कभी वृषणशोथ (Orchitis), डिम्ब ग्रंथि शोथ (Ovaritis).पेंक्रीयाज शोथ, (Pancreatitis)व मेनिन्जाइटिस आदि उपद्रव के रूप में हो जाते हैं। यदि दोनों वृषणों (Testis) की शोथ होती है—जो वस्तुतः असाधारण स्थिति होती है—तब वन्ध्यता (Sterility) हो सकती है।

प्रतिरक्षण—अमेरिका एवं रूस में जीवित अनुग्र वाइरस से तैयार की गई वैक्सीन के सक्रिय रोग-निरोध-क्षमता उपार्जन हेतु टीके लगाये जाते हैं और 95% सफलता का दावा भी किया जा रहा है। रोग-निरोध-क्षमता किस अवधि तक की उपार्जित हो पाती है, इसका अभी निश्चित निर्णय नहीं हो पाया है; हो सकता है 2–3 वर्ष की हो।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—व्यावहारिक महत्व की नही होती क्योकि लक्षण प्रकट होने के पूर्व ही रोग फैल जाता है, फिर भी सूचना देना हितकर ही होता है ताकि रोगी के उपचार एवं देखभाल की ठीक से व्यवस्था की जा सके और यथा-सम्भव उपद्रवो का निरा-करण किया जा सके।

पृथक्करण—रोगी को अन्य बच्चों से पृथक् रखना होता है जब तक कि आक्रांत ग्रन्थियों की सूजन पूर्ण रूप से मिट न जाय। स्कूली बच्चों को रोग-प्रसार के दिनों निरन्तर देखभाल रखनी होती है; यदि कोई बच्चा किञ्चित् मात्र भी लक्षण प्रकट करता है तो उसे स्कूल से पृथक् रखना होता है—संक्रामक अवधि तक।

विसंक्रमण—समकालिक-रोगी के नाक-मुँह के आस्रावों को कागजी रुमालों में या गॉज आदि के टुकड़ो मे लेकर जलाना और उसके उपयोग में आने वाले वस्त्रों, वर्तनों, खिलौनो आदि को उबाल कर शुद्ध करना होता है। अन्तिम विसंक्रमण की कोई विशेष आवश्यकता नही होती।

संगरोध—व्यावहारिक नही हो पाता।

कूकर खाँसी (Whooping cough or Pertussis)

यह श्वसन-पथ की उग्र एवं अत्यन्त संक्रामक बीमारी है जिसमें श्वसन-पथ की उपकला (Epithelial lining) मे जीवाणुओं के आक्रमण से शोथ उत्पन्न हो जाती है और नजला, जुकाम, खाँसी आदि की प्रारम्भिक शिकायत के साथ-साथ हल्का ज्वर भी हो आता है। 8–10 दिन के वाद खाँसी प्रवेगी (Paroxysmal) रूप धारण कर लेती है जिससे वच्चे को भारी कष्ट होता है और खाँसी के दौरे में साँस लेना भी कठिन हो जाता है। खाँसी का दौर कुछ वलगम निकलने के वाद ज्योंही समाप्त होता है त्योंही वच्चा वडे प्रयत्न से लम्बा सांस भीतर लेता है। साँस के साथ एक अजीव-सी आवाज होती है जिसे हूप (whoop) कहते है और इसी कारण इस रोग का नाम हूपिंग कफ पडा। यह बीमारी अधिकतर स्थानिक रूप से होती है पर कभी-कभी महामारी का रूप ले लेती है। शिशुओं और 5 वर्ष तक की उम्र के लड़के-लडकियों में इसका प्रकोप अधिक होता है। शिशुओं (एक वर्ष से कम उम्र के वच्चों) मे मृत्यु दर भी लगभग 70% के हो सकती है। वैसे इसका प्रसार सभी ऋतुओं मे हो सकता है किन्तु मार्च-अप्रेल के महीनों मे इसका प्रकोप अधिक होता है। ठण्डे देशो के इसका प्रभाव अधिक होता है।

रोग-कारक सूक्ष्म जीव—बेसिलस परटूसिस।

आगार	—मानव-रोगी व्यक्ति।
प्रसार	—रोगी के सीधे सम्पर्क से–बिन्दुक माध्यम द्वारा–एवं संकामक पदार्थों द्वारा।
उद्भवन काल	—7 से 14 दिन। 21 दिन तक भी हो सकता है।
संक्रामक अवधि	—लक्षण उत्पत्ति के एक सप्ताह पूर्व से प्रवेगी खाँसी प्रारम्भ होने के लगभग 3 सप्ताह वाद तक।

लक्षण—उपर्युक्त लक्षणों के अनन्तर जब खाँसी के प्रवेगी दौर होने लगते हैं तो ये रह-रह कर उठते हैं। रात्रि मे दौर अधिक होते हैं। प्रत्येक दौर में वच्चे की आँखों मे ललाई उतर आती है, होंठ नीले पड जाते हैं और मुँह सूजा-सा दिखाई देने लगता है। दो दौरों के वीच वच्चा अत्यन्त ही नि.सहाय एवं निस्तेज दिखाई देता है। नींद की कमी और दौरे के डर से खाने के प्रति अरुचि के कारण वच्चा कुछ ही समय मे काफी कमजोर हो जाता है। उपद्रव के रूप मे न्यूमोनिया या ब्रॉड्को-

न्यूमोनिया हो जाता है। प्रवेगी खाँसी के अतिश्रम (Strain) के फलस्वरूप कभी-कभी नाभिक या वंक्षण (Inguinal) हर्निया हो जाता है।

प्रतिरक्षण—सक्रिय रोग-निरोध-क्षमता मृत बेसिलस से तैयार की गई वैक्सीन के टीकों से उत्पादित की जाती है। इस वैक्सीन के तीन टीके–प्रति टीका 0·5 ml का—तीसरे, चौथे और पाँचवें माह की आयु में लगाये जाते हैं। आजकल इस वैक्सीन को डिफ्थीरिया एवं टेटनस टॉक्सॉइड्स के साथ मिला कर तीनों रोगों के लिए सम्मिलित टीका ही लगाया जाता है ताकि बच्चे को लगने वाले टीकों की संख्या में कमी हो सके। बूस्टर टीका दूसरे व पाँचवें वर्ष की आयु में लगाया जाता है।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना —रोगी होने की सूचना देना आवश्यक है।

पृथक्करण —रोगी बच्चे का अन्य बच्चों से व स्कूल से–संक्रामिक अवधि तक–पृथक्करण करना और उपयुक्त उपचार करना आवश्यक होता है।

विसंक्रमण —समकालिक-रोगी के स्रावों व संक्रामक वस्तुओं का निर्धारित विसंक्रमण।
अन्तिम–कमरे व साज-सामान की सम्यक् सफाई एव वातन।

संगरोध —संपृक्त बच्चों का लगभग 14 दिन के लिए स्कूल से पृथक्करण।

डिफ्थीरिया (Diphtheria)

यह एक अत्यन्त तीव्र संचारी बीमारी है जो स्थानिक अथवा महामारी के रूप में फैलती है और विकीर्ण रूप में भी कई जगह फैली रहती है। इस बीमारी के रोगजनक जीवाणु-कॉर्नीबेक्टीरियम डिप्थिरी-वेसीलस श्रेणी के हैं जो टॉन्सिल्स (Tonsils), ग्रसनी (Pharynx), नासिका व स्वर यन्त्र (Larynx) पर अपना मुख्य प्रहार करते हैं और यहाँ एक प्रकार की पीत-श्वेत रंग की या धूसर (Grey) रंग की झिल्ली पैदा करते हैं। जीवाणु इसी झिल्ली मे पनपते है, संख्या मे अत्यधिक बढते हैं और अपना जैव-विष उत्पादित करते है। जीवाणु झिल्ली से बाहर नही आते पर इनके द्वारा उत्पादित जैव-विष (Toxin) इनके पिण्ड से बाहर निकल आता है और इसलिए इसे ऐक्सोटॉक्सिन (Exo-toxin) कहते हैं। यह ऐक्सोटॉक्सिन शरीर मे सचारित होता है और विविध कुप्रभाव पैदा करता है। जीवाणुओं का आक्रमण अधिकांशत: एक या दोनो टॉन्सिल्स पर प्राथमिकता से होता है। वहाँ से इनके द्वारा उत्पन्न की गई झिल्ली ग्रसनी, नासिका एवं स्वरयन्त्र की ओर बढती है और यदि न बढ़े तो टॉन्सिलस पर ही बनी रहती है। नासिका व ग्रसनी पर स्वतन्त्र

रूप से भी इनका प्रहार हो पाता है। इसके अनन्तर कभी-कभी इनका प्रहार आँख, मध्य-कर्ण, क्षतिग्रस्त त्वचा व योनि पर भी हो जाता है। अधिकांशतः यह रोग विश्वव्यापी है और बचपन या किशोरावस्था में होता है। 6 माह से छोटे बच्चे अधिकतर बचे रहते है पर इसके बाद स्कूली उम्र तक के बच्चे–5 वर्ष की आयु तक–इस रोग के अत्यधिक शिकार होते हैं–लगभग 50%; और इसके बाद लगभग 15 वर्ष की आयु तक के बच्चे व किशोर लगभग 30%। लड़के व लड़कियाँ समान रूप से ही इसके शिकार होते है। ठण्डे देशों में अधिकांश यह शरद् ऋतु में होता है जब कि भारत में यह अगस्त से मार्च तक प्रसारित होता रहता है। मृत्यु 5 वर्ष तक के बच्चो में अधिक होती है। ऐण्टि-टॉक्सीन के आविष्कार के पूर्व जहा मृत्यु दर लगभग 50% थी, अब ऐण्टि-टॉक्सीन के उपचार के फलस्वरूप यह घटकर 2.5% ही रह गई है। स्वर-यन्त्र मे झिल्ली का प्रसार होने पर बच्चे का श्वास रुकने लगता है और तुरन्त शल्यक्रिया (Tracheotomy) द्वारा यदि अस्थायी कृत्रिम श्वासमार्ग नही बनाया जाता तो उसकी मृत्यु हो ही जाती है।

रोगजनक जीवाणु—बेसीलस—कार्नीबेक्टीरिया डिफ्थिरी–जिसके तीन मुख्य प्रकार है—(1) कॉ० डिफ्थिरी ग्रेविस (C. Diph. Gravis), (2) कॉ डिफ्थिरी इन्टरमीडियस (C. Diph. Intermedius) व (3) कॉ डिफ्थिरी माइटिस (C. Diph Mitis)। इनमें ग्रेविस अधिक उग्र रोग फैलाता है और माइटिस में उग्रता नगण्य ही होती है। इन्टरमीडियस मध्य की उग्रता लिये रहता है।

आगार—मानव रोगी या रोगवाहक व्यक्ति और संक्रामक पदार्थ।

प्रसार—रोगी या रोगवाहक व्यक्ति के सीधे सम्पर्क से—बिन्दुक माध्यम द्वारा और रोगी के सक्रामक पदार्थों से जैसे रुमाल, तौलिये, बर्तन, कप, गिलास, थाली, कटोरी, चम्मच, छुरी व अन्य पदार्थ—चाकू-पेन्सिल, कलम-किताब, थर्मामीटर व खिलौने आदि से। पाश्चात्य देशो में गाय के दूध से भी प्रसार होना पाया गया है। गाय के स्तन पर डिफ्थीरिया व्रण (ulcers) हो जाते हैं जिनमें विद्यमान जीवाणु दूध में प्रवेश पा जाते हैं; लेकिन भारत में चूँकि दूध उबाल कर ही काम में लाया जाता है, अत. इस प्रसार का भय अधिकांशतः नही रहता।

उद्भवन काल—2 से 5 दिन।

संक्रामक अवधि—औसतन 2 से 4 सप्ताह तक। जब तक रोगी या रोगवाहक व्यक्ति जीवाणु रहित नही हो जाता उसे संक्रामक अवधि में ही शुमार किया जाता है। इसके लिए रोगी के नाक व गले से 24 घण्टे के अन्तर से स्वॉब (Swab) परीक्षण किया जाता है—स्वॉब से लिए गए नमूनों का जीवाणु-संवर्धन (Culture Growth) द्वारा परीक्षण किया जाता है। यदि जीवाणु न मिलें तो रोगी या रोग ग्राहक व्यक्ति को संक्रमण-विहीन घोषित किया जाता है।

लक्षण—प्रारम्भ मे बच्चा एक-दो दिन तक काफी सुस्त रहता है; सिर-दर्द और जी मचलाने की शिकायत करता है; भोजन के प्रति अरुचि दिखाता है। कभी-कभी

उल्टी भी करता है। इसके बाद टॉन्सिल पर झिल्ली प्रकट होने लगती है जो फैलती जाती है–या तो यह दोनों टॉन्सिल्स पर छा जाती है या ग्रसनी पर उतर आती है या नासिका की ओर बढ़ने लगती है। झिल्ली के आस-पास सूजन या लालिमा दिखाई देती है; गले में कुछ जलन और निगलने में कष्ट होता है। ज्वर अधिकांशतः मन्द ही होता है–प्रायः 100°F के आस-पास ही रहता है। नासिका ग्रसित होने पर रक्त-पूय-मिश्रित आस्राव निकलने लगता है; एक अजीब-सी गन्ध आती है। गला बाहर से फूला-फूला सा लगता है। जीवाणु उत्पादित जैव-विष प्रथम सप्ताह के अन्त तक शरीर के विभिन्न अवयवों में संचरित होकर अपना कुप्रभाव प्रकट करने लगता है। यदि जैव-विष की मात्रा अत्यधिक होती है तो विष व्यापकता (General toxaemia) के कारण प्रथम सप्ताह ही में मृत्यु हो सकती है, अन्यथा दूसरे सप्ताह में यह विष हृदय की मांसपेशियों को क्षति पहुँचाता है हृदय की गति और कार्यक्षमता को प्रभावित करता है और हार्टफेल की स्थिति पैदा कर देता है। तीसरे सप्ताह में विभिन्न तन्त्रिकाओं (Nerves) पर प्रभाव डालता है और अंगघात (Paralysis) की स्थिति पैदा करता है। यदि समय से उपयुक्त उपचार किया जाय और ऐन्टि-टॉक्सीन समुचित मात्रा में दी जाय तो कुछ ही दिनों में झिल्ली स्वतः ही गलने लगती है और रोगी ठीक होने लगता है।

प्रतिरक्षण – सभी नवजात शिशुओं को तीसरे, चौथे और पाँचवें माह में डी पी. टी —डिफ्थीरिया टेटनस टॉक्सॉइड व परटूसिस (कूकर खांसी) वैक्सीन का मिश्रित टीका, निर्धारित मात्रा में, लगवा ही देना चाहिये। इसके बाद यह टीका फिर से दूसरे वर्ष में और स्कूल प्रवेश के समय लगवा देना चाहिये। इससे बच्चा आक्रमण अवधि को पार कर जाता है। रोग प्रसार के दिनों में यथासम्भव सभी बालकों का और विशेषकर बाल संस्थाओं, स्कूलों एवं छात्रावासों में रहने वाले बालकों का विशेष परीक्षण द्वारा सर्वेक्षण किया जाता है जिसमें बालक की सुग्राह्यता, रोग-निरोध-क्षमता और रोगवाहक स्थिति का पता लगाया जाता है और आवश्यक निरोधात्मक व्यवस्था की जाती है। यह परीक्षण दो प्रकार से किया जाता है। (1) शिक टेस्ट (Schick test) से और (2) स्वॉब टेस्ट (Swab test) से। शिक टेस्ट में बालक की रोग-निरोध-क्षमता पता लगाया जाता है और स्वॉब टेस्ट से उसमें विद्यमान जीवाणुओं का।

शिक टेस्ट से बच्चे के अग्रबाहु (Forearm) पर नियमित मात्रा में डिफ्थीरिया टॉक्सीन का त्वचा में टीका लगाया जाता है। टॉक्सीन की मात्रा $\frac{1}{50}$ MLD होती है जिसे 0.2 ml में नियोजित करते हैं। MLD का अर्थ है Minimum Lethal Dose अर्थात् वह न्यूनतम मात्रा जो एक 250 gm वजन के गिनी-पिग (Guinea pig) को 4 दिन में मार दे। बालक के दायें अग्रबाहु में टॉक्सीन का इन्जेक्शन लगाते हैं और बायें अग्रबाहु में उतनी ही टॉक्सीन को 70°C पर 5 मिनट के लिए

तपा कर उसके विषैले भाग को नष्ट करके नियन्त्रण (Control) टीका लगाते हैं, जिससे यदि टॉक्सीन के प्रोटीन अंश की कोई प्रतिक्रिया हो तो उसे आंकी जा सके। 36 घण्टे बाद इन टीकों का निरीक्षण किया जाता है। यदि 24 घण्टे से 36 घण्टे मे दायें अग्रबाहु पर कम से कम 2 cm. व्यास का गोलाकार लाल चिकत्ता उठता है—चौथे दिन अत्यधिक उभार पर आता है और सातवें दिन से मिटने लगता है पर बायें अग्रबाहु पर कोई चिकत्ता नहीं उठता—तो इसका अर्थ होता है शिक टेस्ट पोजिटिव (positive) है अर्थात् बच्चे में टॉक्सीन के विरुद्ध या रोग के विरुद्ध रोग-निरोध-क्षमता नही है। यदि दायें अग्रबाहु पर कोई चिकत्ता नहीं उठता तो शिक टेस्ट नेगेटिव (Negative) होता है अर्थात् बच्चे में रोग निरोध क्षमता है। यदि दोनों अग्रबाहुओ पर समान से, 2 cm से कम हल्के चिकत्ते उठते हैं तो इसका अर्थ होता है चिकत्ते केवल टॉक्सीन के प्रोटीन अंश की प्रतिक्रिया के कारण उठे है और टेस्ट नेगेटिव हैं।

इसी के साथ स्वॉब टेस्ट करते हैं जिसमे जीवाणुओ का यथोचित संवर्ध माध्यम (Culture media) पर सवर्धन किया जाता है और उनके प्रकार का पता लगाया जाता है। यदि कोई जीवाणु नहीं पनपते तो स्वॉब टेस्ट नेगेटिव होता है और पनपते है तो पोजिटिव। पोजिटिव में जीवाणुओं के उग्र (Gravis) या अनुग्र (Mitis) आदि होने का पता लगाया जाता है। इस टेस्ट का परिणाम भी 24 से 48 घण्टों मे मिल जाता है। इन परीक्षण परिणामो का विवेचन पृष्ठ संख्या 158 पर दिये गये विवरण के अनुरूप किया जाता है और तदनुसार कार्यवाही की जाती है।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—स्वास्थ्य अधिकारियो को तुरन्त सूचना देनी होती है—केन्द्रीय स्वास्थ्य अधिकारियो और विश्व स्वास्थ्य संघ अधिकारियो को भी सूचना देनी होती है।

पृथक्करण—रोगी का सम्यक् पृथक्करण अस्पताल मे या घर में करना होता है। उपर्युक्त शिक एवं स्वॉब टेस्ट से सर्वेक्षण करके उद्भवन में होने वाले बच्चो का तुरन्त पृथक्करण और समुचित उपचार और खतरनाक रोगवाहक का भी पृथक्करण और जीवाणु निस्तारण का सम्यक् उपचार करना होता है।

विसंक्रमण—समकालिक—रोगी के नाक, मुँह से निकले सभी आस्रावो का सम्यक् नाश और उसके सभी संक्रामक वस्तुओ का यथोचित विसंक्रमण।

अन्तिम—बिस्तर, वस्त्र आदि को उबाल कर या स्टीम मे विसंक्रमण। कमरे व फर्नीचर की सम्यक् साबुन, सोडे से धोकर सफाई और समुचित सवातन।

सर्वेक्षण—संपर्क में आये सभी बच्चों का उपयुक्त विधि से सर्वेक्षण और यथोचित परीक्षण एवं आवश्यकतानुसार पृथक्करण आदि।

संगरोध—रोगवाहक बच्चों या वयस्क व्यक्तियों का तब तक पृथक्करण किया

शिक टेस्ट
(+) रोग-निरोध-क्षमता नही है
स्वॉब टेस्ट
(–) रोग-निरोध-क्षमता है
स्वॉब टेस्ट
(+) जीवाणु हैं
(–) जीवाणु नही है
टॉक्साइड का टीका लगाकर सक्रिय रोग-क्षमता उपार्जित करके परिरक्षित किया जाना चाहिये ।
(+) जीवाणु है
(–) जीवाणु नही हैं ।
कोई खतरा नहीं, कुछ नहीं किया जाता । किसी भी तरह के नियन्त्रण मे नही रखा जाता ।
यदि उग्र है तो
बच्चा खतरे मे है, उद्भवन काल में है, तुरन्त ऐन्टिटॉक्सिन से परिरक्षित किया जाना चाहिये और जो व्यवस्था रोगी के लिए करनी है, उसे अविलम्ब किया जाना चाहिए ।
यदि अनुग्र हैं तो
तुरन्त कोई खतरा नही है । अत: उसे परिरक्षित करने के लिए सक्रिय रोग-निरोध-क्षमता उपार्जन हेतु टॉक्साइड का टीका लगाया जाना चाहिये ।
उग्र है
रोग-निरोध-क्षमता होने से स्वयं रोगी नही होगा पर उग्र जीवाणु वहन करता है, अत: खतरनाक रोगवाहक है । पृथक् किया जाकर उपचार किया जाना चाहिये और जब तक जीवाणु रहित नही हो जाता नियन्त्रण मे रखा जाना चाहिये ।
अनुग्र हैं
विशेष खतरा नही; केवल देखरेख मे (नियन्त्रण मे) रखा जाकर अनुग्र जीवाणुओं के भी निस्तारण का उपचार किया जाना चाहिये ।

जाय जब तक वे जीवाणु मुक्त नहीं हो जाते। अन्य सम्पर्क में आये बच्चों के लिए ऊपर वर्णित व्यवस्था करनी चाहिए।

यक्ष्मा (Tuberculosis)

यह विशिष्ट संचारी रोग है जो बेसीलस ट्यूबर्कुलोसिस (Bacillus Tuberculosis) द्वारा होता है और तीव्र (Acute) या चिरकारी (Chronic) स्थिति का होता है। अधिकांशतः यह फेफड़ो को प्रभावित करता है पर फेफड़ों के अनन्तर आंतो, गुर्दों, अस्थियों, लसिका ग्रन्थियों (Lymphatic Glands), मस्तिष्कावरण (Meninges), त्वचा आदि को भी रोग-ग्रसित करता है। फेफड़ो मे होने वाले रोग को तपेदिक, राजयक्ष्मा या फुफ्फुस यक्ष्मा (Pulmonary Tuberculosis) कहते हैं और अन्यत्र होने वाले रोग को फुफ्फुसेतर (Extra Pulmonary) यक्ष्मा कहते हैं। यक्ष्मा जन-स्वास्थ्य की बहुत बड़ी समस्या है। यह विश्वव्यापी रोग है। विकसित देशों में जहाँ पिछली कुछ दशाब्दियों मे इसका प्रकोप आशंसित रूप से कम हुआ है वहाँ विकासशील देशों में यह आज भी एक प्रमुख समस्या बना हुआ है क्योंकि इसका आघटन (Incidence) एवं प्रसार आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं से बहुत कुछ सम्बन्धित होता है।

भारत में इस समय यह रोग शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रो मे लगभग समरूप ही से फैला हुआ है। सन् 1958 में राष्ट्रीय सेम्पल सर्वे की रिपोर्ट से ज्ञात हुआ कि शहरी क्षेत्रों में जहाँ इसका प्रसार लगभग 1·8%आबादी में है, वहाँ ग्रामीण क्षेत्रो मे 1 5% और लगभग 0.4%मरीज संक्रामक हैं अर्थात् उनके बलगम मे रोग जीवाणु नि.स्सारित होते रहते हैं। चूंकि हमारी ग्रामीण आबादी अधिक है अत. आज तो यह रोग हमारे लिए विशेषतया एक ग्रामीण समस्या बना हुआ है। औद्योगीकरण के बढ़ते चरणों में ग्रामीण लोग अधिक संख्या में औद्योगिक क्षेत्रों में आते है और शहरों से कीटाणु लेकर वापिस गाँवों मे जाते हैं बहाँ वे इस रोग का प्रसार करते हैं। बड़े-बड़े औद्योगिक शहरों में अस्वच्छ वातावरण, आवासीय असुविधा, अधिक जनवास के छोटे-छोटे असंवातित मकान एवं निम्नस्तर का रहन-सहन, रोग संक्रमण के सहायक कारण बनते है। भारत मे इस समय अनुमानतः 90 लाख से एक करोड़ व्यक्ति इस रोग से पीड़ित हैं। प्रतिवर्ष 18 से 20 लाख नये व्यक्ति रोगग्रसित होते हैं और लगभग 4 से 4½ लाख मृत्यु को प्राप्त होते हैं। रोग का संक्रमण 6 वर्ष तक की आयु के बालक-बालिकाओं में लगभग 15%होता है तो 15 वर्ष तक के किशोर-किशोरियो मे 30% और 15 से 40 वर्ष तक की आयु के व्यक्तियो मे लगभग 50%। बचपन में कुछ बालक स्वाभाविक प्रतिरक्षा शक्ति के फलस्वरूप प्राथमिक संक्रमण का प्रतिरोध कर पाते हैं पर उनमें एक निष्क्रिय फोकस (Focus)बन जाता है जिसे घोन पिण्ड (Ghon's Body) कहते हैं। दुबारा जब कभी भी युवावस्था में थोड़ासा भी संक्रमण होता है तो रोग उनमें पूरे वेग से उभर आता है। भारत मे महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों में यह रोग अधिक होता है–सम्भवतया उनके अपेक्षाकृत बाहरी

क्षेत्रों में अधिक आवागमन एवं रोगी व्यक्तियों के सम्पर्क में आने के कारण । लक्षण-हीन संक्रमण से या रोगी होने पर भी *रोग-निरोध-क्षमता अति ही न्यून अवधि की* उपार्जित हो पाती है ।

आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ जो रोग प्रसार में सहायक होती हैं वे हैं–

(i) गरीबी–निम्न एवं मध्यम वर्ग के लोग अपर्याप्त पोषण व रहन-सहन के निम्न स्तर के कारण अधिक रोग-ग्रस्त होते हैं ।

(ii) *अशिक्षा–स्वास्थ्य सम्बन्धी आधारभूत जानकारी का अभाव रोग प्रसार* का कारण बनता है ।

(iii) व्यवसाय–कोयला, तांबा टिन, पत्थर आदि की खानों में काम करने वाले श्रमिकों, मिल मजदूरों, बन्द या घुटे स्थानों पर अधिक समय तक काम करने वाले लोगों, या मरीजों के निरन्तर सम्पर्क में *आने वाले डॉक्टरों-नर्सों आदि में रोग अधिक होने की सम्भा-*वना रहती है ।

(iv) भीड़भाड़–गन्दी बस्तियों के अधिक जनवासी आवासों, औद्योगिक संस्थानों रेल, जहाज आदि की यात्राओं, शरणार्थी काफिलों या शिविरों छात्रावासों, सिनेमाघरों आदि में प्रसार की सम्भावना अधिक रहती है ।

(v) युद्ध, दैवी प्रकोप—युद्ध में तथा दैवी प्रकोपों के कारण उत्पन्न हुई शर-णार्थी समस्याओं, अभाव की स्थितियों और जन-समुदायों की *अदला-बदली की परिस्थितियों में भी प्रसार अधिक होता है ।*

(vi) सामाजिक रीति-रिवाज—बाल-विवाह, पर्दाप्रथा, खान-पान के व्यर्थ के प्रतिबन्ध, एक ही थाली में सम्मिलित सहभोज, हुक्का-चिलम का सह-प्रयोग आदि ।

(vii) व्यक्तिगत आदतें—स्वास्थ्य नियमों की अवहेलना, जगह-जगह थूकना, बच्चों को चूमना, आधी-आधी रातें जगना, तनावपूर्ण स्थिति बनाये रखना, असयमी जीवन-यापन करना, अत्यधिक मद्यपान व नशीली वस्तुओं का प्रयोग करना आदि ।

(viii) *अन्य परिस्थितियाँ—बड़ा परिवार, बार-बार प्रसव, अन्य लम्बी बीमारी,* मधुमेह, रक्तहीनता आदि भी रोग के आक्रमण की पृष्ठभूमि तैयार करता है ।

रोगजनक जीवाणु—माइक्रोबेक्टीरियम ट्यूबर्कुलोसिस जिसमें मानव एवं गव्य प्रारूप (Human & Bovine type) होते हैं । मानव प्रारूप अधिकांश तपैदिक–फुफ्फुस यक्ष्मा–उत्पादित करता है जबकि गव्य प्रारूप अधिकांशतः आन्त्र या अन्य अवयवी यक्ष्मा ।

आगार—मानव-तर्पदिक का रोगी जो जीवाणु निस्तारित करता है। फुफ्फुसेतर रोगी अधिकांश सीधा रोग प्रसार नहीं कर पाता। गव्य जीवाणु अधिकांश गाय के दूध में पाये जाते हैं।

प्रसार—(1) रोगी के सीधे सम्पर्क से-बिन्दुक माध्यम द्वारा, (2) सूखे बलगम की धूलिकण से जो सांस द्वारा श्वसन पथ में प्रवेश पाये, (3) रोगी की संक्रमी वस्तुओं से, (4) चुम्बन से, (4) गव्य जीवाणु दूध से जो उबला या पस्चुरीकृत न हो या ऐसे ही दूध से बने खाद्य पदार्थों से। इसके अनन्तर प्रसार में सहायक परिस्थितियों का वर्णन पूर्व मे किया जा चुका है। त्वचा यक्ष्मा का संक्रमण प्रसार संरोपण से होता है।

उद्भवन काल—यह व्यक्ति की स्वाभाविक प्रतिरक्षा शक्ति पर निर्भर करता है पर साधारणतया प्राथमिक संक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला प्राथमिक फोकस लगभग 4 से 6 सप्ताह लेता है और पूर्ण रोग उत्पत्ति में कई वर्ष लग सकते हैं।

संक्रामक अवधि—जब तक रोगी रोग-जीवाणु निस्तारित करता रहता है। आजकल विशिष्ट औषध उपचार-कीमोथेरेपी (Chemotherapy) की वजह से यह अवधि काफी घटकर सामान्यतया 4–6 माह की रह गई है।

लक्षण—रोग का प्रारम्भ धीरे-धीरे होता है। खांसी, थोड़े से परिश्रम पर अत्यधिक थकावट, ज्वर—जो संध्या समय अधिक हो जाता है, शारीरिक वजन में निरन्तर गिरावट, रात में अत्यधिक पसीना, भर्राया स्वर, दुष्पचन, भूख की कमी सीने में दर्द और फेफडे से कफ के साथ रक्त स्राव (Haemoptysis) आदि तर्पदिक के मुख्य लक्षण है।

प्रतिरक्षण—बी सी जी. वेक्सीनेशन द्वारा। बी, सी जी का टीका सैद्धान्तिक रूप से तो उन व्यक्तियों को लगाया जाना चाहिए जिन्हें प्राथमिक संक्रमण नहीं हुआ है। प्राथमिक संक्रमण हुआ है या नहीं, इसकी जाँच ट्यूबरकुलिन टेस्ट से की जाती है ट्यूबरकुलिन (Tuberculin) का निर्धारित मात्रा में अग्रबाहु की त्वचा में टीका लगाया जाता हैं और 72 घण्टे में परीक्षण किया जाता है। यदि 8mm के व्यास का लाल व मजा चिकत्ता उभरता है, तो यह पोजिटिव प्रतिक्रिया होती है अन्यथा नेगेटिव। पोजिटिव का अर्थ होता है प्राथमिकता या पूर्व में लक्षणहीन संक्रमण का होना जिसके कारण व्यक्ति ट्यूबरकुलिन संवेदी (Sensitive) हुआ है अतः इन व्यक्तियो को B.C G. का टीका नहीं लगाया जाता है। केवल नेगेटिव प्रतिक्रिया वालो को ही यह टीका लगाया जाता है और पोजिटिव प्रतिक्रिया वालों को निरन्तर देख-रेख मे रखा जाता है। प्रारम्भ में तो भारत में B.C G. वैक्सीनेशन-4 माह से ऊपर की उम्र के बच्चो को—ट्यूबरकुलिन टेस्ट के बाद ही नेगेटिव प्रतिक्रिया वाले बच्चो व किशोरों का किया जाता था, पर बाद मे अनुभव के आधार पर यह निश्चय किया गया कि 0–20 वर्ष तक के बच्चों एवं वयस्कों को इस टेस्ट बगैर ही वैक्सीनेट कर देना उपयुक्त होगा जिससे B.C.G. वैक्सीनेशन के

अभियान में समय की समुचित बचत हो सके । 1965 से B. C. G. वैक्सीनेशन अब सीधा ही किया जाने लगा है । बी. सी. जी. वैक्सीन गव्य प्रारूप वेगीलस के अनुग्र उपभेद से बनाया जाता है जिसमें जीवाणु जीवित अवस्था में रहते हैं । आजकल यह फ्रीज-ड्राइड-वैक्सीन के रूप में प्राप्त होता है । इस अनुग्र उपभेद को फ्रांस के जीवाणु विज्ञान वेत्ता कालमेट ग्वेरिन ने तैयार किया था और इसीलिए इसे बेसीलस कालमेट ग्वेरिन (B. Calmette & Guerin) का नाम दिया गया और इससे तैयार की गई वैक्सीन को B.C.G. का ।

B.C G. का अब एक ही टीका 0-1 माह की आयु में लगाया जाता है जिसका प्रभाव लगभग 10-12 वर्ष तक (सुग्राह्यता अवधि के परे तक) रहता है । यदि आवश्यकता हो तो दूसरा टीका 14–15 वर्ष की आयु में भी लगाया जा सकता है । टीका बाहु पर डेल्टोइड पेशी में केवल त्वचा ही में (Intradermal) लगाया जाता है– मात्रा 0 075 mg. in.0·05ml. की होनी है । 4 माह से छोटी उम्र के शिशुओं को आधी मात्रा ही दी जाती है । 80% वैक्सीन लगे बालकों एवं युवकों में निर्धारित अवधि की रोग-निरोध-क्षमता निश्चित रूप से उपार्जित हो पाती है ।

1968 में B.C.G. की प्रतिरक्षण क्षमता पर और अधिक अध्ययन करने का कार्य I. C. M. R. व W. H. O. ने हाथ में लिया । परिणाम कुछ विरोधाभाषी ही निकले लेकिन भारत सरकार ने इसे यथावत् चालू रखने का निर्णय लिया है ।

प्रतिरोधात्मक उपाय

समस्या की गम्भीरता एवं महत्ता को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने इसकी रोकथाम के लिए प्रथम पञ्चवर्षीय योजना ही में राष्ट्रीय क्षय नियन्त्रण कार्यक्रम (National Tuberculosis Control Programme) का प्राथमिकता से आयोजन किया और उसमें आवश्यकतानुसार समय-समय पर सुधार एवं संवर्धन किया । लेकिन B. C. G. वैक्सीनेशन का कार्य तो इससे भी पूर्व सन् 1951 में ही विस्तृत पैमाने पर प्रारम्भ कर दिया गया था ।

राष्ट्रीय-क्षय-नियन्त्रण कार्यक्रम के निम्न मुख्य उद्देश्य निर्धारित किये गये:—

1. क्षय रोगियों का पता लगाना और उनका पञ्जीकरण करना–अधिसूचना का ध्येय स्वत: ही पूरा होता है ।
2. रोगियों का घरों या चिकित्सा-संस्थाओं में समुचित इलाज—पृथक्करण, संक्रमण स्रोत-निवारण एवं विसंक्रमण से रोग प्रसार पर रोक-थाम का ध्येय पूरा होता है ।
3. सम्पर्कित व्यक्तियों का सर्वेक्षण, सुग्राही व्यक्तियों की जाँच—रोगी पाये जाने पर इलाज की समुचित व्यवस्था, B. C. G द्वारा प्रतिरक्षण आदि से संगरोध एवं प्रसार निरोध का ध्येय पूरा होता है ।
4. अनुसधान, तकनीकी प्रशिक्षण, जन-सम्पर्क एवं स्वास्थ्य शिक्षा और अन्य सहयोगी उपायों का क्रियान्वयन आदि ।

व्यवस्था एवं कार्य विधि

केन्द्रीय एवं प्रान्तीय स्वास्थ्य मन्त्रालयों व निदेशालयों में विशेष प्रशासनिक एवं तकनीकी प्रकोष्ठों की स्थापना; B.C.G. तैयार करने के लिए विशिष्ट प्रयोगशालाओं का विस्तार; अन्य साज-सामान वाहन आदि की व्यवस्था; तकनीकी कर्मचारियों का यथोचित प्रशिक्षण; जिला स्तरीय क्षय नियन्त्रण केन्द्रों की स्थापना; बड़े-बड़े शहरों में प्रति 2 या 3 लाख की आबादी पर एक टी. बी. क्लीनिक की स्थापना; टी. बी. अस्पतालों में यथासम्भव रोग शय्याओं का विस्तार; सामान्य अस्पतालों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और डिस्पेन्सरियों आदि में रोग निदान एवं गृह उपचार की व्यवस्था; और प्रत्येक प्रान्त में कम से कम एक ट्रेनिङ्ग-डिमोन्स्ट्रेशन-केन्द्र की स्थापना आदि का कार्य लगन से सम्पन्न किया गया। जिला क्षय-नियन्त्रण-केन्द्रों को जिले में विभिन्न संस्थाओं द्वारा किये जाने वाले कार्यों में समन्वय, सहयोग, तकनीकी सहायता और अतिरिक्त सर्वेक्षण एवं वैक्सीनेशन आदि का दायित्व सौंपा गया।

रोगियों की जांच एवं ढूँढ तलाश—सभी चिकित्सा संस्थाओं एवं केन्द्रों पर आने वाले उन रोगियों की पूरी जाँच जो 4 सप्ताह तक की खाँसी, ज्वर, सीने में दर्द व बलगम में रक्त-स्राव आदि की शिकायत करें, उनके बलगम में रोग जीवाणु विषयक परीक्षा व सीने की एक्सरे परीक्षा करके रोग का सम्यक् निदान किया जाता है। ऐसे रोगी जिनका घर पर ही आसानी से इलाज हो सके उन्हें निर्धारित मात्रा में एक माह की दवाइयाँ दी जाती हैं, दवाई लेने की विधि व समकालिक विसंक्रमण एवं व्यक्तिगत अपनाने योग्य निरोधक उपायों से विज्ञ किया जाता है और इन्हीं बातों का ठीक से पालन होता है या नहीं, इसका पता लगाने के लिए निर्धारित हेल्थ विजिटर को समय-समय पर उसके घर पर जाना होता है। हेल्थ विजिटर मुख्यतया रोगी को दिये मास्क, जो उसे संक्रामक अवधि तक निरन्तर धारण करने होते हैं, के विसंक्रमण और उसकी अन्य वस्तुएं—वस्त्र, खाने-पीने के बर्तन आदि के यथोचित विसंक्रमण की व्यवस्था करवाता है। रोगी के बलगम का सम्यक्—जला कर या 5% कार्बोलिक के घोल में निर्धारित समय तक रखकर—निस्तारण की व्यवस्था करवाता है, रिश्तेदारों आदि को इस कार्य में प्रशिक्षित करता है और रोगी के यथासम्भव पृथक्करण की व्यवस्था से भी आश्वस्त होता है।

डॉक्टर रोगी के इलाज पर निरन्तर निगाह रखते हैं और आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन या संवर्धन करते हैं। जिन औषधियों से आजकल इलाज किया जाता है उनकी सेवन विधि अत्यन्त ही सरल और परिणामपूर्ण आशाजनक होते हैं। इलाज चाहे घर पर किया जाय या अस्पताल में, परिणाम समान रूप से एक सा ही होता है, अतः लगभग 90% रोगियों का इलाज घर पर ही किया जाता है। केवल ऐसे रोगी जिनके घर पर कोई देखभाल करने वाला नहीं होता पृथक्करण की साधारण-सी व्यवस्था भी नहीं हो पाती, गृह इलाज के लिए दी जाने वाली दवाइयों का समुचित प्रभाव नहीं होता या शल्यक्रिया की आवश्यकता होती है, उन्हें क्षय रोग

अस्पतालों, सामान्य अस्पतालों के क्षय-वार्डों या सैनेटोरिया आदि में भर्ती करने की व्यवस्था की जाती है। इलाज के लिए जो औषधियाँ काम में लाई जाती हैं वे मुख्यतया PAS(Para amino-Salicylic acid) INH (Isoniazid), Thioacetazone एवं Streptomycin हैं जिनमें से कोई दो, एक समय, साथ-साथ दी जाती है। साथ में विटामिन "बी वर्ग" विशेषकर $B_1 B_6$ निर्धारित मात्रा में दिये जाते हैं, उपचार लगातार या बीच-बीच में विश्राम के साथ लगभग 18 माह तक करना होता है। जिन रोगियों को Streptomycin के इन्जेक्शन लगाने होते हैं उन्हें हेल्थ विजिटर द्वारा रोगी के घर पर ही लगाने की व्यवस्था की जाती है।

रोगी के सम्पर्क मे आये सभी व्यक्तियों का, स्कूली छात्रों का, जिस क्षेत्र में रोगी अधिक हों, उस क्षेत्र के सभी निवासियों का व उन उद्योगों एवं व्यावसायिक संस्थानों में काम करने वाले श्रमिकों का, जिन्हें अपेक्षाकृत रोग होने की अधिक सम्भावना हो, ट्यूबरकुलिन टेस्ट व एक्सरे (Mass miniature Rediography) द्वारा सर्वेक्षण किया जाता है और उनमें यदि कोई रोगी पाया जाता है तो उसके इलाज आदि की तुरन्त व्यवस्था की जाती है; अन्यथा जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ B.C.C वैक्सीनेशन किया जाता है और सुग्राही व्यक्तियों को निरन्तर देख-रेख मे रख जाता है। ऐसे रोगी जो ठीक हो गये हैं उनके पुनर्वास–व्यवसाय आदि में औ सामाजिक सुस्थापन की व्यवस्था की जाती है।

अन्य सहयोगी उपायों में :—

(i) यथासम्भव स्वच्छ वातावरण एवं मक्खियों का निराकरण।

(ii) औद्योगिक बस्तियों मे आवास एवं संवातन की यथोचित व्यवस्था।

(iii) बड़े-बड़े शहरों में पार्क व खुले हवादार मैदानों की व्यवस्था।

(iv) खतरे के व्यावसायिक व औद्योगिक संस्थानों मे यथोचित रोग निवा व्यवस्था।

(v) लोगों के आर्थिक स्तर में यथासाध्य सुधार और समुचित एवं संतुलि आहार-व्यवस्था।

(vi) आवश्यकताग्रस्त व्यक्तियों की समाज सुरक्षा (Social security) ? अन्तर्गत आर्थिक सहायता एवं आवश्यक वस्तुओं की सस्ते दामों प उपलब्धि।

(vii) हास्चुरीकृत दूध वितरण व्यवस्था, एवं

(viii) प्रभावशील जनसम्पर्क व शिक्षा प्रचार आदि।

अशन रोग

वे रोग जिनका संक्रमण पाचन पथ से अशन (ingestion) द्वारा होता है उन्हें हम अशन रोग की संज्ञा देंगे। इनमें से कुछ मुख्य-मुख्य निम्न रोगों पर ही यहाँ हम विचार करेंगे।

आन्त्र-ज्वर (Enteric fevers)

आन्त्र-ज्वर में टाइफाइड-मोतीझरा (Typhoid) एवं पैराटाइफाइड (Paratyphoid) को अंकित किया जाता है। टाइफाइड अधिक उग्र प्रकृति का रोग है जब कि पैराटाइफाइड मन्द प्रकृति का, पर दोनों ही विशिष्ट संचारी रोग है और यह क्रमशः बेसीलस टाइफोसस अथवा साल्मोनेला टाइफी (B. Typhosus or Salmonella typhii), एवं बेसीलस पैराटाइफोसस या साल्मोनेला पैराटाइफी ए.बी.(B. Paratyphosus or Salmonella Para typhii A.B.)द्वारा उत्पादित होते हैं। साल्मोनेला टाइफी जहाँ 85–90% रोग पैदा करते हैं वहाँ पैराटाइफी केवल 1·5 से 15% ही। यह जीवाणु आँतों मे प्रवेश पाकर प्राथमिकता से पेयर पैच (Peyer's Patches) पर जख्म पैदा करते हैं और वहां से संख्या में अत्यधिक बढ़ कर रक्त द्वारा सारे शरीर में फैल जाते हैं।

अधिकांशतः यह ज्वर स्थानिक रूप से फैलते हैं और विकीर्ण रूप से भी फैले रहते हैं, पर कई बार महामारी का रूप भी ले लेते हैं। वैसे यह विश्वव्यापी रोग है *किन्तु पश्चिमी विकसित देशों में स्वच्छ एवं सुरक्षित-जल व्यवस्था और जनस्वास्थ्य* के उन्नत स्तर के कारण इनका प्रसार लगभग समाप्त-सा हो चुका है। भारत मे इनका प्रसार, विशेषकर टाइफाइड का, अभी भी बना हुआ है। पैराटाइफाइड हालाँकि भारत मे अधिक नही होता फिर भी समय-समय पर कुछ रोगी होते ही रहते हैं। अधिकांशतः टाइफाइड '5 से 30 वर्ष की आयु में होता है और महिलाओ की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। आक्रमण दर लगभग 100 से 2000 प्रति लाख आबादी की है और मृत्यु दर लगभग 2 से 3% की। एक आक्रमण काफी लम्बे समय की रोग निरोध-क्षमता उपार्जित करा पाता है—अधिकांश दूसरा आक्रमण नही होता, लेकिन आजकल जिन ऐण्टि-बायोटिक (Anti Biotic) औषधियों से उपचार किया जाता है उनसे रोग-अवधि मे अपेक्षाकृत कटौती हो जाने के कारण रोग-निरोध-क्षमता पूर्ण रूप से पनप नहीं पाती और इस कारण दुबारा आक्रमण का या पहले आक्रमण का ही पुनरावर्तन (Relapse) होना सम्भावित हो जाता है। पुनरावर्तन *के निराकरण हेतु, अच्छा हो, रोगी को ठीक होने पर, T.A.B का टीका लगा दिया* जाय। रोग-मुक्ति पर लगभग 2 से 5% व्यक्ति रोगवाहक बन जाते हैं जिनमें महिलाओं का अनुपात लगभग पाँच गुना अधिक होता है। इनमें कुछ तो केवल अल्प-कालिक-उल्लाघ अवधि-के रोग वाहक ही बनते हैं, जबकि कुछ चिरकारी, जो वर्षों अपने मलमूत्र मे रोग जीवाणुओं को निस्तारित करते रहते हैं। मूत्र माध्यम के रोगवाहक अधिक खतरनाक होते हैं, क्योंकि मूत्र विसर्जन दिन में कई बार होता है, और ये व्यक्ति अपनी असावधानी से गन्दे हाथों द्वारा खाने-पीने की वस्तुओ को अधिक संदूषित करने की स्थिति में होते हैं। टाइफाइड अधिकांश जुलाई से सितम्बर मास तक अधिक प्रसारित रहता है।

रोगजनक जीवाणु—ऊपर उल्लेखित हैं।

आगार—मानव—(1) स्वतः रोगी, और
(2) रोगवाहक व्यक्ति।

प्रसार—(1) अधिकांश वाहनिक पदार्थों द्वारा जैसे जल, खाद्य पदार्थ-भोजन दूध, दूध से बने पदार्थ–दही, मट्ठा, मलाई, मिठाइयाँ, आइसक्रीम व कच्ची सब्जियाँ, फल आदि। इनका संदूषण सीधे रोगी के मलमूत्र से होता है या मक्खियों द्वारा वाहित मल-मूत्र के अंश द्वारा।

(2) सीधे रोगी या रोगवाहक व्यक्ति द्वारा—रोगी के संक्रमी पदार्थों से अन्यों को सीधा संक्रमण होना और रोगवाहक व्यक्तियों से वाहनिक पदार्थों का संदूषित होना।

इसके अनन्तर व्यक्तिगत स्वच्छता का अभाव, स्वास्थ्य नियमों की अनभिज्ञता, स्वच्छ एवं सुरक्षित जल व्यवस्था का अभाव, भोजन-विक्रय प्रतिष्ठानों में स्वच्छता का अभाव, कूड़े-कचरे व मल-मूत्र का दोषपूर्ण निकास एवं निस्तारण आदि महत्वपूर्ण सहायक कारण बनते हैं।

उद्भवन काल—टाइफाइड–5 से 21 दिन
पैराटाइफाइड–3 से 10 दिन–पैराटाइफाइड 'ए' में कुछ और भी अधिक दिन

संक्रामक अवधि—जब तक रोगी पूर्ण जीवाणु मुक्त नहीं हो जाता। औसतन 6–8 सप्ताह।

लक्षण—टाइफाइड का प्रारम्भ धीरे-धीरे होता है जबकि पैराटाइफाइड का बहुधा सहसा। टाइफाइड की अवधि लम्बे समय की—लगभग 4 सप्ताह की होती है जबकि पैरा० की 10 या 12 दिन ही की। टाइफाइड में ज्वर से पूर्व सख्त सिर दर्द और कमर दर्द होने लगता है; लगभग 12 से 24 घण्टे में ज्वर हो जाता है जो प्रारम्भ में 101°F से 102°F तक होता है पर बाद में क्रमशः बढ़ने लगता है और दूसरे सप्ताह में *104°F तक पहुँच जाता है। सन्ध्या समय ज्वर अधिक हो जाता* है। ज्वर में रोगी बड़बड़ाने लगता है। ज्वर के अनुपात में नाड़ी धीमी ही रहती है; जुबान पर किनारों को छोड़ सफेद विलेपन (Coating) जम जाती है। दूसरे सप्ताह में पेट व कमर पर छोटे-छोटे मेक्यूल श्रेणी के दाने उभर आते हैं। तिल्ली *बढ़ जाती है। तीसरे सप्ताह में आंतों में पड़े जख्मों से रक्तस्राव (Haemorrhage)* या जख्म-छिद्रण (Perforation) की सम्भावना बन जाती है और उस स्थिति में उपयुक्त उपचार के अभाव में मृत्यु का भय रहता है। चौथे सप्ताह में ज्वर धीरे-धीरे उतरने लगता है। रोगी तब तक अत्यन्त ही असह्य और शक्तिहीन हो जाता है।

प्रतिरक्षण—मृत जीवाणुओं से बनी वैक्सीन जिसमें टाइफाइड और पैराटाइफाइड

'ए' व 'बी' के जीवाणु होते हैं, और इसीलिए इसे T.A.B. कहते हैं, टीके लगाये जाते हैं। प्रथम टीका 0·5ml. का और दूसरा 4 से 6 सप्ताह के अन्तर पर 0·5ml. का लगाया जाता है। रोग-निरोध-क्षमता कम से कम एक वर्ष की उपार्जित हो पाती है। इसके बाद प्रतिवर्ष 0·5ml. का एक टीका लगवा लेना उचित होता है यदि रोग स्थानिक रूप में रहता हो। बच्चों को आधी मात्रा ही दी जाती है। चूंकि हमारे यहाँ पैराटाइफाइड उग्र रूप से एवं विस्तृत प्रसार से नहीं होता अतः अब यह सोचा जा रहा है कि केवल टाइफाइड बेसीलस से तैयार की गई वैक्सीन का प्रयोग करना ही हितकर होगा।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—भारत में यह रोग अधिकांश स्थानिक रूप में फैले रहने के कारण विज्ञाप्य सूची में नहीं लिया गया है। अच्छा हो इसे भी विज्ञाप्य सूची मे लिया जाय। अन्यथा भी इसकी अधिसूचना देना वाञ्छनीय है क्योंकि इससे रोगी संख्या और रोग विस्तार का पता लगता है और महामारी फैलने की आशंका के समय समुचित रोकथाम की व्यवस्था करने में सुभीता होता है।

पृथक्करण—अस्पताल ही में करना श्रेयस्कर होता है जिससे उचित उपचार और परिचर्या हो सके और रोगप्रसारण की सम्भावना न्यून से न्यून रहे। यदि यह सुविधा उपलब्ध न हो सके तो घर पर ही, मक्खियों से सुरक्षित कमरे में, पृथक्करण करना होता है; और रोगी के मल-मूत्र व संक्रामक पदार्थों का सम्यक् विसंक्रमण करना होता है। यह व्यवस्था तब तक बनाई रखनी होती है जब तक रोगी जीवाणुओं से मुक्त नहीं हो जाता। इसकी पहिचान के लिए रोगी के मलमूत्र का तीन दिन तक प्रतिदिन परीक्षण करना होता है। यदि तीनों नमूनों मे जीवाणु न मिलें तो रोगी को रोग-मुक्त घोषित किया जाता है।

विसंक्रमण

समकालिक—सबसे अधिक ध्यान रोगी के मल-मूत्र निष्कासन पर देना चाहिये। मल-मूत्र को ढक्कनदार पात्र (Bed Pan) मे लेकर या तो लकड़ी के बुरादे के साथ जला देना चाहिये, या समभाग चूने, 8oz. प्रति गैलन के हिसाब से ब्लीचिंग पाउडर या 16oz. प्रति गैलन के हिसाब से 5% क्रीसोल घोल मे मिलाकर, 2 घण्टे पड़ा रखने के बाद मल-नल में बहा देना चाहिये या भूमि मे गाड़ देना चाहिये।

रोगी के खाने-पीने के बर्तन व छोटे-मोटे वस्त्र उबाल कर साफ कर देने चाहिये। ऐसे वस्त्र जो मल-मूत्र मे सने हों, उन्हें 2.5% क्रीसोल घोल में निर्धारित समय तक रखकर धो लेना चाहिये।

रोगी की परिचर्या करने वाले व्यक्तियों को आवश्यकतानुसार साबुन ब्रश से हाथों की सम्यक् सफाई करके उन्हें 1.0 % लाइसोल घोल में धो लेना चाहिये।

अन्तिम विसंक्रमण में रोगी के सभी वस्त्र, बिस्तर, गदेले आदि पूर्व वर्णित विधि से साफ करने चाहिये और कमरे की सफाई भी ब्लीचिङ्ग पाउडर या 5% फीनल, क्रीसोल आदि से धोकर करनी चाहिये।

सर्वेक्षण एवं सगरोध

रोगी के सम्पर्क में आये सभी व्यक्तियों की 3 सप्ताह तक देख-रेख और T.A.B. टीके से प्रतिरक्षित करना वाछनीय होता है। उनमे से यदि कोई भोजन प्रतिष्ठानों मे काम करते हो या रसोइये आदि का कार्य करते हो, तो उन्हे इस अवधि तक इस काम से पृथक् रखना और उनके रक्त परीक्षण Vi Agglutination test—से उनके रोगवाहक होने या न होने का पता लगाना होता है। यदि वे रोगवाहक हैं तो उनको अनिवार्य रूप से इस कार्य से तब तक पृथक् रखना चाहिए, जब तक वे समुचित उपचार से या शल्य क्रिया से–जिसमें पित्त-थैली निकाल ली जाती है–वाहक स्थिति से मुक्त नही हो जाते।

इसके उपरान्त रोग के अधिक प्रसार की स्थिति में करने योग्य आवश्यक कार्य–

(i) स्वच्छ, शुद्ध एव सरक्षित जल सम्भरण व्यवस्था, जल का अतिरिक्त क्लोरीनिकरण;
(ii) कूडे-कचर व मल-मूत्र का समय से निष्कासन एवं सम्यक् निस्तारण;
(iii) मक्खियो का यथासम्भव निराकरण और भाजनीय पदार्थों का इनसे सरक्षण;
(iv) खाद्य प्रतिष्ठानों का निरीक्षण एवं उनमें यथोचित सफाई की व्यवस्था और वहाँ काम करने वाले लोगो का स्वास्थ्य परीक्षण, तथा रक्त परीक्षण द्वारा उसकी रोगवाहक स्थिति की जाँच;
(v) बाजार मे बिकने वाली बनी बनाई खाद्य वस्तुओं की मक्खियों से सुरक्षा;
(vi) पास्चुरीकृत दूध वितरण व्यवस्था और
(vii) प्रभावशाली जनसम्पर्क स स्वास्थ्य शिक्षा प्रसार का कार्य।

हैजा (Cholera)

यह एक अत्यन्त संक्रामक एवं प्रचुरता से फैलने वाला संचारी रोग है जो विब्रियो कॉलेरी (Vibrio Cholerae) जीवाणुओं द्वारा उत्पादित होता है। विब्रियों के वंसे तो कई उपभेद हैं पर विशिष्ट दा ही हैं। (1) विब्रियो कॉलेरी और (2) विब्रियो एल टॉर (Vibrio El Tor)। भारत में कॉलेरा-हैजा-का स्थानिक प्रसार पश्चिमी बगाल के डेल्टाई क्षेत्र मे है। यही से समय-समय पर इनका प्रसार महामारी के रूप मे अन्य प्रान्तो में रेल व सडक मार्ग से मानव आवागमन के साथ होता रहा है। अतीत मे यह रोग-विशेषकर विब्रियो कॉलेरी द्वारा उत्पादित विश्व-मारी के रूप मे फैलता रहा है। 1817-1923 तक इसके 6 बार विश्वमारी

प्रसार हो चुके हैं पर 1923 के बाद पश्चिम देशों में इसका कोई प्रसार नहीं हुआ। पिछले कुछ वर्षों में 1961-72 तक–एल टॉर द्वारा उत्पादित रोग के कुछ विस्तृत प्रसार अवश्य हुए हैं जिनमें रोग का प्रारम्भ इन्डोनेशिया से होकर, बर्मा, बंगला देश भारत, पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान, ईराक, ईरान, दक्षिण रूस, उत्तर पूर्वी व उत्तर पश्चिमी अफ्रीका, मलेशिया, थाइलैण्ड, फिलिपाइंस, और स्पेन व पुर्त्तगाल आदि में समय-समय पर फैला है। एल-टॉर का प्रसार तेजी से और विस्तृत क्षेत्र में होता है। भारत में इन दिनों एल-टॉर का स्थानिक सक्रमण पूर्वीय समुद्र तट के कुछ प्रांतों में विद्यमान हैं। राजस्थान में इसका गत आक्रमण सन् 1969 में अकाल-ग्रसित बाड़मेर, जैसलमेर व जोधपुर जिलों के कुछ भागों में हुआ था। अधिकांशतः इसका महामारी के रूप में प्रसार मई से अक्टोबर के महीने में होता है और नदी किनारे लगने वाले मेलों में अधिक। ऐसे ही मेलो से इसका फैलाव अन्य स्थानों को होता है। शिशु जहाँ अधिकतर इससे बचे रहते हैं, वहाँ यह छोटे बालकों, किशोरों, वयस्कों एवं ढलती उम्र के लोगों को अधिक आक्रान्त करता है। दोनों ही लिङ्गों के व्यक्ति समान रूप से प्रभावित होते हैं। मृत्यु-दर महामारी के समय और ऐण्टि बायोटिक औषधियों के उपचार से पूर्व लगभग 5-75% थी जबकि अब यह काफी कम हो गई है—लगभग 0.06 से 30 प्रति लाख आबादी पर।

रोगजनक जीवाणु—ऊपर वर्णित हैं।

आगार—मानव रोगी एवं रोगवाहक व्यक्ति।

प्रसार—रोगी के दस्त एवं उल्टी से, वाहनिक पदार्थों के संदूषण से—जल, दूध व दूध से बने पदार्थ, भोजन आदि से।

अधिकांशतः इस रोग का प्रसार जल के माध्यम से ही होता है। पोखरों, तालाबों व नदियों आदि के जल में दूषित वस्त्र धोने, नहाने मृत शवों को नदी में बहाने आदि से इनका जल दूषित होता है। मक्खियां रोगी के मल या उल्टी पर बैठकर भोजनीय पदार्थों को दूषित कर देती है। यदि बड़े-बड़े भोजों में खाद्य पदार्थ दूषित हो जाते हैं तो रोग का प्रसार अधिकांशतः भोज में भाग लेने वाले लोगों को ही होता है। रोगी के सीधे सम्पर्क में आने में या उसकी संदूषित वस्तुओं के माध्यम से भी प्रसार होता है। रोगवाहक स्थिति इस रोग में इतनी चिरकारी नहीं बन पाती जितनी कि टाइफाइड में, फिर भी चिरकारी रोगवाहक व्यक्ति 8 वर्ष तक की अवधि के होते हैं, ऐसा पाया गया है। ये व्यक्ति भी रोग-प्रसार के कारण बनते हैं।

उद्भवन काल—कुछ ही घण्टों से 5 दिन तक

संक्रामक अवधि—जब तक रोगी या रोगवाहक व्यक्ति पूर्णतया जीवाणु-मुक्त नहीं हो जाते।

लक्षण—अत्यन्त ही उग्र रूप से दस्तें और उल्टियां होने लगती हैं। पानी सी पतली दस्तें दिन भर में 30 से 40 तक हो सकती हैं। पेट में कोई दर्द या मरोड़ नहीं होते। दस्तो का रंग चावल के मांड की तरह होता है और इनमें सफेद मटमैली सी पपड़ियाँ (Flakes) जमी दिखाई देती हैं। रोगी के शरीर का तापमान सामान्य से नीचे गिर जाता है। आँखें धँस जाती हैं। चेहरा पिचक जाता है। पांवों में ऐंठन होने लगती है। जुबान खुश्क रहती है। मूत्र लगभग बन्द सा हो जाता है और नाड़ी दुर्ग्राह्य (Imperceptible) हो जाती है। उपचार के अभाव में अधिकांश रोगियों की मृत्यु हो जाती है पर समय से समुचित उपचार होने पर रोगी 2 या 3 दिन मे ठीक हो जाता है।

प्रतिरक्षण—मृत विब्रियो कॉलेरी से तैयार की गई वैक्सीन का महामारी के दिनो में तुरन्त एक ही टीका 1 ml. मात्रा का लगाया जाता है। रोग-निरोध-क्षमता लगभग 3 माह की उपार्जित होती है। स्थानिक प्रसार वाले क्षेत्रो मे हर 6 से 12 माह मे दो मात्राओं में टीका लगाया जाता है। प्रथम 0·5 ml का एवं द्वितीय भी 0·5ml का 4 से 6 सप्ताह के अन्तर पर।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—रोगी का तुरन्त निदान करके स्थानीय स्वास्थ्य अधिकारियों को अविलम्ब सूचना देनी चाहिये। स्थानीय स्वास्थ्य अधिकारियों के अनन्तर यह सूचना जिला स्वास्थ्य अधिकारियो, जिला प्रशासनिक अधिकारियों—कलेक्टर आदि और प्रांतीय स्वास्थ्य निदेशालयों को भी देनी चाहिये। स्वास्थ्य निदेशालय, केन्द्रीय निदेशालय और विश्वस्वास्थ्य संघ को सूचना देते हैं। महामारी फैलने की स्थिति मे प्रतिदिन होने वाले नये रोगियो या मृतको की संख्या भी सूचित करनी पड़ती है ताकि रोग प्रसार की गम्भीरता एवं स्थिति का पता लगता रहे। कलेक्टर्स-स्वास्थ्य अधिकारियों की सम्मति पर आवश्यकतानुसार ऐपिडेमिक डिजीज एक्ट लागू करके प्रतिरोधात्मक उपायों मे यथोचित सहायता देते हैं।

पृथक्करण—अनिवार्य रूप से संक्रामक-रोग अस्पतालो में ही करना चाहिये; यदि वहां सभी रोगियो के लिये जगह न हो, तो अतिरिक्त रोगी शिविरो की व्यवस्था की जाती है। गावो मे स्कूल, धर्मशाला, पंचायत-घर आदि में ऐसे शिविरों की व्यवस्था कर सकते हैं। सभी रोगियो के समुचित उपचार एवं परिचर्या की यहां व्यवस्था करदी जाती है। रोगियों को इन अस्पतालो या शिविरों आदि में तब तक रखना होता है जब तक वे रोगाणु मुक्त नहीं हो जाते। घर पर पृथक्करण सर्वथा अनुपयुक्त होता है।

विसंक्रमण—समकालिक-रोगी के मल एवं उल्टी आदि को ढकनदार पात्रो में लेकर 5% क्रिसोल, 5% फीनोल या एक-तिहाई भाग ताजा ब्लीचिङ्ग पाउडर मिलाकर दो घण्टे तक पड़ा रखने के बाद मल-नल में बहा देना चाहिये या भूमि मे

गाड़ना या जला देना चाहिये : ऐसे छोटे-मोटे वस्त्र जो अधिक काम के नहीं होते जला दिये जाते हैं, अन्यथा उन्हें उबाल कर या 2·5% क्रीसोल घोल में ½ से 1 घण्टे तक रखकर साबुन से धो देना समुचित होता है। खाने-पीने के बर्तन, बेडपॉन, थूकदान आदि को 15 मिनट तक उबालना उचित होता है। परिचायको को अपने हाथों को साबुन से धोकर 1.0% लाइसोल घोल में हर बार डुबा कर साफ करना चाहिये।

अन्तिम—पुराने गदेले चद्दर आदि जला देना ही ठीक होता है अन्यथा संतृप्त स्टीम से विसक्रमित करना उचित होता है। यदि स्टीम की व्यवस्था न हो तो 2.5 से 5% क्रीसोल या फीनोल के घोल में 12 घण्टे तक रखकर साफ करना ठीक होता है। कमरे-फर्श एवं 3 फुट तक की दीवारों को ब्लीचिङ्ग पाउडर के घोल या 5% फीनोल से धोकर साफ करना होता है।

सर्वेक्षण—सभी दस्तों की शिकायत वाले रोगियों की तलाश और निदान करके ऐसे रोगियों का पता लगाना होता है जिनकी सूचना न मिली हो या रोगी होने की सम्भावना मे हों। सभी सम्पर्कित व्यक्तियों को और क्षेत्र के सभी लोगों को अनिवार्य रूप से हैजा के टीके लगाना होता है। रोगवाहक व्यक्तियों का पता लगाकर उनका समुचित इलाज करना होता है और जब तक वह रोगाणु मुक्त न हो जाये नियन्त्रण में ही रखना होता है।

जल व्यवस्था—सार्वजनिक जल प्रदाय की व्यवस्था हो तो जल निस्यन्दन एवं क्लोरीनिकरण पर विशेष ध्यान देकर जल सुरक्षित करना चाहिये। क्लोरीन की अतिरिक्त मात्रा मिलनी चाहिए जिससे अवशिष्ट क्लोरीन निर्धारित मात्रा में बनी रहे। गाँवों में सभी कुँओं, तालाबों आदि का प्रतिदिन क्लोरीनिकरण करना चाहिये।

स्वच्छ वातावरण—कचरे एवं मल-मूत्र के सम्यक् निकास एवं निस्तारण पर विशेष ध्यान देना चाहिये और मक्खियों की उत्पत्ति, जहाँ तक हो सके रोकना चाहिये। वैसे भी मक्खी निरोधक सभी उपाय अपनाने होते हैं। खाद्य प्रतिष्ठानों की स्वच्छता का विशेष ध्यान रखना चाहिये और वहाँ मक्खी निवारक सभी उपायो को अपनाना चाहिये।

मेले, भोज आदि—महामारी के दिनों में मेलों एवं बड़े-बड़े भोजों पर रोक लगवा देना उचित होता है। अन्यथा यदि मेले लगते हों और स्थानिक संक्रमण के प्रसार का भय हो तो सभी यात्रियो को मेला क्षेत्र में प्रवेश के पूर्व ही टीके लगाने की व्यवस्था करनी होती है। मेले स्थल की विशेष सफाई की व्यवस्था, उचित जल व्यवस्था खाने-पीने की दुकानो पर भोजन सामग्री को मक्खियों से बचाये रखने, ढक कर रखने की व्यवस्था, कूड़े कचरे के तुरन्त हटाये जाने की व्यवस्था आदि पर विशेष ध्यान देना होता है।

व्यक्तिगत बचाव के उपाय—महामारी के दिनों में या सम्भावित दिनों में निम्न सावधानी रखना वाञ्छनीय होता है।:—

(i) तुरन्त टीका लगवा लेना।

(ii) हो सके तो उबले जल का प्रयोग करना या पूर्व में बताये अनुसार जल का घर ही में अतिरिक्त क्लोरीनिकरण करना। यदि बाहर सफर में हों और अपना जल साथ न हो तो गरम पेय-चाय आदि पीना ही हितकर होता है।

(iii) भूखे पेट न रहना – उपवास आदि न करना—भूखे रहने से आमाशय में HCL की मात्रा पर्याप्त नही रह पाती और जीवाणु का आक्रमण बिना रोक-टोक के हो पाता है।

(iv) अधिक या अनियन्त्रित रूप से खाकर अपच नहीं होने देना और जुलाब आदि भी नहीं लेना हितकर होता है।

(v) उबला या पास्चुरीकृत दूध ही काम में लाना उचित होता है।

(vi) सड़े-गले फल व कच्ची सब्जियाँ न खाना और ताजे फल व सब्जियाँ को पोटेशियम परमेंगनेट के जल में धोकर ही काम में लेना श्रेयस्कर होता है।

(vii) बाजार की बनी मिठाइयाँ, कुल्फी, आइसक्रीम, कटे फल या फलों की कतरन आदि काम में न लाना ही हितकर है। ठण्डे पेय भी काम में न लाना अच्छा रहता है।

स्वास्थ्य अधिकारियों को चाहिये कि वे इन सब बातों से जनता को सावधान करते रहें। नगरपालिका एवं स्वास्थ्य विभाग द्वारा सड़े-गले फलों, सब्जियों, कटे फलों आदि के बेचान पर रोक लगा देनी चाहिये एवं खाद्य-संस्थानों पर सफाई का विशेष नियन्त्रण रखना चाहिये।

पोलियो-माइलाइटिस (Poliomyelitis)

यह भी एक विशिष्ट संचारी रोग है जो प्रारम्भ में पाचन-पथ –आंतों—को आक्रान्त करता है और बाद में तन्त्रिका प्रणाली (Nervous system) को, जिसके कारण बच्चों में लकवा हो जाया करता है। वैसे यह विश्वव्यापी रोग है और विकर्ण रूप में फैला ही रहता है पर समय-समय पर महामारी के रूप में भी फैल जाता है। भारत में इसका स्थानिक प्रसार बना हुआ है और पिछले दो दशाब्दियों में महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडू, राजस्थान, मध्यप्रदेश, दिल्ली, उत्तर प्रदेश आदि में महामारी के रूप में फैल चुका है। जब से साक वैक्सीन (Salk's Vaccine) का आविष्कार हुआ—सन् 1957 में—और बाद में सेबिन वैक्सीन का (Sabin's Vaccine)—जो जीवित अनुप वाइरस के उपभेदों से 1961 में तैयार किया गया—तब से पश्चिमी विकसित देशों इसके प्रसार में आशाजनक कमी हुई है। अमेरिका ही में जहाँ सन् 1950-51 में लगभग 37,000 बच्चे रोगी हुए थे वहाँ 1974 में केवल 7 बच्चे ही और अब तो लगभग नियन्त्रण की स्थिति में ही है।

अधिकांश यह 6 माह से 3 वर्ष के बच्चों को अधिक आक्रान्त करता है लेकिन बड़ी उम्र के–15 वर्ष तक के–बालकों व किशोरों को भी आक्रान्त कर सकता है। लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में अनुपात से अधिक होता है। जुलाई, अगस्त व सितम्बर महीनों में इसका प्रसार अधिक होता है। संक्रमण अधिकांश रोगी के मल द्वारा या प्रारम्भिक अवस्था मे ग्रसनी आस्रावों से भी हो सकता है।

रोगजनक सूक्ष्म जीव—पोलियो वाइरस–इनके तीन उपभेद होते है I, II, & III; प्रथम उपभेद अधिक उग्र होता है जो अंगघात पैदा करता है।

आगार—मानव–रोगी
रोगवाहक व्यक्ति

प्रसार—(1) रोगी के ग्रसनी आस्राव (Pharyngeal Discharges) द्वारा। लक्षण उत्पत्ति के एक सप्ताह पूर्व से एक सप्ताह बाद तक ग्रसनी आस्रावों में रोगाणु विद्यमान होते हैं। लेकिन इनसे भी अधिक प्रभावकारी प्रसार रोगी के मल द्वारा सदूषित जल, खाद्य-पदार्थ या उसके संक्रमी पदार्थों से होता है।
(2) रोगवाहक व्यक्ति से सीधे या वाहनिक पदार्थों के संदूषण से और
(3) मक्खियों द्वारा रोगी के मल से भोजनीय पदार्थों को संदूषित करने से।

बच्चे को किसी भी प्रकार की शारीरिक क्षति–चोट लगने, इन्जेक्शन लगाने या नाक, गले आदि का ऑपरेशन करने पर जो शल्य-क्रिया से ऊतक-क्षति होती है वह भी रोग के आक्रमण में सहायक होती है।

उद्भवन काल—7 से 14 दिन

संक्रामक अवधि—लक्षण उत्पत्ति के एक सप्ताह पूर्व व एक सप्ताह बाद तक।

लक्षण—जुकाम, नजला, सिर दर्द, कमर दर्द आदि के साथ हल्का ज्वर हो आता है। हाथ-पाँवों व जोड़ों में दर्द रहता है। गरदन में कठोरता आ जाती है और बच्चा हिलाना-डुलाना पसन्द नहीं करता। ज्वर की यह अवस्था 2 या 3 दिन तक रहती है। फिर ज्वर उतर आता है और बच्चा कुछ ठीक होता दिखाई देता है लेकिन एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर वह एक या दोनों पाँवों या कभी-कभी एक या दोनों हाथों में कमजोरी होने की शिकायत करता है। अधिकांशतः पहले पाँव का लकवा होना प्रारम्भ होता है। यदि तन्त्रिका प्रणाली में संक्रमण हल्का ही हुआ है तब तो लकवा अधिक मांस-पेशियों को प्रभावित नहीं करता, आंशिक रूप का ही होता है, किन्तु भारी संक्रमण होने पर बच्चा हमेशा के लिये इस अंगघात से प्रभावित हो जाता है। मृत्यु-दर लगभग 2 से 10% होती है पर लकवा-ग्रस्त [illegible]

50 से 60% । एक आक्रमण काफी लम्बे समय की रोग-निरोध-क्षमता उत्पादित करता है ।

प्रतिरक्षण—3rd, 4th, एवं 5th माह की आयु में सेबिन वैक्सीन की निर्धारित मात्रा बच्चे को बताशे, शरबत या ग्लूकोज मे मिलाकर खिलाई जाती है और एक तथा दो वर्ष की आयु मे बूस्टर खुराकें दी जाती हैं ।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—रोग की सूचना तुरन्त स्वास्थ्य अधिकारियों को देनी होती है ।

पृथक्करण—लक्षण उत्पत्ति से लगभग एक सप्ताह तक, घर में या अस्पताल में ।

विसंक्रमण—रोगी के प्रसनी आस्रावों को कागजी रूमाल, गॉज के टुकड़ों आदि में लेकर जला देना चाहिये और उसके वस्त्र, खाने-पीने के बर्तन, खिलौने आदि को उबाल कर साफ करना चाहिये । *मल का विसंक्रमण एवं निस्तारण ठीक वैसे ही* करना होता है जैसे कि टाइफाइड व हैजा के रोगी का करते हैं । कमरे की सफाई भी वैसी ही करनी होती है ।

सर्वेक्षण एवं संगरोध—सम्पर्क में आये सभी बच्चों को यदि वैक्सीन नही दिया गया है, तो देना आवश्यक होता है और उन्हें प्रशिक्षित डॉक्टर या नर्स की देख-रेख में रखना होता है; यदि किसी बच्चे को बुखार की शिकायत हो तो उसे पूर्ण निदान होने तक पृथक् रखना होता है , महामारी के दिनों मे बच्चो को अधिक व्यायाम, शारीरिक थकावट या ऑपरेशन आदि की चोट नही होने देनी चाहिये । आक्रमण के फलस्वरूप जिन बच्चों को लकवा हो गया है उनके पुनर्वासन-चिकित्सा की व्यवस्था करनी होती है (Rehabilitation-treatment) जिसमे लकवा-ग्रस्त अङ्ग की मालिश व व्यायाम आदि सम्मिलित हैं ।

रोगवाहक बच्चों की ढूँढ़ तलाश और समुचित उपचार ।

अन्य उपाय—शुद्ध स्वच्छ एवं सुरक्षित जल प्रदाय व्यवस्था, कूड़े-कचरे और मल-मूत्र का यथोचित निकास एवं निष्कासन; जल-स्रोतों का संरक्षण, मल-मूत्र दूषण निवारण, जल का समुचित क्लोरीनिकरण; मक्खियों का निराकरण, खाद्य-पदार्थों का संरक्षण आदि पर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

संक्रमी यकृत् शोथ
(Infective Hepatitis or Viral Hepatitis-Type A)

यह उग्र रूप से फैलने वाली एक संचारी बीमारी है जो अधिकांशतः रोगी के मल से संदूषित जल एवं खाद्य पदार्थों के माध्यम से स्थानिक या जानपादिक रूप मे फैलती है । अधिकतर यह बच्चों व किशोरावस्था के बालकों में ज्यादा होती है पर इनमें यह इतना गम्भीर रूप धारण नही करती जितना कि युवा व प्रौढ़ लोगों में । दोनो लिङ्गों में इसका आक्रमण समान रूप से ही होता है । भारत मे इसके प्रकोप की सम्भावना बारह ही महीने बनी रहती है जबकि शीत जलवायु के प्रदेशों में अधिकांशतः शरद ऋतु मे ।

रोगजनक सूक्ष्म जीवाणु—एक प्रकार का वाइरस

आगार—मानव

उद्भवन काल—10 से 40 दिन–सामान्यतया 21 से 25 दिन

प्रसार—यह एक विश्वव्यापी रोग है। रोगी के मल से सीधे या मक्खियों द्वारा संदूषित किये गये जल तथा खाद्य-पदार्थों के द्वारा इसका प्रसार होता है। प्रारम्भिक अवस्था में रोगी के ग्रसनी आस्रावों से भी बिन्दुक माध्यम से इसके प्रसार की सम्भावना रहती है।

संक्रामक अवधि—लक्षण प्रकट होने के 1–3 दिन पूर्व से बीमारी के प्रथम सप्ताह की समाप्ति तक।

लक्षण—प्रारम्भ में भूख की कमी, अरुचि, मचली, सिर दर्द, पेट में भारीपन कभी-कभी हल्का दर्द, तथा अधिकांशतः कब्ज की शिकायत।

इसी के साथ हल्का ज्वर हो आता है जो 90^0F से 101^0F तक का हो सकता है। 2 या 3 दिन में ज्वर उतर जाता है किन्तु पीलिया के चिन्ह उभर आते हैं। आँखों में स्पष्ट पीलापन, नाखूनो पर पीलेपन की झलक, एवं मल सफेद रंग का होता है। पित्त की विद्यमानता के कारण मूत्र सरसों के तेल का सा गहरा पीला व झागदार होता है। पीलिये की यह स्थिति एक से दो सप्ताह तक रह सकती है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही। वैसे एक बार के आक्रमण के बाद सामान्यतया उम्र भर के लिये रोग-निरोध-क्षमता उपार्जित हो जाती है। निष्क्रिय रोग-निरोध क्षमता उपार्जन हेतु प्रसार की सम्भावना के साथ इम्यूनोग्लोबुलिन का प्रयोग किया जा सकता है।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—रोग होने की सूचना स्वास्थ्य अधिकारियों को देनी चाहिये।

पृथक्करण—रोग के प्रथम सप्ताह तक अस्पतालों या घरो मे।

विसंक्रमण—समकालिक-रोगी के मल का ठीक वैसे ही विसंक्रमण व निस्तारण करना चाहिये जैसाकि हैजा व टाइफाइड के रोगी के मल-मूत्र का किया जाता है। प्रारम्भिक अवस्था में ग्रसनी आस्रावों को भी रुई के स्वाब, कागजी रूमाल, आदि में लेकर जला देना चाहिये।

संगरोध—आवश्यक नही।

अन्य उपाय—स्वच्छ एवं स्वस्थ वातावरण, स्वच्छ एवं सुरक्षित जलप्रदाय व्यवस्था तथा रोग के प्रसार की सम्भावना की स्थिति मे जल का अतिरिक्त क्लोरीनिकरण, कूड़े-कचरे और मल-मूत्र का यथोचित निस्तारण, मक्खियों का निराकरण व खाद्य पदार्थों के संरक्षण पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

जाता है—रह-रह कर दस्त की हाजत होती है, मल के स्थान पर केवल रक्त, श्लेष्मा (Mucous) व पूस (Pus) निकलती है और गुदा-स्थल पर अत्यन्त दर्द होता है (Tenesmus)। इस प्रकार दस्त की हाजत दिन भर 20 तक हो जाती है। साथ ही जी मचलाने, उल्टी होने, सिर दर्द होने की शिकायत रहती है। रोगी अत्यन्त ही निस्सहाय अवस्था का अनुभव करता है, चेहरा पिचक जाता है, पाँवों में ऐंठन होने लगती है, और नाड़ी भी अधिकांश दुर्ग्राह्य हो जाती है। खुश्की व प्यास की शिकायत बनी ही रहती है। उचित उपचार के अभाव में मृत्यु होने की आशंका बनी रहती है। उचित उपचार के फलस्वरूप रोगी एक या दो सप्ताह मे ठीक हो जाता है।

प्रतिरक्षण फिलहाल रोग-निरोध-क्षमता उपार्जन के लिए कोई टीका नही है।

अमीबिक पेचिश

उष्ण प्रदेश में, विशेष कर विकासशील देशो मे, इसका प्रसार अधिक है; भारत, दक्षिण-पूर्वी एशिया, उत्तर व मध्य अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका आदि इससे अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित हैं। भारत में लगभग सभी प्रान्तों में इसका स्थानिक प्रसार है और अधिकांश लोग चिरकारी स्थिति में आक्रान्त रहते है। सभी वर्ग, लिङ्ग एवं आयु के लोग समान रूप से आक्रान्त होते हैं पर शिशु अधिकांशतः बचे रहते हैं—सम्भवतया स्तन पान या उबले दूध पान के कारण। चूँकि चिरकारी अवस्था के रोग मे अधिकतर व्यक्ति प्रत्यक्ष में रोगी न होते हुए भी रोगवाहक बने रहते हैं, अतः इसके विस्तृत प्रसार की सम्भावना सदा ही बनी ही रहती है और सभी वर्ग के लोगो में संक्रमण की सम्भावना रहती है।

रोगवाहक सूक्ष्म जीवन और उनका जीवन चक्र (Life cycle)

जैसाकि ऊपर उल्लेख किया गया अमीबिक पेचिश एण्ट-अमीबा हिस्टोलिटिका से उत्पादित होती है। यह अमीबा रोगी की बड़ी आंतों में अपना आवास बनाता है और आतों की झिल्ली मे प्रवेश करके जख्म पैदा करता है तथा सख्या मे बढ़ता रहता है। इस समय यह ट्रोफोजाइट (Tryphozoite) अवस्था में होता है। प्रारम्भ में जख्म ऊपरी स्तर के ही होते हैं जो समुचित उपचार से ठीक हो जाते हैं, पर पूर्ण उपचार के अभाव मे अमीबा अपनी स्थिति दृढ करते रहते है और जख्म आत की मास पेशियों में गहरे पैठते जाते हैं। जख्म का ऊपरी भाग सिकुड़ा हुआ, पर भीतरी भाग काफी फैलाव का हो जाता है,, जो कॉलर-बटन या फ्लास्क (Flask) के आकार का बन जाता है। अमीबा इस प्रकार आन की जो क्षति करते है उसके कारण रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं और वे क्षति के अनुपात ही मे होते हैं। यहाँ से अमीबा रक्त धमनियो द्वारा यकृत (Liver) मे पहुँच पाते हैं। जहाँ पर वे फोडा उत्पन्न करते हैं जिसके कारण यकृत क्षतिग्रस्त होता है और समुचित उपचार के अभाव में रोगी की मृत्यु हो जाती है। यकृत फोड़ा कई बार आमाशय, तिल्ली.

प्रतिरोधात्मक उपाय

दोनों ही प्रकार की पेचिश के लिये प्रतिरोधात्मक उपाय समान ही हैं। प्रमुख उपाय तो व्यक्तिगत एव सार्वजनिक स्वच्छता व स्वस्थ वातावरण बनाने का ही है। इसके लिए मल निष्कासन एवं निस्तारण की स्वच्छ व्यवस्था का प्रस्थापन करना है। सर्विस शौचालयों के स्थान पर स्वच्छ शौचालयों का निर्माण, ग्रामीण क्षेत्रों में बोर-होल गर्त, गभीर-गर्त व गभीर-खात शौचालयों का निर्माण और शहरी क्षेत्रो में यथा-सम्भव वाहितमल प्रणाली का प्रस्थापन होना आवश्यक है। कूड़े-कचरे का शीघ्र एवं स्वच्छ तरीकों से निस्तारण और मक्खियों की उत्पत्ति को रोकना भी अत्यन्त आवश्यक है। जल-स्रोतों के संरक्षण और दूषण-निवारण की ओर भी अत्यधिक प्रयत्नशील रहना चाहिये। खाद्य प्रतिष्ठानों की सम्यक् स्वच्छता, उनमें मक्खी निवारक व्यवस्था, बर्तन प्लेट आदि को अच्छी तरह धोने और विसंक्रमित करने की व्यवस्था, और वहाँ काम करने वाले कर्मचारियो की समय-समय पर स्वास्थ्य-परीक्षा और रोगवाहक होने सम्बन्धी जांच आदि कार्य अनिवार्य रूप से होने चाहिये। इनके उपरान्त जनसाधारण को, सम्यक् जनसम्पर्क से, इन रोगो के बचाव-तरीकों के विषय में शिक्षा देनी चाहिये।

अधिसूचना—भारत में यह रोग विज्ञाप्य सूची में नही है। सूची में शामिल करना हितकर ही होगा। विभिन्न रहवासीय संस्थाओं मे इसरोग के फैलने पर इसकी सूचना अवश्य देनी चाहिये, ताकि कम से कम वहाँ तो इसके और अधिक प्रसार को रोकने की सम्यक् व्यवस्था की जा सके और रोगियों का समुचित इलाज किया जा सके। समुचित इलाज भी प्रसार निवारण की दिशा में प्रमुख उपाय है।

पृथक्करण—उग्र स्थिति के रोगियों का पृथक्करण अस्पतालो में करना और वहाँ समुचित इलाज करना वाञ्छनीय है।

विसंक्रमण—बेसीलरी पेचिश के उग्र रोगियों का मल ठीक वैसे ही विसंक्रमित करना चाहिये जैसे टाइफाइड या कॉलेरा का। अन्य संक्रामक वस्तुओं का भी यथोचित विसंक्रमण करना ही चाहिये। अन्तिम विसंक्रमण की कोई विशेष आवश्यकता नही होती। केवल कमरे की भली-भाँति सफाई और संवातन ही पर्याप्त होता हैं।

अन्य उपाय—यदि जल-संदूषण की सम्भावना हो तो जल उबाल कर काम मे लाना हितकर है। शाक सब्जियो व फलों को पोटाशियम परमेगनेट के जल से धोकर काम मे लाना उचित है। खाद्य पदार्थों को मक्खियों से सुरक्षित रखना और बाजार की बनी खाद्य सामग्री, जो खुली पड़ी हो, काम मे न लाना हितकर है।

प्रवाहिका (Diarrhoea) दस्तें

वह बीमारी जिसमें छोटी आतों मे कई अविशिष्ट या विशिष्ट कारणों से शोथ हो जाती है और जिसके फलस्वरूप पतली पानी की-सी दस्ते लगने लगती है, प्रवाहिका कहलाती है। प्रवाहिका किसी उम्र या लिङ्ग के व्यक्ति में, कभी भी हो

कृमि-रोग

आंत कृमि

जिन मुख्य-मुख्य कृमि-रोगों का हम वर्णन कर रहे हैं उनका संक्रमण अधिकांशतः अशन-पथ से ही होता है, अतः हम इनका वर्णन "आंत-कृमि" शीर्षक के अन्तर्गत ही कर रहे है। केवल तीन कृमि ही ऐसे हैं जिनका संक्रमण त्वचा पथ से—सरोपण द्वारा होता है। वे है अंकुश-कृमि-हुक-वर्म (Hook worm), फाइलेरिया और शिस्टोसोम। हुक वर्म त्वचा में होकर प्रवेश करता है पर आंतो ही को अपना आक्रमण स्थल बनाता है; फाइलेरिया क्यूलेक्स मच्छर के काटने पर त्वचा से होकर प्रवेश करता है पर आतों के बजाय लसीका वाहक नलिकाओं (Lymphatics) एवं लसीका ग्रन्थियों को आक्रान्त करता है और शिस्टोसोम त्वचा से प्रवेश करके रक्त-शिराओं (Veins) को अपना आक्रमण-स्थल बनाता है। इसके अनन्तर नारू हालांकि अशन-पथ ही से शरीर में प्रवेश करता है, किन्तु वह मांस-पेशियों व जोड़ों आदि को आक्रान्त करता है, और एकाईनोकॉकस यकृत, फुफ्फुस आदि को।

मानव को आक्रान्त करने वाले कृमियों को मुख्यतया 3 वर्गों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक वर्ग मे इनकी अलग-अलग जातियां है जिनमें से हम केवल कुछ ही का उल्लेख यहां करेंगे :—

(a) (b) (c)
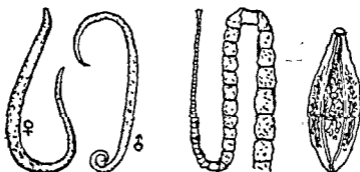
चित्र 9.2 a नेमेटोड, b. सेस्टोड, c. ट्रेमेटोड।

वर्ग	जातियां
1. नेमेटोड (Nematoda) गोल कृमि होते हैं।	(i) ऐस्केरिस लम्ब्रीकॉइडिस (Ascaris lumbricoides) सामान्यतया इसे राउण्ड-वर्म (Round-worm) कहते है।

अवधि लगभग एक वर्ष की होती है। इस रोग का प्रसार विश्वव्यापी है और ऐसे लोगों का संक्रमण अधिक होता है जो व्यक्तिगत स्वच्छता पर अधिक ध्यान नही देते। ट्रोपिकल देशों में विशेषकर भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका, चीन, पूर्वी एशिया व पैसेफिक द्वीप समूह मे इसका प्रसार अधिक है। भारत में लगभग 40 से 50 लोगो को इसका संक्रमण होता रहता है। दोनों लिङ्ग के व्यक्ति समान रूप से आक्रान्त होते है। बालकों व किशोरो मे प्रसार अधिक होता है।

जीवनचक्र—इस कृमि के अण्डे मल मे निष्कासित होते है। भूमि पर नमी एवं
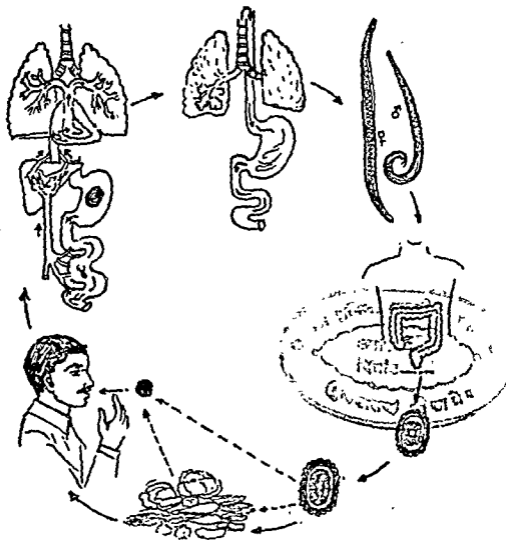
चित्र 9.3 ऐस्केरिस लम्ब्रीकॉइडिस (राउण्ड-वर्म)

विकसित कृमि बडी आंतों मे निवास करते हैं। लगभग 20 से 30% बच्चे इस कृमि से आक्रान्त रहते हैं। कृमि की जीवन अवधि अण्डे देना प्रारम्भ करने के बाद लगभग 2–3 सप्ताह की ही होती है।

जीवन-चक्र—बड़ी आंतों में नर कृमि मादा को गर्भित करके मर जाता है। मादा अण्डे देने के लिये गुदा के बाहर आती है और गुदा के आसपास अण्डे देती है। इन अण्डों में 24–36 घण्टों मे लारवा पनप जाते हैं। यही अण्डे जब संदूषित हाथो या खाद्य-पदार्थों के द्वारा अन्य व्यक्तियों के या उसी के पेट में फिर से पहुँचते हैं, तो छोटी आंतों में फटते है और लारवा बाहर निकल आते हैं। यहा ये विकसित होते हैं, बड़े कृमि बनते हैं, मादा गर्भित होती है और बड़ी आत में आकर डेरा जमा लेती है। जब अण्डे देने का समय होता है तो वह गुदा के बाहर आकर अण्डे दे देती है। इस जीवन चक्र को लगभग 2–4 सप्ताह लगते हैं। (चित्र 9.4)।

चित्र 9.4 ऑक्सीयूरिस वर्मीक्यूलेरिस (थ्रेड-वर्म)

व उत्तरी चीन, व पैसेफिक द्वीप समूहों मे इसका प्रसार विशेष रूप से है। इसका संक्रमण अधिकतर किशोर एवं युवावस्था के व्यक्तियों मे होता है और महिलाओं में अपेक्षाकृत अधिक।

जीवन-चक्र—आक्रान्त व्यक्ति अपने मल में इस कृमि के अण्डे निस्तारित करते रहते हैं। अनुकूल ताप एवं आर्द्रता के वातावरण में अण्डों से लारवा निकलते है जो दो बार अपनी कचुली बदलने पर संक्रामक अवस्था के हो जाते हैं और घास पत्तियों आदि पर चिमटे रहते हैं। इन्हें फाइलेरी फार्म लारवा कहते हैं। जब व्यक्ति नगे पाँव भूमि पर चलता है-विशेषकर मल-दूषित-भूमि पर, या खाद-सने स्थलो पर और इन लारवो के सम्पर्क में आता है तो लारवा उसके पांव के तलों में-विशेष कर पाँवों की
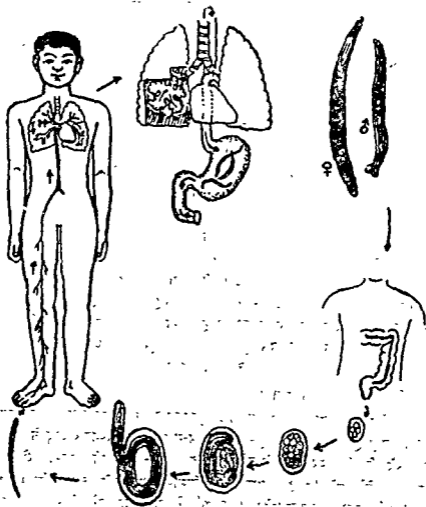
चित्र 9.5 ऐंक्लिोस्टोमा (हुकवर्म)

उंगलियों के बीच के स्थलों में-चिमट जाता है तथा त्वचा मे प्रवेश करके लसीका वाहिनी नलिकाओ में होकर रक्त मे पहुंच जाता है और रक्त प्रवाह के साथ हृदय मे होकर फेफड़ों में पहुंचता है। फेफड़ो से श्वास नलियों में होकर ट्रैकिया (Trachea) मे आता है जहां से ग्रासनली (Oesophagus) में होकर यह पेट में पहुंच जाता है। कई बार खासी के साथ बाहर भी फेंक दिया जाता है। पेट मे होकर यह छोटी आंतो मे पहुंचता है। इस बीच यह दो बार और कंचुली बदलता है और आंतो मे पनप कर पूर्ण कृमि बनता है। मादा गर्भवती होती है और पुनः अण्डे देने लगती है। त्वचा मे प्रवेश पाने के समय से लेकर अण्डे देने तक की स्थिति मे पनपने के लिये कृमि को लगभग 6 सप्ताह लगते हैं। (चित्र 9.5)

आगार—संक्रामित व्यक्ति जो अण्डे निस्तारित करते रहते हैं।

प्रसार—मल-दूषित-भूमि पर नंगे पांव चलने या मिट्टी मे काम करने वाले माली या अन्य श्रमिक लारवा से संक्रमित होने पर। कभी-कभी जल या भोजन के साथ लारवा के पेट में पहुंचने पर भी संक्रमण हो सकता है।

उद्भवन काल—लगभग 6 सप्ताह; कभी-कभी कुछ महीनों तक।

संक्रामक अवधि—जब तक आक्रान्त व्यक्तियों के मल में अण्डे निकलते रहें। मिट्टी में लारवा कई सप्ताह तक जीवित रह पाते हैं।

लक्षण—त्वचा पर—लारवा प्रवेश स्थल पर खुजली एव त्वक्‌शोथ; फेफड़ों मे लारवा के पहुंचने पर खांसी या ब्रॉन्कोन्युमोनिया, आंतो में पहुंच कर पूर्ण कृमि बनने पर आक्रान्त व्यक्ति का रक्त चूसते रहने से रक्तहीनता। एक कृमि प्रतिदिन 0 2 ml रक्त चूसता है। यदि कृमियों की संख्या अधिक होती है तो रक्तहीनता शीघ्र ही उग्र रूप मे उभर आती है। चेहरा पीला पड़ जाता है, जुबान सफेद-सी हो जाती है; आखों की श्लेष्मकला ललाई विहीन हो जाती है और नाखून सफेदी का वर्ण धारण कर लेते है। आखों के नीचे सूजन रहने लगती है और पांवो पर भी जल भराव के कारण सूजन रहने लगती है। व्यक्ति अत्यधिक कमजोरी महसूस करता है, थोडे से श्रम ही से दम फूलने लगता है, हृदय की धड़कन महसूस करता है, भूख कम हो जाती है और कब्ज रहने लगती है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही।

प्रतिरोधात्मक उपाय—अधिसूचना, पृथक्करण एवं विसंक्रमण साधारणतया अनिवार्य नहीं है। आवश्यकता है केवल मानव-मल को स्वास्थ्यकर ढ़ङ्ग से निस्तारित करने की और व्यक्तियों के नगे पांव न चलने-फिरने की। ग्रामीण क्षेत्रो में स्वत साफ होने वाले स्वच्छ शौचालयों के निर्माण और उनके सदा प्रयोग की एवं इस दिशा मे लोगो को प्रभावशील जनसम्पर्क से प्रशिक्षित करने की परमावश्यकता है। आक्रात व्यक्तियों का समुचित उपचार और उन्हे कृमि-विहीन करने का पूर्णत.

प्रयास रोग-निवारण का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। स्वच्छ-जल व्यवस्था और खाद्य पदार्थों का संरक्षण भी वाञ्छनीय है।

फाइलेरिया पर विस्तृत विचार हम, संरोपण से, आर्थ्रोपोडा द्वारा फैलाये जाने वाले रोगों के साथ करेंगे। नारू पर संक्षिप्त विचार हम अध्याय 7 मे कर ही चुके हैं।

ट्रिकाइनेला स्पाइरेलिस

नेमेटोड वर्ग में यह सबसे छोटा गोल कृमि है। नर लगभग 1.5 mm. और मादा 3 से 4 mm. लम्बी होती है। भारत में इस कृमि का संक्रमण लगभग नगण्य ही है जबकि योरोप, अमेरिका, अफ्रीका, चीन, सीरिया आदि में इसका प्रसार काफी अधिक है। किसी भी उम्र व दोनों लिङ्गों के व्यक्तियों को संक्रमण समान रूप से हो सकता है, पर शिशु व छोटे बच्चे, जो मांस नहीं खा पाते, बचे रहते हैं। इस रोग का प्रसार सूअर का मास खाने वाले को ही होता है। वयस्क कृमि छोटी आंतों में रहते हैं और लगभग 5 से 7 सप्ताह में स्वतः ही मर जाते हैं। मादा कृमि द्वारा उत्पादित लारवा-सिस्ट (Cyst) के रूप में—मांसपेशियों में रहते हैं और लगभग 6 माह तक जीवित रहते हैं।

जीवन चक्र—प्राथमिक संक्रमण चूहे ही से होता है। चूहे की मासपेशियों में कृमि लारवा, सिस्ट के रूप मे, बने रहते है। संक्रमित चूहे का मांस जब दूसरे स्वस्थ चूहे खाते है या सूअर खाते है तो वह आक्रान्त होते हैं। सिस्ट उनकी आंतो में फटती है और लारवा बाहर निकल कर बड़े कृमि के रूप मे विकसित होते हैं। मादा को गर्भित करने पर नर मर जाता है। मादा लारवा निस्तारित करती है जो रक्त द्वारा मांसपेशियों में जाकर सिस्ट बन जाते हैं। मानव जब सूअर का सदूषित मांस खाते हैं तो सिस्ट उनके पेट में पहुँचकर ठीक उसी प्रकार बड़े कृमि में विकसित होती है, जैसे सूअर की आंतों में। लारवा भी ठीक उसी तरह रक्त द्वारा मानव मांसपेशियों में जाकर सिस्ट के रूप मे स्थित हो जाते है। मानव-मे सिस्ट रूपी लारवा स्वतः ही अपने अन्त को प्राप्त होते है—मर जाते हैं। (चित्र 9.6)

आगार चूहे, सूअर

प्रसार— मानव मे : सूअर का संदूषित अध-पका मास खाने पर।

उद्‌भवन काल – सिस्ट युक्त मास खाने के लगभग 9-10 दिन तक।

संक्रामक अवधि—मानव से मानव को संक्रमण नहीं होता।

लक्षण—मानव को संक्रमण यदि प्रचुर मात्रा में हुआ है तो लक्षण लगभग 7 से 10 दिन में प्रकट होते है। यह लक्षण अधिकाश लारवा के विभिन्न मांस-पेशियों मे पहुँचने और वहा स्थित होने के कारण प्रकट होते हैं। आंखों की ऊपरी पलकों मे सूजन, नेत्रश्लेष्मकला के नीचे रक्त स्राव, व रेटाइना (Retina) में रक्त स्राव होने से आंखो में दर्द, प्रकाश-असह्यता (Photophobia) और अल्पकालिक दृष्टिहीनता हो

सकती है। पेट में गड़बड़ी व मचली की शिकायत होती है। आक्रान्त मांसपेशियों मे दर्द होने लगता है। ज्वर हो जाता है जो लगभग 5–6 दिन तक निरन्तर बना ही रहता है। कभी-कभी ज्वर 104°F तक हो जाता है। शीतकम्प होता है, पसीना
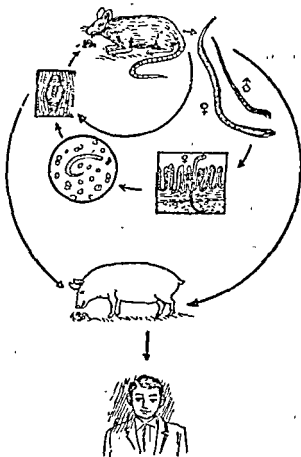
चित्र 9 6 ट्रिकाइनेला स्पाइरेलिस।

आता है और अत्यधिक प्यास लगी रहती है। हल्के संक्रमण के रोगी लगभग 2 सप्ताह मे ठीक हो जाते है पर भारी संक्रमण मे रोगी को ठीक होने मे लगभग 6 से 8 सप्ताह लग सकते है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही है।

प्रतिरोधात्मक उपाय—जिन देशों मे इस कृमि का प्रसार है वहां अधिसूचना देनी होती है। पृथक्करण एवं विसंक्रमण की आवश्यकता नही होती। प्रतिरोधात्मक उपायों में सर्वश्रेष्ठ एव प्रभावकारी उपाय सूअर के मांस का प्रतिकार या उसे

अत्यन्त सावधानी से पका कर काम मे लाना ही है। मांस का सम्यक् रूप से मांस निरीक्षकों द्वारा निरीक्षण करना और चूहों का यथा-सम्भव निराकरण करना भी आवश्यक है।

II. सेस्टोड

सेस्टोड वर्ग मे टीनिया जाति के कई कृमि हैं जो सफेद रङ्ग के, फीते के समान चपटे और लम्बे होते हैं और मानव शरीर की छोटी आंतों में अपना आवास बनाते हैं। टीनिया ऐकाइनोकॉकस के लारवा अधिकांशत: यकृत को आक्रान्त करते हैं पर कभी-कभी फेफड़ों व अन्य अवयवों को भी। टीनिया सोलियम के लारवा भी कभी-कभी मानव मांसपेशियों को आक्रान्त करते हैं। टीनिया जाति के कृमियों में हम केवल मुख्य 4 ही पर विचार करेंगे। इनके आकार प्रकार निम्न रूप के हैं।

प्रत्येक कृमि के सिर होता है जिसे स्कोलेक्स (Scolex) कहते है, गर्दन होती है और धड होता है। धड असंख्य खण्डों (Segments) का बना होता है। प्रत्येक खण्डाश को प्रोग्लोटिडेस (Proglottides) कहते हैं। अधिकाश खण्डो में कृमि के अण्डे रहते है और यह टूट-टूट कर मल के साथ बाहर निकलते रहते हैं।

टीनिया सोलियम

इसका प्रसार विश्व-व्यापी है और संक्रमण सूअर के मांस से होता है। मुसलमान व यहूदी, जो सूअर का मांस नहीं खाते, इसके संक्रमण से बचे रहते है। लम्बाई लगभग 2 से 3 मीटर की होती है—सिर I mm गर्दन लगभग 5-10 mm. और शेष धड़ होता है जिसमे लगभग 800—900 खण्ड होते है। मानव में इसका जीवन काल अधिक से अधिक 25 वर्ष तक का हो सकता है।

जीवन चक्र—मानव के मल में ये खण्ड निकलते रहते है जिनमे कृमि के अण्डे होते हैं। जब सूअर मल या मल-दूषित खाद्य पदार्थ खाते है तब अण्डे उनकी आंतो में पहुँचते हैं और इनमें से लारवा निकल कर रक्त द्वारा यकृत, दांये हृदय भाग, फेफड़े व बाये हृदय भाग मे होकर मांसपेशियों मे पहुँचते है और वहा सिस्ट बनाते है जिन्हे सिस्टीसरकस सेल्युलोजी (Cysticercus cellulose) कहते हैं। यह लगभग 60 से 70 दिन मे बन जाती है। मानव जब सूअर का संदूषित अधपका मांस खाता है तब यह सिस्ट रूपी लारवा उसकी आंतों मे पहुँचकर वयस्क वर्म के रूप मे विकसित होता है और 2 से 3 माह में पूर्ण विकसित होकर अण्डे देने लगता है। (चित्र 9.7)

आगार—मानव प्राथमिक आगार-अण्डे निस्सारित करता है। सूअर द्वितीयक आगार-रोग प्रसारित करता है।

प्रसार—उपर्युक्त वर्णन के अनुसार। कभी-कभी मानव स्वत: ही अपनी अस्वच्छ आदतों के कारण गन्दे हाथो में लगे अण्डों को खा लेने पर या अण्डो को जल, सब्जियों आदि के माध्यम से खा लेने पर सक्रामित हो जाता है और उस स्थिति में

उसकी मांसपेशियों में सिस्टीसरकस सेल्युलोजी ठीक उसी प्रकार पनप पाते हैं जिस प्रकार सूअर की मासपेशियों मे।

उद्भवन काल—60 से 70 दिन।
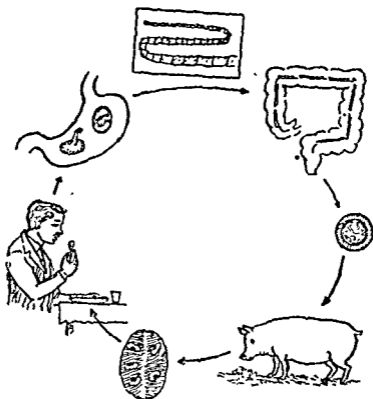
चित्र 9.7 टीनिया सोलियम

संक्रामक अवधि—जब तक जीवित कृमि आंतों में रहे—कई वर्ष—लगभग 25–30 वर्ष।

लक्षण—विशेष कुछ नही। कभी-कभी पेट की गड़बड़; कभी दस्त तो कभी कब्ज, साधारण अपचन और कुछ रक्तहीनता। कृमि के खण्डाशो का मल में निकास आदि।

प्रतिरक्षण— कोई टीका नही।

प्रतिरोधात्मक उपाय जैसे ट्रिकाइनेला के लिए वर्णित किये गये।

टीनिया सेजिनेटा

इसका प्रसार भी विश्वव्यापी है। संक्रमण गाय के मास से होता है। हिन्दू जो गाय का मांस नही खाते इनसे बचे रहते हैं। इस कृमि की लम्बाई 5 से 10 मीटर

संक्रामक अवधि—जब तक जीवित कृमि मानव की आंतो में रहें—वर्षो तक

लक्षण—लगभग टीनिया सोलियम जैसे ही।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही।

प्रतिरोधात्मक उपाय—आक्रान्त व्यक्ति का सम्यक् उपचार, मांस निरीक्ष द्वारा मांस का भली-भांति निरीक्षण, अच्छी तरह पकाये मांस का प्रयोग या गाय मांस का सर्वथा परित्याग।

टीनिया ऐकाइनोकॉकस ग्रेन्युलोसस
(Echinococus granulosus)

यह कृमि प्रधानत कुत्तो मे पनपता है और वयस्क स्थिति मे इन्ही मे विकसि होता है – *मानव में वयस्क कृमि कभी नही हो पाता।* कुत्तो के अतिरिक्त य भेड़िये, सियार आदि में भी पनप जाता है। ट्रोपिकल देशों की अपेक्षा ठण्डे देश मे इसका प्रसार अधिक है। टीनिया जाति के कृमियो में यह सबसे छोटा कृमि है केवल 3–6 mm. लम्बा होता है और सिर-गर्दन के अनन्तर धड़ मे केवल ती खण्ड ही होते हैं। अन्तिम खण्ड सर्वाधिक लम्बा होता है और उसमे अण्डे रहत हैं। कुत्तों व सियार आदि पशुओं मे वयस्क कृमि लगभग 6 माह तक जीवित र पाता है जबकि इसकी सिस्ट भेड़, गाय, बकरी, सूअर व मानव मे वर्षो बन रहती हैं।

जीवन चक्र—कुत्ते अधिकांश संक्रमण फैलाते है। इनके मल मे कृमि के अण्डे निकलते है—घास वनस्पति आदि को संदूषित करते हैं और भेड़, बकरी, गाय सूअर आदि जब इस घास को खाते है तो अण्डे इनके पाचन पथ मे प्रवेश करते हैं। मानव भी जब कुत्तो को लाड-प्यार करता है और यदि कुत्ता इस कृमि रोग से आक्रान्त होता है, तो वह अण्डों को ग्रहण करता है और अपने गन्दे हाथो से भोजन *करते समय या वैसे भी अपने पेट मे पहुँचाता है। अण्डे भेड़ आदि जानवरो की* आंतों मे फटते हैं और उनमे से लारवा (Embryos) निकल कर रक्त प्रवाह द्वारा यकृत मे पहुँचते है; जहां सिस्ट बनाते हैं। यह सिस्ट हाइडेटिड सिस्ट (Hydatid cyst) कहलाती है। इसमे कृमि का लघु स्वरूप पनपता है और उसका सिर अच्छी तरह बन पाता है। यकृत के अनन्तर हाइडेटिड सिस्टस फेफड़े, तिल्ली, गुर्दे, मांस-पेशियों, मस्तिष्क एवं हड्डियों मे भी बन पाती है। इन जानवरों का मांस जब कुत्ते खाते हैं तो सिस्ट मे विद्यमान वर्म उनमे पनपता है और फिर से अपना जीवन-चक्र प्रारम्भ कर देता है। मानव में भी अण्डो से इसी प्रकार लारवा निकल कर उन्ही अवयवों व अङ्गों में हाइडेटिड सिस्ट पैदा करते है, पर चूंकि मानव-मांस कुत्तो आदि को खाने को नही मिलता, अतः मानव में पहुँचने पर इस कृमि के जीवन-चक्र का अन्त होता है। (चित्र 9.9)

लक्षण विशेष कोई उभर नही पाते । हाँ, यदि सिस्ट काफी बड़ी हो जाय तो वह अपने स्थिति-स्थल पर कुछ दबाव अवश्य पैदा करती है, जिससे विविध श्रेणी का दर्द हो सकता है या सिस्ट के फटने पर कुछ ऐनाफिलैक्टिक प्रतिक्रिया हो सकती है ।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही ।

प्रतिरोधात्मक उपाय—अधिसूचना एव पृथक्करण अनिवार्य नही । विसंक्रमण की भी कोई विशेष आवश्यकता नही होती । केवल व्यक्तियो को–विशेष कर बालकों को–कुत्तो के साथ खेलने पर अपने हाथों की भली-भांति सफाई करनी चाहिये । कुत्तों को भेड, बकरी, सूअर आदि का कच्चा मांस नही खिलाना चाहिये । पालतू कुत्तों का रजिस्ट्रेशन करना हितकर होता है और उनका समय-समय पर परीक्षण और रोगी होने की अवस्था मे पूर्ण उपचार करना भी ।

डाईफाइलोबोथ्रियम लेटम

इसका प्रचलन अधिकांशत. योरोप, अमेरिका, जापान, मध्य एव उत्तरी अफ्रीका व रूस आदि देशो मे है । इसका प्रसार मछली के माध्यम से होता है । यह भी काफी बडा कृमि होता है और मानव की आतो मे अपना आवास नियत करता है । इसकी लम्बाई लगभग 3-10 मीटर की होती है । सिर लगभग 2-3 mm., गर्दन काफी लम्बी और धड़ लगभग 3000 से 4000 खण्डाशों का होता है ।

जीवन चक्र—मानव मल मे कृमि के अण्डे निकलते हैं । अण्डे जल स्रोतों में मल-दूषण से प्रवेश पाने पर लारवा निस्सारित करते हैं जिन्हे जल में रहने वाले विशेष जल-जन्तु खा लेते है । इन जल-जन्तुओ में यह लारवा विकसित होते रहते हैं । मछलियाँ जब इन जल-जन्तुओ को खाती है तो यह लारवा उनमें प्रवेश पा जाते है और उत्तरोत्तर विकसित होते हैं व मछलियों की मांस-पेशियो में स्थित हो जाते है । जब मानव अधपकी मछलियाँ खाते हैं तो यह लारवा उनकी आँतों मे प्रवेश पाकर वयस्क कृमि के रूप मे विकसित होते हैं और 5 या 6 सप्ताह में अण्डे देना प्रारम्भ कर देते हैं । कुत्ते और बिल्लियों मे भी इसका प्रसार कभी-कभी हो जाता है ।

आगार—संक्रमित मानव प्राथमिक एव मछली द्वितीयक । कभी-कभी कुत्ते और बिल्ली भी ।

प्रसार—उपर्युक्त वर्णनानुसार ।

उद्भवन काल—लगभग 5 से 6 सप्ताह ।

संक्रामक अवधि—जब तक मानव आंतों में मादा-कृमि अण्डे देती रहती है । वर्षों तक ।

लक्षण—कोई विशेष नही । लार्वे रूप के संक्रमण से कुछ रक्त-हीनता हो सकती है ।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही ।

प्रतिरोधात्मक उपाय—आक्रान्त व्यक्ति का समुचित उपचार, उसके मल से जल स्रोतों के दूषण का निराकरण, जल-स्रोतो का आवश्यकतानुसार क्लोरीनिकरण, वाहित मल व्यवस्था या ग्रामीण क्षेत्रों मे स्वतः साफ होने वाले स्वच्छ शौचालयों का निर्माण और मछलियों का भोजन में अच्छी तरह पका कर प्रयोग इसके निरोध के वाञ्छनीय उपाय हैं।

III ट्रैमेटोड

इस वर्ग के कृमियों में तीन ही मुख्य जातियाँ है जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है। यह तीनों जातियाँ अधिकांशतः अफ्रीका, दक्षिण-अमेरिका, चीन और दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रसारित पायी जाती हैं। भारत में इनका प्रसार नगण्य ही है, हालांकि शिस्टोसोम हीमेटोबियम व फँसियोलोप्सिस बूस्की का आंशिक प्रसार क्रमशः रत्नागिरि (महाराष्ट्र), आसाम एवं बगाल में होना पाया गया है।

यह कृमि पत्ते के आकार के होते हैं और इनका सक्रमण अधिकांश अशन पथ से ही होता है-केवल शिस्टोसोम का संक्रमण त्वचा के द्वारा होता है।

शिस्टोसोम

इस कृमि की तीन उप-जातियाँ हैं-शि० हीमेटोबियम, शि० जेपोनिकम व शि० मैन्सोनाई। तीनों लगभग 1 से 5 cm. लम्बे व 0.5 से 1 mm. चौड़े होते हैं और तीनो ही रक्त शिराओ को आक्रान्त करते हैं। इनका जीवनकाल काफी लम्बा–लगभग 20 से 30 वर्ष का होता है। तीनों का जीवन-चक्र एक-सा ही होता है अतः हम केवल शि० हीमोटोबियम के जीवन-चक्र का ही वर्णन करेंगे।

शि० हीमोटोबियम जीवन-चक्र

वयस्क कृमि मूत्राशय, गर्भाशय और अण्डकोश ग्रन्थि अथवा प्रोस्टेट (Prostate) के आस-पास की रक्त शिराओं में रहते हैं और अण्डे विसर्जित करते रहते हैं। ये अण्डे मूत्र मे होकर बाहर आते हैं और जलाशयों में प्रवेश पाने पर फटते हैं। इनमें से लारवा निकलते है जिन्हे मिरासीडियम (Miracidium) कहते है। मिरासीडियम विशेष जल जन्तु–स्नेल (Snail) मे प्रवेश करके उसके यकृत मे स्थित होते हैं और स्पोरोसिस्ट बन जाते हैं। स्पोरोसिस्ट में अनेको शिशु लारवा बनते हैं। जब यह लारवा पूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं तो स्पोरोसिस्ट फट जाती है और यह लारवा, जो सर्केरिया (Cercaria) कहलाते हैं, फिर से जल मे विसर्जित हो जाते हैं। जब मनुष्य इस जल मे प्रवेश करता है–नहाता है–तो सर्केरिया उसकी त्वचा पर चिमट जाते हैं और उसके शरीर मे प्रवेश कर जाते हैं। रक्त द्वारा यह लारवा हृदय के दाँयें भाग मे होकर फुफ्फुस में जाते हैं जहाँ से पुनः रक्त द्वारा हृदय के बाँयें भाग मे होकर उदर की रक्त धमनियों में पहुँच जाते हैं। यहाँ से यकृत की ओर जाने वाली शिराओं (Portal Veins) में प्रवेश पाकर ये यकृत मे पहुँचते हैं जहाँ मे पूर्ण रूप से वयस्क वर्म में विकसित होते हैं और पोर्टल शिराओं ही से, रक्त-प्रवाह की विपरीत दिशा मे, पेल्विस(Pelvis)–श्रोणी–की शिराओं में पहुँच कर

मूत्राशय, गर्भाशय या प्रोस्टेट के आस-पास की शिराओं में स्थित होते हैं। मादा यहाँ गर्भित होती है और संक्रमण के समय से लेकर लगभग 1 से 3 माह में पुनः अण्डे देने लगती है। इस प्रकार यह अपना जीवन-चक्र पूरा करते हैं।

शि० जेपोनिकम व शि० मेन्सोनाई भी इसी प्रकार अपना जीवन-चक्र पूरा करते हैं पर वयस्क वर्म अपना निवास स्थान क्रमशः बडी आँतों व मलाशय (Rectum) की शिराओं मे बनाते है और अपने अण्डे मल में विसर्जित करते हैं। इस प्रकार शि० हीमेटोबियम मुख्यतया मूत्राशय को आक्रान्त कर मूत्र रोग पैदा करते हैं, जिसे मूत्रीय शिस्टो-सोमियासिस या मूत्रीय बिल्हार्जियासिस (Urinary Bilharziasis) कहते है और शि० जेपोनिकम व शि० मेन्सोनाई बडी आंतों का शिस्टोसोमियासिस या आन्त्रीय बिल्हार्जियासिस पैदा करते हैं।

आगार—तीनो ही शिस्टोसोम कृमियो का-मानव प्राथमिक आगार होता है और स्नेल द्वितीयक।

प्रसार—ऊपर किये गये वर्णन के अनुसार–सर्केरिया लारवा से दूषित जलाशयो मे नहाने आदि से।

उद्भवन काल—1 से 3 माह तक।

संक्रामक अवधि—जब तक आक्रान्त व्यक्ति अपने मूत्र एव मल में कृमि अण्डे निस्सारित करता रहता है।

लक्षण-शि० हीमेटोबियम - सर्केरिया के प्रवेश स्थल पर खुजली एवं त्वक्शोथ; संक्रमण के 4 या 5 सप्ताह बाद पित्ती निकलना, ज्वर हो जाना और यकृत व तिल्ली का थोड़ा-सा बढ़ जाना एव ऐनाफिलेक्टिक प्रतिक्रिया का होना। 3 से 9 माह के अन्दर-अन्दर मूत्र मे रक्त का निकलना–विशेष कर पेशाब करने के बाद रक्त का गिरना। शि० जेपोनिकम एव मेन्सोनाई के संक्रमण मे अधिकाश पेचिश की सी शिकायतें रहती है और दस्तो मे रक्त एव श्लेष्मा निकलती रहती है। प्रवेश स्थल पर इसमे भी त्वक् शोथ होती है और यकृत व तिल्ली बढ़ जाते है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही।

प्रतिरोधात्मक उपाय—रोगी का समुचित उपचार जिससे रोग आगार का निराकरण हो, मल-मूत्र का स्वास्थ्यकर ढङ्ग से निस्तारण, ग्रामीण क्षेत्रो मे स्वतः साफ होने वाले शौचालयों का प्रयोग, सदूषित जलाशयो मे नहाने, कपड़े धोने या चलने-फिरने पर रोक, और ऐसे जलाशय मे कोपर सल्फेट आदि से स्नेलस का विनाश। पृथक्करण व विसंक्रमण की आवश्यकता नही होती।

फैसियोला हैपेटिका

यह कृमि लगभग 3 cm. लम्बा और 1·5 cm चौड़ा पत्ते के आकार का होता है और अधिकाशतः भेड, बकरी व गाय को आक्रान्त करता है पर मानव भी कभी-कभी प्रभावित हो जाते है। जानवरों से यह संक्रमण लगभग विश्वव्यापी है पर मानव

में इसका संक्रमण क्यूबा में ही होना पाया गया है। जानवरों में यह कृमि लगभग 5 वर्ष तक जीवित रह पाता है जबकि मानव में लगभग 9 से 13 वर्ष तक।

जीवन-चक्र— अण्डे संक्रमित जानवरो के मल मे या मानव मल मे निस्सारित होते हैं और ऐसे मल द्वारा दूषित जलाशयों मे पहुँचकर लारवा ठीक उसी प्रकार स्नेल्स में विकसित होते हैं जिस प्रकार शि० हीमेटोबियम के। सर्केरिया किस्म के लारवा स्नेल्स से निकलकर जलाशयों के घास, वनस्पति आदि में स्थित हो जाते है। पशु जब इस घास-पत्ती को खाते या यह जल पीते हैं तो ये उनके पाचन-पथ से प्रवेश करके यकृत में पहुँच जाते हैं जहाँ यह वयस्क वर्म में विकसित होकर पित्त नलियों और पित्त थैली मे स्थित होते हैं। मादा गर्भित होकर अण्डे देने लगती है जो मल द्वारा विकसित होते रहते है। मानव को सक्रमण दूषित जलाशयों मे पैदा हुए सिंघाड़े या ऐसे ही फलों के छिलको को दांतों से काटकर उतारने और खाने से या उस जल से सींची गई सब्जियों को कच्ची खाने पर होता है।

आगार - भेड़, बकरी, गाय एव मानव–यदि सक्रामित हो।

प्रसार—इन्ही के मल द्वारा–यथोपरि वर्णित।

उद्भवन काल—सक्रमण के लगभग 3 माह बाद।

संक्रामक अवधि—जब तक सक्रमित जानवर या मानव इनके अण्डे निस्सारित करते रहे।

लक्षण—मचली, उल्टी, दस्त पैत्तिक शूल (Biliary colic) और कभी-कभी पीलिया।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही।

प्रतिरोधात्मक उपाय— संक्रमित जानवरो का सम्यक् उपचार और संदूषित जलाशयों में स्नेल्स का नाश। मानव-मल का स्वास्थ्यकर साधनों से निस्तारण। संदूषित जल में पैदा हुई फल-सब्जियो को उबलते पानी मे धोकर प्रयोग मे लाना।

फैसियोलोप्सिस बूस्की या बस्काई

पत्ते की आकार का सबसे बडा ट्रैमेटोड कृमि है। इसकी लम्बाई लगभग 2 से 7.5 cm, चौडाई लगभग 8 से 20 mm. और मोटाई 0.5 से 3 mm. की होती हैं। एशिया के अनेक देशों में—चीन, सिंगापुर, फार्मोसा, थाईलैण्ड, सुमात्रा, बोर्नियो एवं बङ्गाल, आसाम, आदि में इसका प्रसार पाया जाता है। इसका जीवन-काल लगभग 6 माह का होता है। वयस्क कृमि मानव व सूअर की आँतों में रहता है।

जीवन-चक्र— लगभग वही जो फैसियोला हैपैटिका का होता है।

आगार—मानव व सूअर। सूअर प्रमुखता से।

प्रसार—ठीक वैसे ही जैसा कि फैसियोला हैपैटिका मे होता है।

उद्भवन काल—लगभग 3 माह।

संक्रामक अवधि—जब तक मल में अण्डे निकलते रहें।

लक्षण—उल्टी, दस्त या कोष्टबद्धता, भूख की कमी, मुँह पर सूजन, पाँवों पर सूजन और कभी-कभी जलोदर (Ascites)। यदि संक्रमण भारी मात्रा में हो तो कभी-कभी आन्त्र अवरोध (Intestinal Obstruction) भी हो जाता है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नहीं।

प्रतिरोधात्मक उपाय—ठीक वही जो फँसियोला हैपैटिका के लिये वर्णित किये गये हैं।

संरोपण (Inoculation) संक्रमण से त्वचा पथ द्वारा फैलने वाले मुख्य-मुख्य रोग

I मार्थ्रोपोडा द्वारा फैलाये जाने वाले रोग

मलेरिया (Malaria)

मलेरिया प्लाज्मोडियम श्रेणी के परजीवी प्रोटोजोआ से उत्पादित होता है और मादा ऐनोफेलीज् मच्छरों से प्रसारित होता है। यह सदियों पुराना रोग है जिसका वृत्तान्त चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। इटली में सदियों पूर्व इसकी उत्पत्ति एवं प्रसार का कारण अशुद्ध हवा-वातावरण—को प्रमावित किया गया अर्थात् mal (अशुद्ध) aria (हवा) से फैलने वाला रोग और तभी से इसका नाम malaria रख दिया गया। ट्रोपिकल एवं सब-ट्रोपिकल प्रदेशों में इसका भीषण प्रकोप रहा है और कई ट्रोपिकल देशों में आज भी है। ठण्डे देशों में भी इसका प्रसार होता रहा है। पिछले 10–15 वर्षों में इसके निवारण एवं उन्मूलन के जो सक्रिय प्रयास विभिन्न देशों में किये गये, उसके परिणाम-स्वरूप अब इसके प्रसार में उल्लेखनीय कमी हुई है; पर अभी भी इसके स्थानिक रूप में बने रहने की स्थिति अफ्रीका, दक्षिण पूर्वी एशिया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, व दक्षिण अमेरिका में है। दक्षिण-पूर्वी एशिया में थाईलैण्ड, मलेशिया, इण्डोनेशिया, बर्मा, बंगला देश, भारत, नेपाल, पाकिस्तान, श्रीलंका आदि में इसका प्रचार विभिन्न अंशों में आज भी बना हुआ है।

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय इस रोग से लगभग 7.5 करोड़ व्यक्ति प्रतिवर्ष आक्रान्त होते थे और लगभग 8 लाख मृत्यु के शिकार होते थे। इस प्रकार उस समय की रोगी दर प्रति हजार की आबादी पर लगभग 215 की थी; लेकिन सन् 1953 से मलेरिया नियन्त्रण अभियान और 1958 से मलेरिया उन्मूलन अभियान का जो विस्तृत कार्यक्रम लागू किया गया उसके फलस्वरूप सन् 1963-64 में रोगी दर ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 0.001 और शहरी क्षेत्रों में 0.28 प्रति हजार के रह गई थी। यह रोग, जो भारत में जनस्वास्थ्य का प्रथम नम्बर का शत्रु था, उसके निराकरण में इतनी भारी सफलता वास्तव में प्रशंसनीय उपलब्धि रही। पर पिछले कुछ वर्षों से अनुरक्षण प्रावस्था में रखे गये कई यूनिटों में फिर से रोगियों की संख्या कुछ बढ़ने लगी है जिसका प्रमुख कारण ढूँढ-तलाश से रोगी व्यक्ति में

परजीवी आगार को समाप्त करने में कुछ ढिलाई आ गई है। उन्मूलन अभियान में जहाँ रोगी की ढूँढ़ तलाश के लिये हर 15 दिन मे एक बार अनिवार्य रूप से क्षेत्र के सभी घरों पर स्वास्थ्य कर्मचारियों को जाना होता था, वहाँ अनुरक्षण प्रावस्था में इसे घटा कर प्रति माह में एक बार का करना पड़ा और इस कार्य को प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के देख-रेख मे रखना पड़ा। इसके अतिरिक्त शहरी क्षेत्रों में रोग-दर अनुपात में अधिक होने और ग्रामीण क्षेत्रों से लोगों का शहरी क्षेत्रों मे निरन्तर आवागमन बना रहने के कारण भी संक्रमण का प्रसार होता रहा। इधर मच्छरों मे भी डी.डी.टी एवं बी एच सी, के प्रति प्रतिरोध बढ़ता गया जिससे अब इन रसायनों का विकार-स्थानिक (Focal) छिड़काव अधिक लाभप्रद नही रहा है। शहरी क्षेत्रों में विस्तृत डी डी टी. छिडकाव के स्थान पर लारवा विरोधी अभियान अधिक सक्रिय रूप से लागू करने का कार्य नगरपालिकाओ पर छोड़ा गया था किन्तु अर्थाभाव के कारण नगरपालिकाऐं इसे सम्यक् रूप से क्रियान्वित कर नही पायी।

इन सभी कारणो के फलस्वरूप अनुरक्षण प्रावस्था मे इस कार्य मे उत्तरोत्तर ढिलाई आती गई और रोग के पुनः प्रसार में वृद्धि होती गई। सन् 1976 मे देश भर मे कुल 65 लाख रोगी होने पाये गये। इस विषम स्थिति से निपटने के लिये भारत सरकार ने विशेषज्ञों की विशिष्ट सिफारिशों पर अप्रैल 1977 से नये सिरे से संशोधित (modified) नियन्त्रण अभियान प्रारम्भ किया है जिसके फलस्वरूप रोगी संख्या में अपेक्षाकृत कमी हुई है। सन् 1982 में कुल रोगी संख्या 20 52 लाख रही।

अधिकांशतः मलेरिया का प्रसार जुलाई से नवम्बर मास में होता है। थोड़ा-बहुत प्रसार मार्च-अप्रेल माह मे भी होता है। वैसे वर्षा ऋतु मे मच्छरो की उत्पत्ति अधिक होती है और मच्छर 60% से ऊपर की आर्द्रता मे अधिक सक्रिय रहते हैं सभी उम्र के लोगों मे यह रोग होता है और दोनो लिङ्ग के व्यक्ति समान रूप से ही आक्रान्त होते हैं; पर पुरुषो में उनके बाहरी आवागमन के कारण इस रोग का संचारण कुछ-कुछ अधिक हो सकता है। रोग स्थानिक प्रसार का होता है और समय-समय पर महामारी के रूप में फैल जाता है। निम्न वर्ग से लोगों में बीमारी अपेक्षाकृत अधिक होती है।

एक बार रोग होने पर कोई विशेष रोग-निरोध-क्षमता उपार्जित नहीं हो पाती। बार-बार आक्रमण हो सकता है या रोग का पुनरावर्तन हो सकता है।

रोगजनक सूक्ष्म जीव—प्लाज्मोडियम वर्ग के तीन परजीवी मुख्य हैं :—

(i) प्ला. वाइवैक्स (Plasmodium Vivax)—हर दूसरे दिन ज्वर पैदा करता है–48 घण्टो में

(ii) प्ला फल्सिपैरम (Plasmodium Falciparum) हर रोज ज्वर पैदा करता है–24 घण्टों में

(iii) प्ला. मलेरी (Palsmodium Malariae)—हर तीसरे दिन ज्वर पैदा करता है–72 घण्टों में

इनके अनन्तर एक और उपभेद है—प्ला. ओवेल (Pl. ovale), जो अधिक महत्त्व का नहीं है।

प्लाज्मोडियम परजीवो का जीवन चक्र— (Life cycle)

संक्रमित ऐनोफेलीज् मादा मच्छर जब स्वस्थ व्यक्ति को काटती है तो वह अपने लार ग्रन्थियों (Salivary glands) में विद्यमान उपर्युक्त प्लाज्मोडियम परजीवी के स्पोरोजोइट्स (Sporozoites) उसमें इन्जेक्ट करती है। यह स्पोरोजोइट्स आध घण्टे के अन्दर-अन्दर रक्त द्वारा यकृत में पहुँच जाते हैं और 5 से 8 दिन के अन्दर क्रिप्टोट्रोफोजाइट, क्रिप्टो शाइज़ोन्ट व क्रिप्टो मीरोज़ॉइट (Crypto-trophozoit, Crypto Schizont, Cryptoimerozoites) में क्रमशः परिवर्तित होते हैं और क्रिप्टो मीरोज़ॉइट्स यकृत कोशिकाओं से निकल कर रक्त में प्रविष्ट होते हैं जहाँ यह रक्त की लाल कणियों पर आक्रमण करते हैं और इन कणियों में प्रविष्ट होकर बढते हैं। क्रिप्टो मीरोज़ॉइट्स, जिन्हें क्रिप्टोज़ॉइटस भी कहते है, प्रारम्भ में रक्त-कणियों में अँगूठी का आकार धारण करते हैं, फिर यह ट्रोफोज़ॉइट और शाइज़ॉन्ट
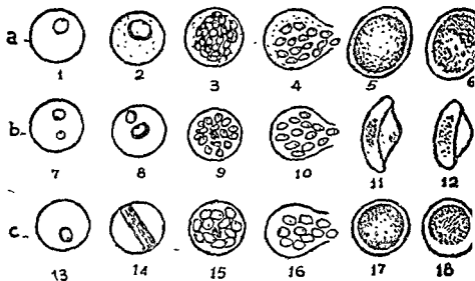
चित्र 9.10 मलेरिया परजीवी

a प्ला. वाइवैक्स–1. रिङ्गरूप, 2. ट्रोफोजोइट, 3. शाइज़ोन्ट, 4. मीरोज़ॉइट (शाइजोन्ट से निकलते हुए) 5. मादा गेमीटोसाइट 6. नर गेमीटोसाइट

b. प्ला. फाल्सीपैरम–7. रिङ्गरूप, 8 ट्रोफोजोइट, 9. शाइजोन्ट 10. मीरोज़ॉइटस (शाइजोन्ट से निकलते हुए) 11. मादा गेमीटोसाइट, 12. नर गेमीटोसाइट

c प्ला. मलेरी --13 रिङ्गरूप, 14 ट्रोफोज़ोइट, 15 शाइज़ोन्ट, 16. मीरोज़ॉइट्स (शाइजोन्ट से निकलते हुए) 17. मादा गेमीटोसाइट, 18. नर गेमीटोसाइट

में परिवर्तित होते हैं और जब शाइजॉन्ट पूर्ण परिपक्व होता है तो लाल कणियों को फोड़ कर उसमें बने मीरोजॉइट्स को पुनः रक्त में प्रवाहित करता है। यह मीरोजॉइट फिर अन्य लाल कणियो मे प्रविष्ट होकर उसी प्रकार बढ़ते हैं और अधिकाधिक मीरोजॉइट्स पैदा होते रहते हैं । मीरोजॉइट्स की जब पर्याप्त सख्या बन जाती है और वे अपेक्षित सख्या में लाल कणियों को आक्रान्त करते हैं, तब ज्वर के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। प्रथम बार ज्वर होने के बाद भी इन परजीवियों का यह चक्र चलता ही रहता है और जब-जब भी नये मीरोजॉइट्स का नयी लाल कणियों पर आक्रमण होता है, तब-तब फिर ज्वर होता है । प्ला. फालिसपैरम. मीरोजॉइट से मीरोजॉइट की उत्पत्ति म 24 घण्टे लेता है, वाइवैक्स 48 घण्टे और मलेरी 72 घण्टे। इसीलिए इनके द्वारा उत्पादित ज्वर क्रमश. प्रति दिन, प्रति दूसरे दिन या प्रति तीसरे दिन के होते हैं । इस चक्र को अलैङ्गिक चक्र—(Asexual cycle) कहते हैं। कुछ मीरोजोइट्स गेमीटोसाइट्स (Gametocytes) में परिवर्तित होकर रक्त कणियो में बने रहते हैं और मच्छर के पेट मे पहुँचने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। (चित्र 9·10)

इस प्रकार इन परजीवियों का अलैङ्गिक जीवन चक्र 2 चरणो में होता है। प्रथम यकृत कोशिकाओ मे, जिसे एक्सो-एरिथ्रोसाइटिक साइकल (Exo-Erythrocytic cycle) कहते हैं और दूसरा रक्त की लाल कणियों में जिसे एरिथ्रोसाइटिक साइकल (Erythro-cytic-cycle) कहते हैं। रक्त की लाल कणियों को एरिथ्रोसाइट्स कहते हैं। इस चक्र की अवधि वाइवैक्स मे 14 दिन, फालिसपैरम में 12 दिन और मलेरी में लगभग 28 से 30 दिन की होती है और यही इनका उद्भवन काल भी बनता है।

रोगी व्यक्ति में जब गेमीटोसाइट्स की संख्या पर्याप्त होती है और जब मादा मच्छर के काटने पर नर व मादा गेमीटोसाइट्स मच्छर के पेट में पहुँचते हैं, तो यहाँ इनका लैङ्गिक मिलन होता है और मादा गेमीटोसाइट गर्भित होकर जाइगोट (Zygote) बनती है जिसे ऊकाइनेट (Ookinate) भी कहते हैं। जाइगोट मच्छर के पेट की माँसपेशियों को छेद कर पेट की ऊपरी झिल्ली के नीचे स्थित होकर ऊसिस्ट (Oocyst) में परिवर्तित होती है। ऊसिस्ट मे असख्य स्पोरोजोइट्स बनते हैं। जब यह पूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं, तब ऊसिस्ट फटती है और स्पोरोजोइट्स मच्छर के सीने मे प्रसारित होकर लार ग्रन्थियो मे प्रविष्ट हो जाते हैं और मानव शरीर में पहुँचने की प्रतीक्षा करते रहते है। जब ऐसे संक्रमणी मच्छर स्वस्थ व्यक्ति को काटते हैं तब स्पोरोजोइट्स उसके शरीर में पहुँच कर पुनः अपना अलैङ्गिक जीवन चक्र प्रारम्भ कर देते हैं। मच्छरो मे होने वाले साइकल को लैङ्गिक साइकल कहते हैं और इसे भी लगभग 10 से 12 दिन लगते हैं।

आगार—मानव-वह रोगी व्यक्ति जिसमें गेमीटोसाइट्स विद्यमान हो या वे व्यक्ति जो स्वस्थ होने पर गेमीटोसाइट्स वहन करते हो—रोगवाहक बनते हैं।

प्रसार—एनोफेलीज मादा मच्छरों द्वारा—काटने पर। कौन-कौन से एनोफेलीज मच्छर भारत में रोग-प्रसार करते हैं इसका विवरण अध्याय 7 में किया जा चुका है वे सभी परिस्थितियाँ जो मच्छरों की उत्पत्ति में सहायक होती हैं, रोग-प्रसार के सहायक कारण बनती है। इनका वर्णन भी उसी अध्याय में किया जा चुका है।

उद्भवन काल—यथोपरि वर्णित

संक्रामक अवधि—जब तक रोगी मे या रोगवाहक व्यक्ति मे गेमीटोसाइट्स विद्यमान रहते हैं। यदि समुचित एवं सम्पूर्ण उपचार नही किया जाय, तो प्ला. मलेरी के गेमीटोसाइट वर्षों—जीवन भर—बने रह सकते है और वाइवैक्स एवं फाल्सिपेरम के क्रमश. 3 व 1 वर्ष तक।

लक्षण—हाथ-पांव टूटने लगते हैं, सिर दर्द होने लगता है, और अत्यधिक सर्दी लग कर—शीतकम्प के साथ-ज्वर हो आता है। शीतकम्प के समय रोगी को भरपूर कम्बलें ओढानी पड़ती हैं फिर भी सर्दी लगने की शिकायत करता रहता है। यह अवस्था लगभग ½ घण्टे से 2 घण्टे तक करती है। उसके बाद ज्वर और भी तेज हो जाता है—103^0F से 105^0F तक पहुँच जाता है—और शीतकम्प मिट जाने के कारण रोगी कम्बलों हटा देता है। यह अवस्था 4 से 6 घण्टे तक बनी रहती है और तब पसीना आना प्रारम्भ होता है। पसीना इतना आता है कि रोगी के वस्त्र एवं बिस्तर की चद्दर आदि भी भीग जाती है। इसी के साथ ज्वर भी उतर आता है पर जी मचलाने व कै आदि होने की शिकायत बनी रहती है। इस प्रकार ज्वर का आक्रमण हर रोज, हर दूसरे रोज, या हर तीसरे दिन के बाद चौथे रोज, परजीवी के प्रकार के अनुसार होता रहता है। कुछ ही दिनों मे तिल्ली बढ़ जाती है, यकृत की कार्यक्षमता मे शिथिलता आ जाती है, रक्त की लाल कणियो के अधिक क्षतिग्रस्त होने से रक्त-हीनता एवं पीलिया की स्थिति उभर आती है, और रोगी दिन पर दिन कमजोर होता जाता है। यदि वाइवैक्स एवं मलेरी का दोहरा संक्रमण होता है तो ज्वर प्रतिदिन आने लगता है और फाल्सिपेरम मे तो उतरता ही नहीं है। फाल्सिपेरम मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है और कई बार गम्भीर स्थिति पैदा कर देता है जिसके कारण कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही है। बचाव के लिये कुछ औषधियो का अवश्य प्रयोग किया जाता है जिसका वर्णन आगे चलकर करेंगे।

प्रतिरोधात्मक उपाय—पृथक्करण एवं विसंक्रमण की कोई आवश्यकता नही होती। केवल सर्वेक्षण से रोगियों की ढूँढ-तलाश, सम्भावित रोगियों की जाँच-पड़ताल उनका समुचित उपचार और एनोफेलीज मच्छरों का नाश ही मुख्य प्रतिरोधात्मक उपाय है जिससे मच्छरों द्वारा मलेरिया-परजीवियो का मानव में संचरण रोका जा सके और इस संचार शृंखला को तोड़ा जा सके। इसी उद्देश्य से भारत सरकार ने सर्वप्रथम सन् 1953 मे अधिक प्रसार वाले क्षेत्रों मे मलेरिया नियन्त्रण

का कार्यक्रम हाथ मे लिया था । किस क्षेत्र मे मलेरिया का प्रसार कितना है इसकी जांच के लिये निम्न सूचकाक (Index) काम मे लाये जाते है :

(i) स्प्लीन रेट(Spleen rate)—2 से 10 वर्ष के बालकों मे बढी हुई तिल्ली की प्रतिशत संख्या का सर्वेक्षण किया जाता है ।

(ii) पैरेसाइट्(परजीवी)रेट—(a)2 से 10 वर्ष के बालकों में एवं(b)1 वर्ष से छोटे शिशुओं में प्रति 100 बालको व 100 शिशुओं मे पैरेसाइट वहन करने वालो की संख्या का पता लगाया जाता है । इसके लिये बालको एवं शिशुओ का रक्त परीक्षण किया जाता है । गैमीटोसाइट रेट का भी अकन किया जाता है ।

(iii)मलेरिया उन्मूलन अभियान मे API.(Annual Parasite Incidence) अर्थात् प्रति 1000 की आबादी पर निश्चित रोगी-संख्या का पता लग या जाता है; और ABER (Annual Blood Examination Rate) अर्थात् प्रति 100 की आबादी पर रक्त-परीक्षण सख्या–रोगी या सम्भावित रोगियो का रक्त-परीक्षण—किया जाता है ।

इसके उपरान्त आवश्यकतानुसार मलेरिया वाहक मच्छरों की प्रतिशत संख्या एवं उनके सक्रमित होने—अर्थात् लार-ग्रन्थियों मे स्पोरोजाइट्स के होने की भी प्रतिशत संख्या का पता लगाया जाता है ।

मलेरिया नियन्त्रण कार्यक्रम के, जो केवल अधिक प्रसार वाले क्षेत्रों में ही लागू किया गया था, अत्यन्त ही आशाजनक परिणामो के फल-स्वरूप भारत सरकार ने सन् 1958 में मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम हाथ में लिया । इसको सारे देश में—सभी क्षेत्रो मे—लागू किया गया । देश को 10 लाख आबादी की लगभग 393 इकाइयो मे बाँटा गया और प्रत्येक इकाई के लिए एक मलेरिया यूनिट की स्थापना की गई । प्रत्येक यूनिट मे एक मलेरिया मेडिकल आफीसर, आठ मलेरिया इन्सपेक्टर 25 सर्वेलैन्स इन्सपेक्टर, 100 सर्वेलैन्स वर्कर, 6 से 8 लेबोरेटरी टैक्नीशियन, ड्राइवर व चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी नियुक्त किये गये । इसके अनन्तर डी.डी.टी. छिड़कने के लिये आवश्यकतानुसार—दैनिक रोजगार पर—श्रमिकों को नियुक्त करने की व्यवस्था की गई । सारे कार्यक्रम को चार प्रावस्थाओ मे बांटा गया :—

(i) प्रारम्भिक प्रावस्था(Preparatory Phase)—इसमे आवश्यक सर्वेक्षण केन्द्रीय व प्रान्तीय प्रशासनिक नियोजन, यूनिटों का निर्धारण, साज-सामान की उपलब्धि, तकनीकी कर्मचारियो की नियुक्ति एवं प्रशिक्षण, प्रयोगशालाओ का स्थापन आदि कार्य किये गये ।

(ii) आक्रमण प्रावस्था(Attack Phase)—एनोफेलीज मच्छरों को मारने के लिये यूनिट क्षेत्र के सभी आवासीय मकानों पर अन्दर-बाहर डी.डी.टी. छिडकने का काम किया गया । डी डी टी. का छिडकाव अनिवार्य रूप से वर्ष में दो बार—मलेरिया प्रसारण अवधि के तुरन्त पूर्व किया गया । यह कार्य लगभग 3 वर्ष तक

किया जाता रहा। तीसरे वर्ष में डी.डी.टी. छिड़काव के साथ ही साथ रोग-सर्वेक्षण सर्वेलेंस (Surveillance) का कार्य भी हाथ में लिया गया।

(iii) दृढ़ीकरण प्रावस्था (Consolidation Phase)—इस प्रावस्था में घर-घर पाक्षिक पूछ ताछ एवं रोगी की ढूँढ़-तलाश का कार्य अधिक प्राथमिकता एवं प्रचुरता से हाथ में लिया गया, जिसे सक्रिय सर्वेलेंस (Active Survreillance) की संज्ञा दी गई। प्रत्येक रोगी या सम्भावित रोगी का रक्त-परीक्षण के लिये लिया जाने लगा। सभी ज्वर के रोगियों को मलेरिया के सम्भावित रोगी होना मानकर प्राथमिक उपचार के रूप में निर्धारित मात्रा में विशिष्ट औषधि का सेवन कराया जाने लगा और रक्त-परीक्षण पर मलेरिया होने का प्रमाण मिलने पर समूल (Radical) उपचार किया जाने लगा। सर्वेलेंस के अनन्तर सभी अस्पतालों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, डिस्पेन्सरियों व निजी व्यवसायों में लगे डाक्टरों के यहाँ, जो भी ज्वर के रोगी आयें उनके रक्त परीक्षण की भी व्यवस्था की गई। इस व्यवस्था को निष्क्रिय सर्वेलेंस (Passive Surveillance) की संज्ञा दी गई। इस प्रकार सभी रोगी, व्यक्तियों की ढूँढ-तलाश का कार्य तत्परता से किया जाने लगा और उनका तुरन्त इलाज भी। इलाज में वयस्क व्यक्तियों को प्रथम दिन 0 6 ग्राम की क्लोरोक्विन (Chloroquin) 150mg की चार गोलियाँ व 15 mg. की प्रीमाक्विन (Primaquin) की एक गोली खिलाई जाती और दूसरे दिन से पाचवे दिन तक केवल प्रीमाक्विन की उसी मात्रा की गोलियाँ खिलाई जाती थी। आज भी इलाज में यही औषधियाँ काम में लाई जा रही हैं। क्लोरोक्विन के स्थान पर केमोक्विन (Camoquin) भी दी जाती थी।

इलाज के अनन्तर यदि सीमित क्षेत्र में डी.डी.टी. के छिड़काव की आवश्यकता होती तो वह भी किया जाता था। इस प्रकार इस प्रावस्था में रोग-आगार को समाप्त करने का लक्ष्य पूरा किया जाने लगा। यदि लगातार 3 वर्ष तक किसी भी यूनिट में कोई नया रोगी न हुआ हो तो उसे अनुरक्षण-प्रावस्था में लिया गया।

(iv) अनुरक्षण प्रावस्था—इस प्रावस्था में रोग-मुक्त किये जा चुके क्षेत्र में फिर से रोग-प्रसार न हो इसके लिये देख-रेख रखने का सीमित कार्य, सीमित संख्या के कर्मचारियों की सहायता से, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों को सौंपा गया। लेकिन जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस व्यवस्था में रोग का पुन प्रसारण होने से भारत सरकार ने अप्रैल सन् 1977 से संशोधित मलेरिया नियन्त्रण अभियान नये रूप से प्रारम्भ कर दिया है।

बचाव के लिए प्रति सप्ताह क्लोरोक्विन 300mg. डाराप्रिम (Daraprim) 25mg. या पेल्युड्रिन (Paludrine) 100mg की गोलियाँ खाना हितकर होगा है।

मलेरिया उन्मूलन अभियान के फलस्वरूप मलेरिया निराकरण में कितनी सफलता मिल पाई है इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

मच्छरों की उत्पत्ति रोकने, बड़े मच्छरों को मारने और व्यक्तिगत बचाव के उपाय अपनाने सम्बन्धी विचार भी हम पहले ही अध्याय 7 में कर चुके हैं।

फाइलेरिया (Filaria)

यह रोग क्यूलेक्स मच्छरों द्वारा संचारित होता है और नेमेटोड (Nematoda) वर्ग के कृमि माइक्रोफाइलेरीई (Microfilariae) से उत्पादित होता है। भारत में वुशेरेरिया बेन्क्रॉफ्टाई व वुशेरेरिया मेलेयी (Wuchereria bancrofti and W. malayi) प्रमुख माइक्रोफाइलेरीई हैं जो यह रोग पैदा करते हैं। यह भी सदियों पुराना रोग है जिसका वर्णन हमारे प्राचीन ग्रन्थों मे मिलता है। भारत में तो यह प्रमुखता से प्रसारित रहा ही है किन्तु अन्य ट्रोपिकल व सब-ट्रोपिकल देशों मे भी इसका प्रसार रहा है और अब भी है। आज भी इसके रोगी एशिया, अफ्रीका व दक्षिण अमेरिका मे मिलते हैं जबकि आस्ट्रेलिया व उत्तरी अमेरिका से इसका उन्मूलन हो चुका है।

जैसाकि पूर्व में लिख आये है भारत मे यह रोग अधिकता से उड़ीसा, बिहार, आंध्रप्रदेश, तामिलनाडू, कर्नाटक, केरला, मध्यप्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश व समुद्री तट के क्षेत्रों में फैला हुआ है। इसका प्रसार अधिकांश स्थानिक रूप से ही होता है। उग्र अवस्था मे यह रोग ज्वर एवं लसीकावाहिनी नलिकाओं व लसीका ग्रन्थियो की शोथ पैदा करता है और चिरकारी अवस्था में हाथ, पाँव व गुप्त अंगो का श्लीपद-हाथीपाव (Elephantiasis) पैदा करता है। इस रोग में मृत्यु तो नही होती पर मरीज को श्लीपद के कारण जीवनभर की असुविधा अवश्य हो जाती है। सभी उम्र व दोनों लिङ्गों के व्यक्ति आक्रान्त होते हैं।

रोगजनक कीटाणु—जैसाकि ऊपर उल्लेखित हैं।

आगार—रोगी व्यक्ति विशेषकर उग्र अवस्था में—एवं रोग—वाहक व्यक्ति।

प्रसार—क्यूलेक्स मच्छरो द्वारा।

माइक्रोफाइलेरीई रोगी के परिसरीय (Peripheral) रक्त मे रात्रि के समय—10 बजे से 2 बजे तक अधिकाधिक संख्या मे रहते हैं। मच्छर के काटने पर यह उसके पेट में पहुंचते हैं जहाँ यह अपनी ऊपरी कञ्चुकी (Sheath) को झाड़ देते हैं और मच्छर के पेट से बाहर आकर उसके सीने में पनपते हैं और बढ़ते हैं। वहां से ये मच्छर के सिर की ओर बढ़ते हैं और भगोष्ठ (Labium) मे आकर स्थित हो जाते हैं। मच्छर जब भी किसी अन्य स्वस्थ व्यक्ति को काटता है तो ये माइक्रोफाइलेरीई कीटाणु तुरन्त भगोष्ठ मे निकल कर काटे गये स्थान के आस-पास गिर जाते हैं और रेंग कर मच्छर के काटे स्थल पर बने वेधन मार्ग से होकर शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, अर्थात् संरोपण से व्यक्ति को संक्रामित करते हैं।

श्रमिकों का एक जगह से दूसरी जगह जाना, लोगों का औद्योगिक नगरो मे काम-धन्धे के लिए जाना, अधिक जनवास के ऐसे छोटे-छोटे आवासो मे रहना जहाँ

पर्याप्त मच्छरों की भरमार रहती है, और अधिकांशतः खुले में सोना, ये सब रोग प्रसार के सहायक कारण बनते हैं।

उद्भवन काल—3 से 9 माह तक—अधिक से अधिक अवधि 18 माह की भी हो सकती है।

संक्रामक अवधि—मानव से मानव को तो रोग नहीं फैलता पर रोगी मानव वर्षों तक मच्छरों को संक्रमित करने योग्य बना रहता है। मच्छरों में माइक्रोफाइलेरीई 10 दिन में अन्यों को रोग सचारित करने योग्य हो जाते हैं।

लक्षण—लसीका वाहिनी नलिकाओं एवं लसीका ग्रन्थियों की शोथ जिसके कारण प्रभावित अंगों में दर्द एवं हल्का ज्वर। समयान्तर में लसीका-वाहिनी नलिकाओं की स्थूलता एवं उनके भीतरी भाग-ल्यूमेन (Lumen) की सिकुड़न उनमें मरे कृमियों के जमाव से रुकावट व लसीका ग्रन्थियों की शोथ के कारण, लसीका-प्रवाह में रुकावट आदि से प्रभावित अंग फूलने लगता है—उसमें स्थूलता आने लगती है और वह हाथीपगा-सा हो जाता है (चित्र 9.11)। कुछ लोग बिना लक्षण प्रदर्शित किये ही रोग-वाहक बने रहते हैं।
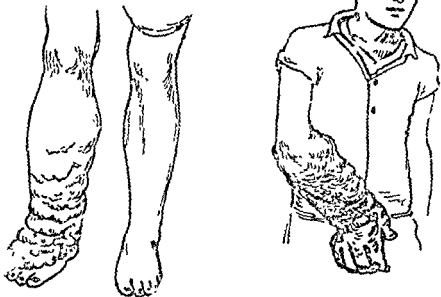
प्रतिरक्षण—कोई टीका नहीं है।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—उग्र स्थिति के रोगियों की सूचना यदि दी जा सके तो श्रेयस्कर है; वैसे अनिवार्य नही है। लेकिन भारत में फाइलेरिया नियन्त्रण अभियान के अन्तर्गत सभी संक्रमित रोगियों की ढूढ-तलाश एवं समुचित उपचार की व्यवस्था की गई है।

पृथक्करण—आवश्यक नही है। व्यावहारिक भी नहीं। केवल संक्रमित रोगियों को मच्छरो से सुरक्षित करने की आवश्यकता है। सोते समय मच्छर-दानी का प्रयोग अपेक्षित है।

विसक्रमण—आवश्यक नही है।

सगरोध—आवश्यक नहीं है।

आवश्यक है क्यूलेक्स मच्छरो की उत्पत्ति पर रोक, बडे मच्छरों का नाश, रोगी का समुचित इलाज, जिससे रोग आगार का अन्त किया जाय, और संक्रमित रोगी का मच्छरो से बचाव। मच्छरों की उत्पत्ति रोकने के लिये बस्ती मे जमा बेकार जल का निराकरण, खड्डो, ख दको व खाइयों आदि का भरण जिससे इनमें व्यर्थ का जल भराव न रहे, गन्दे पानी का भूमिगत गटरो से निकास, और घरों मे या छतों पर टूटे-फूटे पात्रो मे पानी के भराव का निकास आदि। सप्ताह में एक दिन टकियों, हौजों व अन्य छ.टे-मोटे जलाशयों को सूखा रखना अत्यन्त ही हितकर होता है। बड़े मच्छरो को मारने के लिये डी डी टी ; बी. एच. सी आदि का निर्धारित मात्रा में सभी आवासीय घरों मे छिड़काव और फ्लिट का फूआर करना श्रेयस्कर होता है। घरो का जालीदार दरवाजो और खिड़कियो से सुरक्षीकरण और मच्छरदानी का प्रयोग एवं मच्छर प्रतिकारक क्रीम आदि का प्रयोग करना अपेक्षित है।

मरीजो का समुचित इलाज हेट्राजान (Hetrazan) औषध के निर्धारित मात्रा और निर्धारित अवधि मे सेवन करने से किया जाता है पर सामूहिक चिकित्सा (Mass treatment) में इसका प्रयोग सीमित ही रखना पड़ा है क्योंकि इसके कुछ विपरीत प्रभाव भी हो जाते हैं।

डेंगू (Dengue)

मच्छर ईडीज ईजिप्टाई (Aedes aegypti) द्वारा फैलाया जाने वाला यह विशिष्ट सचारी रोग है जिसमें ज्वर 103°F से 105°F तक हो जाता है। ऊष्ण जलवायु वाले प्रदेशों मे जहां ईडीज की विद्यमानता अधिकता से होती है, वहां इसका प्रसार अधिक होता है। भारत में इसका प्रसार स्थानिक रूप से होता ही रहता है।

रोगजनक सूक्ष्म जीव—एक प्रकार का वाइरस।

आगार—(i) रोगी (ii) मच्छर जो संक्रमित हो चुका हो।

प्रसार—ईडीज् मच्छर के काटने पर। मच्छर जब रोगी व्यक्ति को काटता है तो उसके रक्त में विद्यमान वाइरस को प्राप्त करके 8 से 11 दिन में संक्रमी होकर रोग प्रसार मे समर्थ हो जाता है और जीवन-पर्यन्त संक्रमी बना रहता है।

उद्भवन काल—3 से 7 दिन।

संक्रमण अवधि—ज्वर उत्पत्ति के बाद कम से कम 5-6 दिन तक।

लक्षण—लक्षण सहसा प्रकट होते हैं, मचली, अरुचि, हल्की सर्दी या कई बार मलेरिया जैसे कम्पन के साथ ज्वर हो आता है। ज्वर के साथ ही सिर-दर्द, जोड़ों व हाथों-पांवो में दर्द व कमर में भारी दर्द होता है। कमर के अत्यधिक दर्द के कारण ही इसे कभी-कभी कमर तोड़ ज्वर भी कह देते हैं। ज्वर आने के 1 या 2 दिन में मुँह, गर्दन, छाती व बगलो के आस-पास लाल मेक्यूलस के से दाने उभर आते हैं; तब ज्वर 103°F या 105°F से घटकर 100°F तक उतर आता है। लेकिन 12 से 24 घण्टो के अन्दर-अन्दर फिर तेज हो जाता है ज्वर की अवधि अधिक से अधिक 7 दिन की होती है, इसके बाद ज्वर तो उतर जाता है। पर जोड़ो मे दर्द व अत्यधिक कमजोरी कुछ दिनों तक बनी ही रहती है। मृत्यु अधिकाश नहीं होती।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही।

प्रतिरोधात्मक उपाय—अधिसूचना अनिवार्य नही है, समकालिक व अन्तिम विसंक्रमण की भी आवश्यकता नही है, रोगी को मच्छरो से बचाये रखने की आवश्यकता अवश्य है। अन्य स्वस्थ लोगों को भी मच्छरो से बचाये रखना आवश्यक है। इसके लिये मच्छरों की उत्पत्ति रोकने तथा बडे मच्छरो को मारने के वे सभी उपाय करने चाहिये जो अध्याय 7 में या फाइलेरिया की रोक-थाम के सम्बन्ध मे वर्णित किये गये हैं।

प्लेग (Plague)

प्लेग अत्यन्त ही तीव्र संचारी रोग है जो प्राथमिकता से चूहों (Rodents) में होता है और चूहा पिस्सुओ द्वारा प्रसारित होता है। संक्रामक स्थिति के चूहे-पिस्सू जब मानव को काटते हैं तब मनुष्य मे प्लेग का प्रसार होता है। वैसे प्रारम्भ में इसका प्रसार जंगली चूहो (Rattus norvigicus) में ही होता है और वे ही इसका आगार बनते हैं, पर बाद में प्रसार घरेलू चूहों (Rattus Rattus) मे होने लगता है और उनसे संक्रमण का प्रसार चूहा-पिस्सू मनुष्य मे करते हैं। जंगली चूहों में होने वाले प्लेग को सिल्वेटिक प्लेग (Sylvatic Plague) कहते हैं। मानव में यह रोग काफी उग्र रूप धारण करता है और महामारी के रूप में फैलता है। मृत्यु भी काफी लोगो की होती है। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे इसका प्रसार भारत में काफी था। लगभग 5 लाख मौतें प्रतिवर्ष प्लेग से हो ही जाया करती थी,' किन्तु 1918–19 के बाद इसका प्रकोप निरन्तर कम होता गया और 1966 के बाद से तो यहाँ इससे कोई भी रोगी नही हुआ। राजस्थान मे इसका महामारी के रूप मे अन्तिम

प्रसार 1918 में हुआ था । अतीत में, सदियों पूर्व, यह रोग विश्वमारी के रूप में यूरोप, चीन, मंगोलिया, कोरिया आदि देशों में फैल चुका है और आज भी इसका आघटन (Incidence) चूहों में-पश्चिम अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, मध्य व दक्षिण अफ्रीका, अरेबिया, मंगोलिया, इन्डोनेशिया आदि में पाया जाता है। भारत में कर्नाटक के कोलार जिले में इसका अभी भी आंशिक आघटन विद्यमान है। विश्व भर में सन्–1973 में इससे लगभग 790 रोगी होने की सूचना मिली थी। इनमें से लगभग 47 की मृत्यु हुई।

प्लेग का प्रसार अधिकतर अक्टूबर से अप्रेल माह के बीच होता है और सभी वर्ग, उम्र व लिङ्गों के व्यक्तियों को समान रूप से प्रभावित करता है। प्लेग के कारण जब घरेलू चूहों की अधिकाधिक मृत्यु होने लगती है, तब चूहा-पिस्सू मनुष्य को काटना-प्रारम्भ करते हैं और मनुष्य में प्लेग का प्रसार करते हैं। मनुष्यों में अधिकांशत: यह रोग ग्रन्थिल प्लेग (Bubonic Plague) के रूप में ही होता है पर 1% फुफ्फुसी प्लेग (Pneumonic Plague) भी हो सकता है और अत्यन्त ही विरले मामलों में पूतिरक्तक (Septicaemic) प्लेग।

रोगजनक सूक्ष्म जीव—बेसीलस–पेस्चुरेला पेस्टिस (pasteurella pestis)

आगार—जंगली एवं घरेलू चूहे और फुफ्फुसी प्लेग में मानव। ग्रन्थिल प्लेग मानव से मानव को नहीं फैलता।

प्रसार—ग्रन्थिल प्लेग–चूहों से मानव को-चूहा-पिस्सू (Rat flea) द्वारा जिसमे जेनोप्सिला चियोपिस (Xenopylla Cheopis) मुख्य हैं। फुफ्फुसी प्लेग रोगी व्यक्ति से—बिन्दुक माध्यम—द्वारा प्रसारित होता है। पूतिरक्तक प्लेग जीवाणुओं पर प्रयोग करने वाले कर्मचारियों को आकस्मिक दुर्घटना के कारण–या ग्रन्थिल प्लेग ही के जीवाणुओं द्वारा रक्त में प्रवेश पा जाने के कारण।

उद्भवन काल—ग्रन्थिल प्लेग—2 से 6 दिन,
फुफ्फुसी प्लेग—3 से 4 दिन या इससे भी कम।

संक्रामक अवधि—ग्रन्थिल प्लेग में रोगी संक्रामक नहीं होता। पिस्सू कुछ दिनों या सप्ताहों तक संक्रामक स्थिति में बना रहता है। फुफ्फुसी प्लेग में रोगी जब तक बीमार रहता है तब तक संक्रामक बना रहता है।

लक्षण—ग्रन्थिल प्लेग-शीतकम्प के साथ ज्वर होता है जो 103°F से 105°F तक हो जाता है, सारे शरीर में दर्द रहता है, पिस्सू के काटने के स्थल पर छोटा-सा फाला उभर आता है, जीवाणु लसीका वाहिनी नलिकाओं से, सम्बन्धित लसीका ग्रन्थियों में, पहुँच कर शोथ पैदा करते हैं। यदि पिस्सू पाँव पर काटता है तो रानों

की ग्रन्थियों में और हाथ पर काटता है तो बगल की ग्रन्थियों से शोथ के कारण दर्द-भरी गाठ उभर आती है, जिसे ब्यूबो (Bubo) कहते हैं। तिल्ली और यकृत बढ़ जाते हैं, कई जगह त्वचा या श्लेष्मकला के नीचे रक्त-स्राव होने लगता है, मरीज गाफिल और विक्षिप्त स्थिति में रहता है, कई बार ज्वर 106^0 से 107^0F तक हो जाता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है। फुप्फुसीय प्लेग में सभी न्युमोनिया के लक्षण प्रकट होते हैं और रोगी 2-4 दिन मे ही मर जाता है, यदि समय पर यथोचित उपचार न किया जाय।

प्रतिरक्षण—सम्भावित रोग प्रसार की अवस्था में कम से कम एक सप्ताह पूर्व ही सार्वजनिक रूप से प्लेग वैक्सीन के टीके लगवा लेने चाहिये। ये टीके 2 चरणो मे *लगाये जाते है, पहला 1ml. व दूसरा 7 से 10 दिन बाद 1·5ml का।* रोग-निरोध-क्षमता 5 से 7 दिन मे पनप पाती है जो लगभग 6 माह तक बनी रहती है। *आपात स्थिति में एक ही टीका 3ml का लगाया जाता है, बच्चो को आधी* मात्रा देते हैं। इसके साथ-साथ रोगियो की सेवा–सुश्रुषा या उपचार आदि मे लगे *व्यक्तियो को 5--7 दिन टेट्रासाइक्लिन या सल्फोने-माइड ओषधियों का भी निर्धारित* मात्रा मे सेवन कराया जाता है।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—स्वास्थ्य अधिकारियो को, स्वास्थ्य निदेशालयो को और विश्व-स्वास्थ्य सघ को सूचना देना अनिवार्य है।

पृथक्करण—वैसे ग्रन्थिल प्लेग के रोगी के लिए पृथक्करण अनिवार्य नही है फिर भी ऐसे रोगी का अस्पतालों मे पृथक्करण के साथ उपचार कराना श्रेयस्कर होता है। फुप्फुसी प्लेग के लिये पृथक्करण अनिवार्य है।

विसंक्रमण—रोगी के सभी सक्रमी पदार्थों का-विशेषकर फुप्फुसी प्लेग के लिए-उबाल कर विसक्रमण करना आवश्यक है। पिस्सुओं को मारने के लिए कमरे का विसक्रमण विधिवत् करना होता है जिसका वर्णन हम पीछे अध्याय 7 में कर चुके हैं।

अन्य-उपाय—महामारी की आशका पर सार्वजनिक रूप से टीके लगाना और जहाँ रोग का प्रसार हुआ है, उसके आस-पास के लगभग 5 मील क्षेत्र मे सभी लोगों को टीके लगाना आवश्यक होता है। चूहों की अप्रत्याशित मौत की स्थिति में यथा-*साध्य लोगो को घरो से हटाकर अलग शिविरो मे रहना हितकर होता है। यदि यह* सम्भव न हो सके और किसी परिवार का दो मञ्जिला मकान हो तो उसे ऊपरी मञ्जिल ही में रहना वाञ्छनीय होता है तथा निचली मञ्जिल के सभी कमरो को पिस्सू-रहित करने के लिये डी डी टी. द्वारा निष्कीटिकृत करना होता है।

चूहा निवारण—(Deratization) प्लेग की रोकथाम के लिये चूहो का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक होता है चूहों को मारने के लिए मुख्यतया निम्न उपाय काम मे लाये जाते हैं.—

इसके अनन्तर मकानों, गोदामों, खाद्य सामग्री के भण्डारों आदि को मूषक रोधक (Rat-Proof) बनाना, कूड़े-कचरे का तुरन्त निकास करना, जनता को प्लेग एवं चूहों के निराकरण सम्बन्धी उपायों से जानकारी कराना, प्लेग क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को महामारी के दिनों में पाँवों पर मोटी गरम पट्टियाँ बांधना या लम्बे बूट धारण करना श्रेयस्कर होता है। फुफ्फुसी प्लेग के रोगियों का उपचार करने वाले लोगों को मास्क धारण करना भी अनिवार्य होता है।

पिस्सू सूचकांक (Flea-Index)—प्लेग के स्थानिक प्रसार क्षेत्रों में इसके महामारी के रूप में फैलने की आशंका का अनुमान बहुधा पिस्सू सूचकांक से किया करते हैं। पिस्सू सूचकांक से तात्पर्य है पिस्सू–xenopsylla Cheopis--की प्रति चूहे पर अमुक संख्या में विद्यमानता। यदि पिस्सू सूचकांक 1 से अधिक है तो स्थानिक रोग महामारी के रूप में फैलने की आशंका होती है।

संरोपण संक्रमण

II जानवरों के काटने या मिट्टी द्वारा संरोपण से फैलने वाले मुख्य रोग

रेबीज (Rabies) या हाइड्रोफोबिया (Hydrophobia)

यह अत्यन्त ही तीव्र छूत की संचारी बीमारी है जिसमें तन्त्रिका-तन्त्र (Nervous System) प्रभावित होता है और तीव्र मस्तिष्कशोथ (Acute Encephalitis) हो जाती है जिसका परिणाम होता है—शत-प्रतिशत मृत्यु। प्रथमतः यह रोग जंगली व घरेलू जानवरों के कारण होता है जिनके काटने या क्षतिग्रस्त त्वचा पर उनके लार का संरोपण होने से यह रोग मानव को हो जाता है। जिन जानवरों में इसका संक्रमण पाया जाता है वे हैं कुत्ता, भेड़िया, सियार, तरक्षु (Hyena), बाघ, बिल्ली ऊँट, घोड़े, बन्दर, खच्चर, चिमगादड़ आदि। भारत में अधिकांशतः यह बीमारी आवारा कुत्तों के काटने से ही होती है लेकिन ऊँट, घोड़े खच्चर आदि के काटने से होनी भी पाई गई है, और ग्रामीण क्षेत्रों में इनके अतिरिक्त भेड़िया, सियार, तरक्षु आदि के काटने पर भी। मानव को जब यह रोग होता है तो इसे हाइड्रोफोबिया कहते हैं क्योंकि इस रोग में रोगी जल से अत्यन्त ही कतराता है—भोजन नली में ऐंठन रहने से कुछ खा पी नहीं सकता और जल को देखते ही या जल उसके पास लाने का उसे भान होते ही यह ऐंठन और दृढ़ होने लगती है--अतः रोगी जल से डरता रहता है और इसीलिए इस रोग को हाइड्रोफोबिया कहते हैं अर्थात् जल से भय पैदा करने वाला रोग।

वैसे तो यह विश्वव्यापी रोग है किन्तु आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, व हवाई द्वीप इस रोग से अब तक बचे रहे हैं। इंगलैंड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, स्विटजरलैंड आदि से इसका उन्मूलन कर दिया गया है। भारत में आज भी यह रोग एक विकट समस्या बना हुआ है, क्योंकि रोग हो जाने पर इसका कोई विशिष्ट उपचार नहीं, और रोग फैलाने वाले आवारा कुत्तों का कोई अन्त नहीं। भारत में प्रतिवर्ष लगभग 3,00,000 लोगों को कुत्ते काटने पर-ऐण्टिरैबिक इन्जेक्शन लगाये जाते हैं-सम्भव है कुत्ते काटने की दुर्घटना इससे कई गुना अधिक होती हो।

रोगजनक सूक्ष्म जीव—रेबीज् वाइरस

आगार—ऊपर उल्लिखित जानवर-वाइरस अधिकांशतः रोगी जानवरो के तन्त्रिका ऊतकों, लसिका-ग्रन्थियों, रक्त एवं लार में रहता है और मानव को लार द्वारा ही सक्रमण होता है।

प्रसार—रोगी या उद्भवन काल के रोगी जानवर के काटने पर—लार माध्यम से।

उद्भवन काल—मानव में-30 से 90 दिन—औसतन 40 दिन।
कुत्तों में-10 से 240 दिन—साधारण या 20 से 60 दिन।

संक्रामक अवधि—मानव से मानव को संक्रमण नही होता हालांकि रोगी के लार में भी वाइरस रहते हैं। बड़े ही बिरले मामलों में परिचायक को संक्रमण होने की सम्भावना रहती है, यदि उसके हाथों पर कोई रगड़ आदि लगी हो और उसमें रोगी की लार का संरोपण हो। रैबिड कुत्ते में संक्रामक अवधि रोग उत्पत्ति के 6 दिन पूर्व से, रोग अवधि अर्थात् मृत्यु तक।

लक्षण—मानव में-सिरदर्द, कमर-दर्द, हाथ-पाँवों में दर्द, जानवर के काटे स्थल पर दर्द एवं ज्वर 100°F 101°F तक होने से प्रारम्भिक लक्षण प्रकट होते हैं, और एक दो दिन ही में तन्त्रिका लक्षण प्रकट हो जाते हैं। रोगी उत्तेजित एवं उद्विग्न स्थिति में हो जाता है; बड़बड़ाने लगता है; अकारण क्रोध करता है; प्रकाश, शोर-गुल व ठण्डी-गरम हवा पसन्द नही करता, ग्रासनली (भोजन निगलने की नली) में ऐंठन हो जाने से कुछ खा-पी नही सकता और पीने के प्रस्ताव पर तो कांप ही उठता है। दो-चार दिन इसी स्थिति में रहने पर रोगी की मृत्यु हो जाती है—अधिक से अधिक यदि वह जी पाता है तो 6 दिन तक।

कुत्तो में—उत्तेजित होना, अकारण भौंकना, भौंकने पर भर्राई आवाज होना, लकड़ी, छड़ी या अन्य कोई भी सख्त वस्तु को काटना व चबाना, अकारण ही लोगों को काटना, निष्प्रयोजन भागते रहना, लार टपकना और लकवा मार जाने पर पिछले पांवों से लाचार हो जाना आदि। लक्षण उत्पत्ति के 4 दिन के अन्दर-अन्दर कुत्ता मर जाता है।

प्रतिरक्षण—कुत्ते आदि जानवर के काटने पर दो तरह के बचाव उपाय तुरन्त करने चाहिये—

(1) काटे स्थल का उपचार और

(2) प्रतिरक्षात्मक टीके।

(1) काटे स्थल के उपचार में जख्म को तुरन्त ही स्वच्छ जल और साबुन से अच्छी तरह धोना चाहिये और उसका कॉटरीकरण (Cauterization) करना होता है। इसके लिए जख्म पर शुद्ध कार्बोलिक एसिड लगाया जाता है और एक मिनट बाद उसे स्पिरिट से धो दिया जाता है ताकि अतिरिक्त एसिड निकल

जाय । यदि कार्बोलिक एसिड उपलब्ध न हो तो नाइट्रिक एसिड, पोटाशियम परमेंगनेट या टिंचर आयोडिन काम में लाया जाता है । मुँह के जख्मों पर केवल पोटाशियम परमेंग्नेट या टिंचर आयोडिन ही काम में लाते है ताकि व्यर्थ में कोई दाग न रहे । जख्म यदि लम्बा-चौड़ा है तो भी उसमें टांके नहीं लगाये जाते ।

(2) प्रतिरक्षात्मक टीके ।

ये टीके एण्टि-रैबिक वैक्सीन के लगाए जाते हैं । वैक्सीन फिक्स्ड वाइरस (Fixed Virus) से तैयार किया जाता है । जो वाइरस रैबिड कुत्तों की लार में पाया जाता है उसे स्ट्रीट वाइरस(Street Virus) कहते हैं । इसे भेड़ों के मस्तिष्क में इन्जेक्ट करके फिक्स्ड किया जाता है । एक से दूसरी भेड़ में इन्जेक्ट करते रहने पर उनमें रोग का उद्‌भवन काल क्रमशः कम होता जाता है और लगभग 25-30 भेड़ों में सचारित करने पर, उद्‌भवन काल लगभग 8 दिन का स्थिर हो जाता है—इससे कम नहीं होता—अतः इस स्थिति में यह वाइरस फिक्स्ड (Fixed) स्थिति में हो जाता है, और तब इस प्रारूप के वाइरस से ही भेड़ों में तन्त्रिका-तन्त्र में निर्धारित मात्रा का इन्जेक्शन देकर वैक्सीन तैयार किया जाता है । वैक्सीन के टीके निम्न आधार पर लगाए जाते हैं ।

(i) कुत्ता या अन्य काटने वाला जानवर निश्चित रूप से रैबिड—अलर्क—था और मर गया ।
(ii) कुत्ता या अन्य काटने वाला जानवर काटने पर भाग गया—उसका पता नहीं लग पाया ।
(iii) कुत्ता या अन्य काटने वाला जानवर देख-रेख मे रखा गया और 10 दिन के अन्दर-अन्दर मर गया ।
(iv) कुत्ता या अन्य काटने वाला जानवर रैबिड होने के कोई लक्षण प्रदर्शित नहीं करता था पर सहसा मर गया और लेबोरेटरी टेस्ट से उसका रैबिड होना सिद्ध हुआ है ।

उपर्युक्त सभी परिस्थितियों में वैक्सीन टीका लगाना अनिवार्य होता है । यदि कुत्ते आदि को 10 दिन तक देख-रेख मे रखने पर भी वह जीवित रहता है तो टीके लगाने की आवश्यकता नहीं होती ।

टीके कितने और किस मात्रा में लगाये जायें; इसके लिए रैबिड कुत्ते आदि के काटे व्यक्तियों को तीन श्रेणी में विभाजित किया जाता है :—

श्रेणी I वे सभी व्यक्ति जिन्हें रैबिड कुत्ते ने केवल चाटा ही है ।

श्रेणी II वे सभी व्यक्ति जिन्हें रैबिड कुत्ते ने सिर, गर्दन, हाथ व अंगुलियों को छोड़कर अन्य स्थानों पर काटा हो; खरोंच लगाई हो और उस पर लार लग गई हो और जख्म पांच से अधिक न हो ।

श्रेणी III वे सभी व्यक्ति जिन्हें सिर, गर्दन, हाथ व उंगलियों पर काटा हो या अन्य स्थलों पर काटने से विदरित—चिरे-फटे (Lacerated) घाव हुए हों, और जो पाँच से अधिक हों।

निष्क्रियित BPL वैक्सीन की मात्रा और टीकों की संख्या

श्रेणी	मात्रा		टीका संख्या	रोग-निरोध-क्षमता
	वयस्क	बच्चे 10 वर्ष से कम उम्र के		
I	2ml.	2ml.	7 टीके-प्रतिदिन एक	
II	5ml.	2ml.	14 टीके-प्रतिदिन एक	लगभग 6 माह तक
III	5ml.	2ml.	14 टीके-प्रतिदिन एक	
	आवश्यकता हो तो श्रेणी II को एक बूस्टर टीका उतनी ही मात्रा का 21 दिन बाद और श्रेणी III को दो बूस्टर टीके—अन्तिम टीके के 7 वें और 14वें दिन पर लगाये जाते हैं।			

टीके अधिकांशतः पेट की मांसपेशियों में लगाये जाते हैं। टीके के दिनों मे तथा एक माह बाद तक मद्यपान वर्जित रखना होता है।

इन दिनों ह्यूमन डिप्लोइड सेल्स (Human Diploid Cells) पर तैयार किया गया वैक्सीन प्रयोग में लाया जाने लगा है। यह वैक्सीन रेबीज वाइरस के निष्क्रिय उपभेद (*Strain*) से फ्रांस व अमेरिका में व्यावसायिक रूप से तैयार होने लगा है; लेकिन फिलहाल अपेक्षाकृत अधिक महँगा होने से सार्वजनिक रूप से काम में नहीं लाया जा सका है। कीमत प्रति डोज (Dose) लगभग 290 से 300 रुपये तक की है लेकिन है बड़ा ही प्रभावी और सामान्यतया केवल 3 टीके अति ही अल्प मात्रा 0·1 ml. में लगाने की आवश्यकता होती है।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—रोगी होने की सूचना स्वास्थ्य अधिकारियों को देनी चाहिये।

पृथक्करण—रोग अवधि में एकान्त व तेज रोशनी रहित कमरे में पृथक्करण करना होता है—अच्छा हो अस्पताल ही में किया जाय—जहाँ परिचर्या ठीक हो सके।

विसंक्रमण—समकालिक-रोगी की लार व उससे संदूषित वस्त्रों को जलाना ही उचित होता है। रोगी की परिचर्या करने वाले व्यक्ति को रबड़ के दस्ताने पहने रहना श्रेयस्कर होता है।

अन्तिम—कोई आवश्यकता नहीं।

संगरोध—आवश्यक नहीं—सम्पर्क मे आये व्यक्तियों को कोई टीका लगाने की आवश्यकता नहीं।

आवारा कुत्ते—मरवा देना ही उचित है। नगरपालिकाओं को समुचित कार्यवाही करनी चाहिये।

पालतू कुत्ते—सब पालतू कुत्तों का रजिस्ट्रेशन करना और उनके लिये लाइसेन्स देना वांछनीय है। उनका यथासमय वैक्सीनेशन करना आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति अपने कुत्ते को किसी अन्य देश से स्वदेश लाता है, और वह वैक्सीनेट किया हुआ नहीं है, तो उसे निर्धारित अवधि तक संगरोध में रखा जाता है और उसे वैक्सीनेट किया जाता है। संगरोध की यह अवधि इंगलैण्ड में 6 माह की है। यदि पालतू कुत्तों को सार्वजनिक स्थानों पर ले जाना हो, और वह उग्र प्रकृति के हों तो उनके मुँह पर जाली बाँधना उचित होता है।

जन सम्पर्क—विविध माध्यमों से जनता को इस रोग के प्रतिरोधात्मक उपायों से अवगत करना वांछनीय होता है।

टेटनस (Tetanus)

यह एक विश्वव्यापी रोग है जो वेसीलस टेटनस-क्लोस्ट्रीडियम टेटनाई-या उसके स्पोर से उत्पादित होता है और इसका संक्रमण चोट लगे क्षत या छिद्रित स्थल पर संदूषित मिट्टी या पशुमल अथवा खाद के सम्पर्क से होता है। रोग जीवाणु अधिकांशतः पशुओं में या कुछ अंशों में मानव आँतों मे रहते है जहाँ वे कोई रोग पैदा नही करते किन्तु यदि वस्तु-स्थिति मे या स्पोर के रूप मे, क्षतिग्रस्त त्वचा में प्रवेश पा लेते है, तो तन्त्रिका-तन्त्र मे पहुँचकर रोग उत्पन्न करते हैं। टेटनस विश्वव्यापी रोग है पर अधिकांशतः इसका प्रसार ऊष्णकटिबन्ध देशो में—विशेषकर विकासशील देशों मे अधिक है। शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में और विशेषतया किसान एवं श्रमिक वर्ग के लोगों में अधिक होता है। 5 वर्ष से ऊपर की उम्र के बालको मे भी खेल मे चोट आदि लगने के कारण टेटनस हो जाता है। महिलाओं में वैसे तो चोट आदि की सम्भावना कम होने से यह रोग कम ही होता है, पर प्रसव के समय, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रो मे गन्दगीपूर्ण वातावरण में अप्रशिक्षित दाइयो द्वारा कराये गये प्रसवों में अधिक हो सकता है, और नवजात शिशुओ मे भी गन्दे उपकरणों से नाभिनाल काटने से, या गन्दी पट्टी आदि बाँधने से। चूँकि जीवाणु-स्पोर-धूलि (dust) में भी विद्यमान रहते हैं और हवा द्वारा वाहित होते रहते है, अतः कभी-कभी यथोचित सावधानी रखने पर भी ऑपरेशन कक्षों में ये प्रवेश पा सकते हैं और व्यक्ति (मरीज) के ऑपरेशन स्थल को संदूषित कर सकते हैं। इन्जेक्शन लगाने पर या कैटगट (Cat-gut) से टांके लगाने पर भी इस रोग का संक्रमण होना पाया गया है।

रोगजनक जीवाणु—जैसा ऊपर उल्लेखित है।

आगार—जैसाकि ऊपर बताया गया पशु-या मानव। पशुओं में अधिकतर जानवर-घोड़े, गाय, बैल आदि अपने मल द्वारा रोगाणु या उसके स्पोर निष्कासित करते हैं और इनसे मिट्टी, खाद, या धूलि संदूषित होकर रोगाणु आगार बनती है।

प्रसार—जैसाकि ऊपर उल्लिखित है। कई बार चोट लगने का विवरण नहीं मिलता—त्वचा क्षति का भी स्पष्ट विवरण नही मिलता—हो सकता है रोगी को भान ही न हुआ हो या सुई आदि चुभने की साधारण सी घटना का उसे ध्यान ही न रहा हो।

उद्‌भवन काल—सामान्यतया 4 से 10 दिन। अधिक से अधिक 28 दिन भी हो सकता है।

संक्रामक अवधि—रोगी से स्वस्थ व्यक्ति को संक्रमण नही होता।

लक्षण—रोग जीवाणु ऐक्सोटॉक्सिन पैदा करते हैं जो तन्त्रिकाओ को प्रभावित करते है जिसके कारण मांसपेशियों में सकुचन होता है और उसके साथ-साथ दर्द भी। सर्वप्रथम जबड़े की मासपेशियों से सकुचन (Contraction) होता है जिससे रोगी मुँह नही खोल पाता। उसके बाद गर्दन, कमर व पेट की मांसपेशियो में ऐंठन (Spasms) होने लगते है। रोगी का शरीर बहुधा धनुषाकार हो जाता हैं और समुचित उपचार के अभाव मे मृत्यु हो जाती है। मृत्यु-दर लगभग 50% से 80% की होती है।

प्रतिरक्षण—जैसाकि डिफ्थीरिया मे बताया गया था, बचपन ही में डिफ्थीरिया व टेटनस टॉक्सोइड व पर्ट्यूसिस वैक्सीन का सम्मिलित टीका लगाया जाता है। मात्रा, टीके लगाने का समय एवं संख्या का पूर्व में वर्णन किया जा चुका है। इसके उपरान्त, जब भी चोट लगे और उसमे धूलि व खाद युक्त मिट्टी का दूपण हो, या कोई व्यक्ति जल गया हो, तो टेटनस टॉक्साइड (A.P T.)का फिर से 0·5 ml. और चार सप्ताह बाद फिर 0.5 ml का टीका लगाया जाता है। कुछ समय पूर्व इन परिस्थितियों में केवल ऐण्टि-टेटनस-सीरम का 1500 से 3000 यूनिट्स का निष्क्रिय रोग-निरोध क्षमता उपार्जन हेतु टीका लगाया जाता था, पर अब टॉक्साइड का टीका ही लगाते हैं जिससे विशिष्ट सक्रिय रोग-निरोध-क्षमता उपार्जित हो सके। यदि चिकित्सक उपयुक्त समझें तो साथ ही अतिरिक्त बचाव के लिए सीरम का टीका भी लगा देते हैं। आजकल पेनिसिलिन का टीका भी अतिरिक्त रूप में लगाया जाता है। गर्भवती महिलाओं को गर्भ के16–36 सप्ताहों में टेटनस टॉक्साइड का एक टीका और पूर्व में यदि यह टीका न लगा हो तो 2 टीके निर्धारित मात्रा में लगाये जाते हैं।

बचपन मे लगे टीकों व चोट लगने पर लगाये जाने वाले टीको के अतिरिक्त फौजी जवानों, दमकल जवानों, पुलिस सिपाहियों, चोट लगते रहने वाले धन्धो में काम करने वाले श्रमिकों आदि को टॉक्साइड का टीका हर पाँचवें वर्ष में लगाना श्रेयस्कर होता है। फौजी जवानों को तो यह नियमित रूप से लगाया ही जाता है।

प्रतिरोधात्मक उपाय—

अधिसूचना—टेटनस विज्ञाप्य सूची में नहीं है।

पृथक्करण—आवश्यक नही।

विसंक्रमण—आवश्यक नही।

संगरोध—आवश्यक नहीं—सम्पर्क में आये व्यक्तियों को भी कोई टीका लगाने की आवश्यकता नही।

सबसे महत्वपूर्ण प्रतिरोधात्मक उपाय तो निर्धारित समय पर बचपन ही में प्रतिरक्षात्मक टीके लगवाना है और बाद में भी उस श्रेणी के व्यक्तियों को जिन्हें चोट लगने का खतरा रहता है—जैसाकि ऊपर बताया गया, रोगी का तुरन्त उपयुक्त उपचार करना होता है जिसमें टेटनस एण्टि टॉक्सीन सीरम का उपचार प्रमुख स्थान रखता है। इसमे देर होने पर मृत्यु का भय रहता है।

III सीधे सम्पर्क से फैलने वाले मुख्य-मुख्य रोग

कुष्ठ रोग (Leprosy)

यह एक अत्यन्त ही मन्द गति से फैलने वाला छूत का रोग है जो बेसीलस-माइको-बेक्टीरियम लेप्रे (Mycobacterium Leprae) द्वारा उत्पादित होता है। सदियों पूर्व यह रोग भयंकर छूत का रोग माना जाता था। कुष्ठ रोगियो का सामाजिक बहिष्कार किया जाता था तथा उन्हे सख्ती से अलगाव की बस्तियों में रखा जाता था, जबकि वस्तु स्थिति ऐसी नही है। छूत लगती है पर काफी लम्बे समय के सम्पर्क से और यह भी अधिकाश छोटी उम्र के बालकों को। आज तो रोगी को अपने ही घर पर रहने दिया जाता है और उसका गृह इलाज किया जाता है, लेकिन संक्रामक रोगियों के बालकों को उनसे अलग रखने का प्रबन्ध कर दिया जाता है।

हालांकि यह एक विश्वव्यापी रोग है पर बहुत से विकसित पश्चिमी देशों मे इसका प्रभाव अब नगण्य ही है। अधिकांशत: इसका प्रसार इन दिनों भारत, चीन, पूर्वी एशिया, अफ्रीका व दक्षिण अमेरिका मे है। विश्व में लगभग दो करोड रोगी अनुमानित किये जाते हैं जिनमें से भारत में लगभग 28 लाख 92 हजार (march 1984) है। कुल मिलाकर भारत मे प्रसार दर 5 रोगी प्रति हजार आबादी की है। अधिक प्रभावित प्रान्त हैं—तमिलनाडू, आंध्र प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, महाराष्ट्र, कर्नाटक, आसाम एवं उत्तर प्रदेश का तराई भाग। शुष्क जलवायु के प्रान्तों में रोग का प्रसार बहुत कम है जैसे राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र आदि। महिलाओं की अपेक्षा पुरुषो में इसका प्रसार अधिक है। अधिकाश संक्रमण बचपन ही मे होता है पर कभी-कभी बड़ी उम्र में भी होना पाया गया है। गरीब वर्ग के लोगों में, अधिक जनवास के आवासों मे, व्यक्तिगत स्वच्छता के अभाव में, व रोगी के वस्त्रों के प्रयोग आदि से रोग का प्रसार अधिक होता है।

रोगजनक जीवाणु—उपर उल्लिखित हैं।

आगार—केवल रोगी मानव।

प्रसार—रोगी के लम्बे सम्पर्क से। लेप्रोमायुक्त कुष्ठ के रोगी अधिक संक्रामक होते हैं। रोग जीवाणु उनके त्वचा-विक्षति (Lesions) व नाक, मुंह, प्रसनी आदि

से निकले आस्रावों मे रहते हैं। अन्य लोगों में संक्रमण अधिकतर संरोपण द्वारा ही होता है, लेकिन चूंकि रोग-जीवाणु नाक-मुँह आदि से निकले आस्राव में भी होते हैं अत: यह धारणा भी की जाती रही है कि सक्रमण बिन्दुक माध्यम से भी हो सकता है; लेकिन इस धारणा पर कोई स्पष्ट मर्तक्य नहीं है। यदि बिन्दुक माध्यम से प्रसार होता तो अधिकांश कुष्ठ रोग अस्पतालों व आश्रयालयों में काम करने वाले डाक्टरों, नर्सो व अन्य कर्मचारियों को भी कुछ न कुछ संक्रमण अवश्य होता, पर ऐसा होता नहीं है। अतः संरोपण द्वारा लम्बे समय के सम्पर्क से रोग-प्रसार का होना ही अधिक युक्तिसगत है।

उद्भवन काल—सामान्यतया 2 से 5 वर्ष।

संक्रामक अवधि—जब तक रोगी के त्वचा व श्लेष्मकला पर उभरे विक्षत व्रणों से जीवाणु निष्कासन बन्द न हो जायें। इन दिनों के औषध उपचार से यह अवधि काफी घट गई है।

लक्षण—लाक्षणिक दृष्टि से इस रोग का कई तरह से वर्गीकरण किया गया है पर हम केवल भारतीय वर्गीकरण को ही प्रस्तुत करेंगे जो निम्न रूप से है :—

(1) लेप्रोमायुक्त कुष्ठ (Lapromatous Leprosy)
(2) अलेप्रोमायुक्त कुष्ठ (Non-Lapromato us Leprosy)
    (a) असंवेदी (Anaesthetic/maculo-anaesthetic)
    (b) गुलिकाभ (Tuberculoid)
    (c) बहुतन्त्रिकाशोथी (Polyneuritic)
(3) सीमास्पर्शी (Border-Line Leprosy), और
(4) अनिर्धारित (Indeterminate Leprosy)

लेप्रोमायुक्त कुष्ठ रोग में त्वचा, श्लेष्मकला, तन्त्रिका, लसीका ग्रन्थियाँ (Lymph Glands) व अन्य आन्तरिक अवयवों मे जीवाणुओं का प्रसार हो जाता है। मुँह व शरीर के अन्य भागो पर गुलिकायें (गांठें) उभर आती है जिनमे जीवाणु विद्यमान रहते हैं। शकल-सूरत कुछ कुरूप हो जाती है। ऐसे रोगी सक्रामक होते हैं। भारत में ऐसे रोगियो की संख्या लगभग 25% है।

अलेप्रोमायुक्त कुष्ठ रोग मे (a) प्रथम असवेदी भेद के रोगी होते है जिनकी त्वचा पर चकत्ते उभर आते हैं और उनमें लाल-लाल मेक्यूलर ढङ्ग के छोटे-छोटे दाने उभर आते हैं किन्तु इन चकत्तो मे स्पर्श या ठण्डे गरम की संवेदना नही रहती। अधिकाशतः ये रोगी सक्रामक नही होते (b), समयान्तर मे ये चकत्ते आकार में बढ़ जाते हैं, सख्त एवं स्थूल हो जाते हैं, इनके किनारे उभरे हुये और स्पष्ट सीमा के दिखाई देने लगते हैं और इनमें सवेदना और भी कम हो जाती है। रोग का यह भेद गुलिकाभ भेद कहलाता है। (c) धीरे-धीरे तन्त्रिकायें प्रभावित होने लगती हैं—विशेपकर हाथ-पाँवों की तन्त्रिकाएँ—जो सख्त और स्थूल होती जाती हैं। कोहनी

पर की अलनर तन्त्रिका (Ulner nerve) को छू कर देखने से उसके सख्त एवं स्थूल होने का स्पष्ट भान हो पाता है। तन्त्रिकाओं के प्रभाव क्षेत्र में संवेदनहीनता और भी अधिक बढ़ने लगती है, जिससे हाथों, पांवों एवं अंगुलियों आदि में चोट लगने, जल जाने आदि का बोध नहीं हो पाता और ये अङ्ग क्षतिग्रस्त रहने लगते हैं। इस भेद को बहुतन्त्रिकाशोथीय कुष्ठ कहते हैं। समयान्तर में हाथ-पांव की अंगुलियां क्षत-विक्षत होने लगती है और टूट-टूट कर गिरने लगती हैं व नाक भी धस जाता है। यह भेद भी संक्रामक नहीं होता।

सीमास्पर्शी— उपर्युक्त दोनों भेदों के बीच की अवस्था होती है, और

अनिर्धारित—भेद में किसी श्रेणी के विशिष्ट चिन्ह स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो पाते। अधिकांशतः यह प्रारम्भिक अवस्था ही होती है। समयान्तर में यह लेप्रोमायुक्त या अलेप्रोमायुक्त श्रेणी में परिवर्धित हो जाती है।

प्रतिरक्षण—कोई विशिष्ट टीका नहीं है। बी. सी. जी. का टीका नेगेटिव लेप्रोमिन प्रतिक्रिया को पोजिटिव में अवश्य परिवर्तित करता है पर इससे कोई रोग-निरोध-क्षमता उपार्जित हो पाती है या नहीं, यह प्रमाणित हो नहीं पाया। लेप्रोमिन टेस्ट, ट्यूबरक्युलिन टेस्ट की भांति ही किया जाता है और यदि यह पोजिटिव होता है तो प्रतिरोधात्मक क्षमता का भान कराता है। वैसे सम्पर्कित बच्चों व व्यक्तियों में रोग-निरोध-क्षमता नियमित मात्रा में सल्फोन (Sulphones) औषधियों के सेवन ही से उत्पादित की जाती है।

प्रतिरोधात्मक उपाय—मुख्य उपाय रोगियों की ढूंढ़-तलाश और उनका विधिवद् उपचार करना ही है। असक्रमी रोगियो का इलाज बिना किसी पृथक्करण के घर पर ही किया जाता है, और संक्रमी रोगियो का आवश्यकतानुसार घर पर या कुष्ठ-रोग संस्थाओ मे। रोगियों की तलाश के लिये सम्यक् सर्वेक्षण और उपचार के लिये समुचित व्यवस्था करने हेतु भारत सरकार ने राष्ट्रीय-कुष्ठ-नियन्त्रण कार्यक्रम द्वितीय पचवर्षीय योजना में लागू किया था और प्रभावित प्रान्तों मे कुष्ठ-नियन्त्रण-केन्द्रों की स्थापना की थी। प्रत्येक कुष्ठ-नियन्त्रण-केन्द्र मे एक चिकित्सक और 20 स्वास्थ्य कर्मचारियो की, प्रति तीन लाख आबादी के अनुपात मे, नियुक्ति की गई थी। ये केन्द्र रोगियों की ढूंढ-तलाश और गृह उपचार का विधिवद् कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त प्राथमिक-स्वास्थ्य केन्द्रो मे भी प्रति 10,000 की आबादी पर एक स्वास्थ्य कर्मचारी की नियुक्ति की गई है जो रोगियों के गृह उपचार में समय पर दवाइयां वितरित करने और रोगियो के नियमित दवाइयां खाते रहने की निगरानी रखता है। मुख्य दवाई डाई-एमाइनोडाई-फिनाइल-सल्फोन है—D.D.S. (Di-amino-diphonyl Sulphone) जो सप्ताह मे एक या दो बार निर्धारित मात्रा मे खिलाई जाती है और रोगी की श्रेणी के अनुपात में 5, 10 वर्ष या इससे भी अधिक समय तक खिलानी होती है।

इस इलाज से अधिकांश रोगी लगभग 4 माह में असंक्रमी हो जाते हैं, तब पृथक्करण की आवश्यकता नहीं रहती। गृह-पृथक्करण में रोगी को यथा-सम्भव एकान्त में रखा जाता है; उसके बर्तन, वस्त्र आदि को अलग ही रखते हैं और यथाविधि विसंक्रमित करते हैं। बच्चों को उनसे अलग रखना होता है। यदि बच्चे किसी रिश्तेदार के यहाँ रखे जा सकें तो उत्तम, अन्यथा उन्हें किसी आवासीय संस्था में प्रविष्ट करना उपयुक्त होता है और उनका निरोधात्मक उपचार—सल्फोन—औषधि से निर्धारित मात्रा में सेवन कराकर करना होता है।

कुष्ट निवारण के लिये भारत में कई स्वयं-सेवी-संस्थाएँ भी कार्य कर रही हैं जिनमें प्रमुख हैं—(1) हिन्द कुष्ठ निवारण संघ, दिल्ली. (2) गांधी स्मृति संस्थान वर्धा, (3) गाधी स्मारक निधि, दिल्ली (4) रामकृष्ण मिशन, बेलूर (5) जापानी मिशन कुष्ठ केन्द्र, आगरा आदि।

अन्य उपाय—सम्यक् जन सम्पर्क और कुष्ठ सम्बन्धी सभी आवश्यक जानकारी का प्रचार, मिथ्या धारणाओं का निराकरण, रोगियों के प्रति हीन एवं तिरस्कृत भावनाओं का निराकरण—जिससे रोगियों की ढूंढ़-तलाश में सुविधा हो और यथा-सम्भव रोगी व्यक्ति का वन्ध्याकरण आदि करने का प्रयास भी करना चाहिये।

स्केविईज् (Scabies)

यह एक सम्पर्क-जनित छूत की बीमारी है, जो अधिकांशत: पारिवारिक सदस्यों मे होती है। यदि परिवार के किसी एक सदस्य को यह रोग हो जाता है तो अन्यो को भी सीधे सम्पर्क से या रोगी के वस्त्रों को काम में लाने से फैल जाता है। यह रोग सार्कोप्टेस स्कैबिआइ नामक माइट द्वारा उत्पादित होता है। अधिकाश बच्चों में साथ खेलने, साथ सोने आदि से यह रोग अधिक फैलता है, पर बड़ों को भी यह सम्पर्क से हो सकता है। गरीब वर्ग के लोगों में—व्यक्तिगत सफाई के अभाव में और अधिक जनवास के आवासों में रहने वाले लोगो मे—अपेक्षाकृत यह अधिक प्रसारित होता है। दोनो लिङ्गो के व्यक्तियों में समान रूप से ही होता है। वैसे यह एक विश्वव्यापी रोग है पर जहाँ व्यक्तिगत स्वच्छता एव सार्वजनिक स्वच्छता तथा हाईजीन का स्तर ऊँचा है, वहाँ इसका आवटन अत्यन्त ही नगण्य हो गया है।

रोग-कारक जन्तु—ऊपर उल्लिखत है।

आगार—मानव-रोगी व्यक्ति।

प्रसार—रोगी व्यक्ति के सीधे सम्पर्क से या उसके संदूषित वस्त्रों के प्रयोग से। माइट रोग कैसे फैलाती है इसका वर्णन अध्याय 7 में किया जा चुका है।

उद्भवन काल—कई दिन या सप्ताह।

संक्रामक अवधि—जब तक रोगी के प्रभावित अङ्गों पर माइट, उसके अण्डे या निम्फ रहते हैं।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नहीं है। केवल व्यक्तिगत सफाई की आवश्यकता है।

प्रतिरोधात्मक उपाय—

अधिसूचना—देना हितकर होता है—विशेषकर यदि रोग स्कूली बच्चों में या आवासीय संस्थाओं में फैलता है।

पृथक्करण—विशेष महत्व का नहीं है। केवल रोगी को माइट मुक्त करना होता है जिसके लिये 25% बेन्जाइल बेन्जोएट, 5% टैटमोसोल (Tetmosol) घोल या गन्धक मरहम का प्रयोग करना होता है। प्रयोग-विधि अध्याय 7 मे वर्णित है।

विसंक्रमण—समकालिक—रोगी के वस्त्रों को उबाल कर साफ करना होता है।

अन्तिम—आवश्यक नहीं।

संगरोध—आवश्यक नहीं। सम्पर्कित व्यक्तियों की तलाश और समुचित उपचार आवश्यक है। माइट शरीर के कौन-कौन से अंगो पर अपना आवास बनाती है और खुजली आदि के लक्षण पैदा करती है, इसका वर्णन भी अध्याय 7 में किया जा चुका है।

दद्रु या दाद (Ring worm)

दद्रु या दाद अधिकांशतः बाल, त्वचा, नाखून या पांवों की अंगुलियों के बीच मे होता है। सिर के बालों और दाढ़ी मे होने वाले दाद को टीनिया केपिटिस (Tenea Capitis) कहते है। सिर, दाढ़ी व पांवो की अगुलियो के बीच त्वचा को छोड़कर शरीर के किसी भी भाग की त्वचा पर जब यह रोग होता है तो टिनिया कोरपोरिस (Tinea Corporis) कहलाता है; पांवो की अगुलियो के बीच में होने वाला टीनिया पेडिस (Tinea Pedis) और नाखूनों पर होने वाला टीनिया अन्गुवियम (Tinea Unguium) कहलाता है। ये सभी किस्म के दाद फंगस द्वारा उत्पन्न होते हैं जिनके मुख्य भेद माइक्रोस्पोरम व ट्राइकोफाइटोन (*Microsporum& Trichophyton*) हैं। इन भेदो मे भी अलग-अलग उपभेद हैं, पर इनके विस्तार मे न जाकर केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि माइक्रोस्पोरम जहाँ बच्चो मे सिर का दाद पैदा करते हैं—बालों का—वहाँ ट्राइकोफाइटोन शरीर के अन्य स्थानो पर दाद पैदा करते हैं।

दाद एक विश्वव्यापी फंगस सक्रमण है जो कहीं भी किसी को भी हो सकता है। टी. केपिटिस जहाँ बच्चो मे अधिक होता है, वहाँ अन्य प्रकार के टीनिया वयस्को मे अधिक होते हैं; और महिलाओं की अपेक्षा पुरुष मे अधिक।

रोगजनक सूक्ष्म जीव—जैसे कि ऊपर वर्णित है।

आधार—रोगी व्यक्ति और कुत्ता, बिल्ली, गाय आदि।

प्रसार—सीधे सम्पर्क से या रोगी की सदूषित वस्तुओं के प्रयोग से जैसे वस्त्र, टोपी, कघी, तौलिये और क्षौर ब्रुश, नाई की कैंची, उस्तरा आदि।

उद्भवन काल—10–14 दिन

संक्रामक अवधि—जब तक रोगी को दाद रहे।

लक्षण—टीनिया केपेटिस—प्रारम्भ छोटे-छोटे मेक्यूलर दानों से होता है जो गोलाकार फैलते जाते हैं और प्रभावित क्षेत्र के बाल सूख जाते हैं, बेलोच हो जाते हैं, और गिर जाते हैं जिसके फलस्वरूप गंजापन हो जाता है। टीनिना कारपोरिस में मेक्यूलर दानों की गोल-गोल कड़ियाँ सी उभर आती है जो अपनी परिधि से आगे ही आगे बढती जाती हैं और बीच का स्थल सूख कर पपड़ी-सा बन जाता है। खुजली भयंकर रूप से होती है —विशेषकर रात्रि में। टीनिया पेडिस में पाँवों की अंगुलियों के बीच-बीच में पपड़ी जमने लगती है, चमड़ी फट जाती है, कभी-कभी वेसिकल्स बन जाते हैं जिनके फटने पर पानी निकलता है और काफी खुजली होती है। नाखूनों के दाद मे नाखून स्थूल आकार के हो जाते हैं, मैले रग के हो जाते है, और बेलोच होकर टूटने लगते है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही।

प्रतिरोधात्मक उपाय—

अधिसूचना—आवश्यक नही। यदि स्कूल या अन्य आवासीय संस्थाओं मे अधिक रोगी हो तो स्वास्थ्य अधिकारियो को सूचित करना हितकर होता है।

पृथक्करण—साधारण तौर पर आवश्यक नही। व्यावहारिक भी नहीं है। पर रोगी व्यक्तियो को अखाड़ों, व्यायाम-शालाओं व तरण-तालो मे व्यायाम व तैराकी सम्बन्धी गतिविधियो से अलग रखना ही हितकर होता है।

विसंक्रमण—समकालिक-रोगी के वस्त्र उबाल कर साफ करना वांछनीय है और उसकी अन्य वस्तुओं को भी। यथा-सम्भव उसकी सक्रमी वस्तुओ को दूसरे लोग काम में न लावें। अन्तिम—आवश्यक नही।

संगरोध—सर्वेक्षण एवं उपचार—सगरोध आवश्यक नही है पर यदि कोई रोगी बच्चे या व्यक्ति ऐसे रह जायें जिनका पता नही लग पाया है तो उनकी तलाश अवश्य करनी चाहिये—विशेषकर स्कूली बच्चों मे—और उनका उचित उपचार करना चाहिये। उपचार में सेलिसिलिक एसिड के बने मरहमो का प्रयोग किया जाता है।

ट्रैकोमा (Trachoma)

यह आँखों के श्लेष्मकला (Conjunctiva) की छूत की बीमारी है और अधिकांशतः सीधे सम्पर्क से एवं सक्रमित वस्तुओं के प्रयोग से एक-दूसरे को फैलती है। इस बीमारी मे श्लेष्म-कला की शोथ होती है, उसमें कण बनने लगते हैं, कार्निया पर केशिकाएँ (Capillaries) बढ़ने लगती हैं जिससे पैनस (Pannus) बनने लगता है, और दृष्टि कम होने लगती है। आँखो की पलको मे क्षताकन (Cicatrization) होने से पलकें अन्दर की ओर मुड़ने लगती है और कार्निया को क्षतिग्रस्त करने लगती हैं, जिसके कारण अधिकांश लोगो में अन्धापन होने लगता है। यह एक विश्वव्यापी रोग है पर उष्ण-कटिबन्ध देशों में और शुष्क जलवायु के प्रदेशो में अपेक्षाकृत अधिक होता है। भारत मे आज भी लगभग 10 से 12 करोड़ व्यक्ति इससे आक्रान्त हैं और लगभग 4% इतने दृष्टिहीन हैं कि दो गज के फासले पर भी स्पष्ट देख नहीं पाते।

पंजाब, राजस्थान, हरियाणा एवं उत्तरप्रदेश मे लगभग 70%; गुजरात, आन्ध्रप्रदे मध्यप्रदेश, बिहार, आसाम आदि में 50% और अन्य प्रान्तो में लगभग 0·5 20% तक इसका प्रसार है। 1 से 10 वर्ष के बच्चों में इसका प्रसार अधिक है है किन्तु बाद में होने वाले प्रभाव बड़े लोगों में अधिक दिखाई देते हैं।

रोगजनक सूक्ष्म जीव—ट्रेकोमा वाइरस।

आगार—मानव-रोगी।

प्रसार—रोगी के आँखों से निकले आस्राव से—सीधे सम्पर्क द्वारा या रोगी की सक्रमित वस्तुओं—रूमाल, अंगोछे, तौलिये, तकिया गिला चद्दर आदि के द्वारा।

मक्खियाँ भी रोग प्रसार मे प्रमुख भूमिका निभाती हैं।

काजल, सुरमा लगाते समय एक ही सलाई या अगुली से अनेको बच्चे को काजल या सुरमा लगाने से।

तेज धूप, धूल भरी आँधियाँ, धुआँ आदि सहायक कारण बनते हैं।

प्रसार मार्च, अप्रैल, मई एवं अगस्त-सितम्बर महीनों में अधिक होते हैं। महिलाओ मे प्रसार कुछ अधिक ही होता है।

उद्‌भवन काल—5 से 21 दिन।

संक्रामक अवधि—जब तक रोग तीव्र स्थिति मे रहता है और आस्राव होता रहता है। क्षतांकन होने पर रोगी सक्रामक नही रहता।

लक्षण—अधिकाश ऊपर वर्णित किये जा चुके हैं फिर भी इतना और बता देना उपयुक्त होगा कि रोग के लक्षण सहसा या धीरे-धीरे प्रकट होते हैं। आँखो की श्लेष्मकला में शोथ होने लगती है आँखो से पानी गिरने लगता है,कार्निया के चारों ओर ललाई रहने लगती है। श्लेष्मकला मे छोटे-छोटे दाने उभर आते हैं जो ऊपरी पलक के भीतरी भाग में अधिक स्पष्ट दिखाई देते है। आँखों मे खुजली व खटकन होती रहती है – ऐसा लगता है जैसे रेती कण पड़े हुए हैं। इलाज के अभाव मे रक्त केशिकाएँ कार्निया पर फैलने लगती है जिससे दृष्टि कम होने लगती है। इस स्थिति को पँनस कहते हैं। धीरे-धीरे आँखो की पलकें स्थूल होने लगती हैं और भीतर की ओर मुडने लगती हैं जिससे पलको के बाल कार्निया पर रगड़ पैदा करते रहते हैं और जख्म भी फलस्वरूप कार्निया पर धीरे-धीरे दाग पडने लगते हैं उसकी पारदर्शिता कम होती जाती है और रोगी दृष्टिहीन होने लगता है।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नहीं है। रोगी का सम्यक् इलाज ही करना होता है।

प्रतिरोधात्मक उपाय

अधिसूचना—सूचना देना वांछनीय है पर भारत मे राष्ट्रीय ट्रेकोमा नियन्त्रण अभियान के अन्तर्गत सभी रोगी व्यक्तियों विशेषकर 10 वर्ष की उम्र तक के बच्चो का पंजीकरण और इलाज करना प्रारम्भ कर दिया गया है जिससे रोगियो और सम्पर्क में आये व्यक्तियों का स्वतः ही पता लगा लिया जाता है।

आगार—मानव-मरीज़

प्रसार—संक्रमी व्यक्तियों (रोगियों) के सम्पर्क में आने तथा उनकी आँखो से निकलने वाले आस्रावों से स्वस्थ आँखों में संदूषण हो जाने से। यह संदूषण हाथों से तथा वस्त्रों से जैसे रूमाल, तौलिये आदि से तथा मक्खियों के माध्यम से होता है।

उद्भवन काल—साधारणतया 24 से 72 घण्टे।

संक्रमण अवधि—जब तक रोगी पूर्णतया स्वस्थ एवं जीवाणु मुक्त नहीं हो जाता।

लक्षण—आँख से पानी गिरना, आँख में भारीपन व खटकन महसूस होना, लाली उत्पन्न होना, सूजन उभर आना, पलकों का चिपक जाना आदि।

प्रतिरक्षण—कोई टीका नहीं। रोगी का समुचित उपचार ही करना होता है।

प्रतिरोधात्मक उपाय

व्यक्तिगत स्वच्छता एवं आँखों की यथोचित देखभाल तथा बच्चों का उपयुक्त भरण-पोषण आवश्यक है। संक्रमण होने पर सम्यक् उपचार अनिवार्य है। अधिसूचना की आवश्यकता नहीं होती लेकिन यदि रोग स्थानिक या जानपदिक रूप से फैला हो तो यह सूचना स्वास्थ्य अधिकारियों को देना हितकर होता है। रोगी बच्चो को स्कूल से पृथक् रखना वांछनीय होता है। रोगी के वस्त्र विशेषकर उसके द्वारा प्रयुक्त रूमाल, तौलिये, चद्दर, तकिया-गिलाफ आदि को उबाल कर साफ करना तथा आँख से निकले आस्राव को रूई के स्वॉब में लेकर जला देना आवश्यक होता है। मक्खियों से आँखों का बचाव अत्यावश्यक होता है।

नवजात नेत्राभिष्यन्द (Opthalmia Neonatorum)

आँखों की यह बीमारी नवजात शिशुओं में प्रसव के समय, माता के जननेन्द्रियपथ में विद्यमान कतिपय रोगजनक सूक्ष्म जीवाणुओं के संक्रमण से उत्पन्न होती है और बच्चे के जन्म से लेकर 21वें दिन तक कभी भी उभर आती है। यह उग्र रूप की सम्पर्क-जनित बीमारी है।

रोगजनक सूक्ष्म जीवाणु—मुख्य रूप से सुजाक—गोनोरिया (Gonorrhoea) उत्पन्न करने वाले जीवाणु जिन्हें नाइसीरिया गोनोरी (Neisseria Gynorrhoea) या गोनोकोकस कहते हैं। इनके अतिरिक्त स्टेफिलोकोकस, मैनिंगोकोकस, डिफ्थीरोइड्स व एक प्रकार का वाइरस भी इसकी उत्पत्ति करते हैं।

आगार—मानव-माता का सदूषित जननेन्द्रिय-पथ।

उद्भवन काल—सामान्यतया 36 से 48 घण्टे।

संक्रमण अवधि—रोग की समाप्ति तक।

लक्षण—आँखों में सूजन, तीव्र ललाई तथा सपूय आस्राव (Purulent discharge) निकलने लगता है। पलकें आस्राव के चेप से चिपक जाती हैं। उपयुक्त

उपचार के अभाव में कार्निया पर व्रण उभर आते हैं जिससे अन्धापन हो सकता है।

प्रतिरक्षण—कोई उपाय नहीं।

प्रतिरोधात्मक उपाय

(i) प्रसव कराने वाले डॉक्टर, नर्स, मिडवाइफ, दाई आदि का यह दायित्व निर्धारित किया हुआ है कि प्रत्येक नवजात शिशु के नाक, मुँह, कान आदि की सफाई के साथ-साथ आँखों को साफ-विसंक्रमित रूई के गीले स्वॉब से सम्यक् सफाई करके दोनो आँखों मे 10% सल्फासीटामाइड (Sulphacetamide) सोल्यूशन की 2-2 बूँदें डाल दें। इससे पूर्व 10% (Silver nitrate) की बूँदें डाली जाती थी जिनका महत्त्व आज भी कुछ कम नहीं है। इसके उपरान्त भी यदि किसी शिशु को यह रोग हो जाता है तो इसका तुरन्त उपयुक्त उपचार अत्यावश्यक हो जाता है तथा इसकी अधिसूचना स्थानीय स्वास्थ्य अधिकारियों को देनी होती है।

(ii) गर्भावस्था में माता के प्रसव-पूर्व स्वास्थ्य निरीक्षण में रतिजरोग-विशेषकर सुजाक होने की सम्भावना का पूरा पता लगाना होता है और यदि यह रोग होना पाया जाता है तो इसका पूर्ण रूप से उपचार करना होता है।

(iii) पृथक्करण उपयुक्त उपचार के प्रारम्भ किये जाने के बाद भी जब तक आस्राव का आना बन्द न हो तब तक रोगी शिशु को अस्पतालों में या अन्यत्र भी अन्य शिशुओं या बालकों से पृथक् ही रखना होता है। आस्राव को रूई के स्वॉब में लेकर जला देना होता है।

(iv) उपयुक्त उपचार—चिकित्सक की देख-रेख में निर्धारित पेनिसिलिन सोल्यूशन की नियोजित समयान्तर से आँखो में बूँदें डाली जाती हैं और निर्धारित मात्रा में पेनिसिलिन के टीके भी लगाए जाते हैं।

रतिज रोग (Venereal diseases)

रतिज रोगों में जन-सम्पर्क जनित संचारी रोगों का समावेश है जो यौन-सम्बन्ध के परिणामस्वरूप फैलते हैं। असंयमित यौन-सम्बन्ध (Promiscuous Sexual Relations) इनके प्रसार का मुख्य माध्यम बनता है। वैवाहिक दाम्पत्य सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी संक्रामित व्यक्ति से यौन-सम्बन्ध स्वस्थ व्यक्ति को निश्चय ही संक्रमित कर देता है। विवाहित दम्पति में भी यदि किसी एक को रोग हो जाता है तो वह निर्बाध दूसरे को संक्रामित कर देता है। शहरी क्षेत्रों में, औद्योगिक नगरों में, बन्दरगाही क्षेत्रों में, श्रमिकों या शरणार्थी कैम्पों के आवासियों में अधिकांशतः यह रोग युवा वर्ग के असंयमी एवं अनैतिक आचरण के व्यक्तियों को हो जाते हैं। महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों में इनका प्रसार अधिकता से होता है-एक अनेक चरित्रहीन वेश्यागामी पुरुषों को संक्रामित कर देती है।

अभाव, असंयम तथा असामंजस्यपूर्ण दाम्पत्य सम्बन्ध इन रोगों के प्रसार में सहायक कारण सिद्ध होते हैं ।

रतिज रोगों में मुख्य हैं —

(i) उपदंश-सिफिलिस (Syphilis)

(ii) सूजाक-गोनोरिया (Gonorrhoea); और

(iii) शैंकराभ (Chancroid or Soft Sore)

इनके अतिरिक्त अन्य गौण महत्त्व के रोग हैं—

(iv) ग्रैनुलोमा इन्गिवनेल (Granuloma Inguinale) एवं

(v) लिम्फोग्रैनुलोमा वेनीरियम (Lymphogranuloma Venereum)

इनमें से हम केवल प्रथम दो रोगों–उपदंश और सुजाक–पर ही विचार करेंगे क्योंकि ये दो रोग जन-स्वास्थ्य के लिये विशेष खतरे का कारण बनते हैं । उपदंश जहाँ रोगी के स्वास्थ्य को विविध रूप से भारी क्षति पहुँचाता है तथा उसकी गर्भस्थित संतति की भी अधिकांश क्षति–मृत्यु कर देता है, वहाँ सुजाक बहुधा वन्ध्यापन पैदा करके संतति-अवरोध का कारण बन जाता है ।

उपदंश

-यह एक विश्वव्यापी रोग है । भारत में इसका प्रसार ऊपर उल्लिखित क्षेत्रों के अतिरिक्त हिमाचल प्रदेश, कुलू घाटी, जम्मू-कश्मीर व उत्तर प्रदेश के उत्तरी पहाड़ी क्षेत्रों में अधिक है ।

रोगजनक सूक्ष्म जीवाणु—स्पाइरोकीटा-ट्रेपोनीमा पैलिडम (Spirochaeta-Traponema Pallidum)

आगार—मानव

प्रसार—संक्रमण-मुख्यतया गुप्तांगों पर उभरे प्राथमिक विक्षति (Lesion) के चेप से, यौन-सम्बन्ध के दौरान होता है । उपचार के अभाव मे गर्भवती माता के रक्त मे विद्यमान सूक्ष्म जीवाणु अपरा (Placenta) में होकर गर्भस्थित बालक मे चौथे माह के बाद कभी भी प्रसारित हो सकते हैं । द्वितीयक अवस्था के रोगियों मे यदि उनके होठों पर रोग चित्तियां उभर आई हो तो वे नन्हें-मुन्नों को प्यार करते समय चुम्बन आदि के जरिये–संक्रमण प्रसारित कर सकते हैं ।

उद्भवन काल—10 से 40 दिन–सामान्यतया 3 सप्ताह

लक्षण—प्राथमिक अवस्था–संक्रमण के लगभग 3 सप्ताह बाद गुप्तांगों पर प्राथमिक विक्षति-प्राथमिक शैंकर (Primary Chancre) एक छोटा-सा पेप्यूल श्रेणी का दाना उभर आता है जो धीरे-धीरे बढता है और छोटी-सी गिरटी या गांठ का आकार ले लेता है । कुछ ही समय मे यह कटाव लेकर एक सख्त व्रण का रूप धारण कर लेता है । इसमें कोई विशेष दर्द या पीड़ा नही होती । इसके कारण रानों की लसिका-ग्रन्थियों में शोथ अथवा वर्धन हो जाता है । इसमें से निकलने वाला चेप

प्रतिरक्षण—कोई टीका नही।

प्रतिरोधात्मक उपाय—

(i) अधिसूचना—अनिवार्य तो नही है पर वांछनीय अवश्य है जिससे रोगी के सम्पर्क में आये व्यक्तियों तथा अन्य रोगियों के समुचित सर्वेक्षण से ढूँढ़-तलाश की जा सके और उनका यथोचित उपचार किया जा सके।

(ii) वेश्यावृत्ति तथा अवैध अनैतिक व्यापार पर सामाजिक एवं शासकीय प्रतिबन्ध कड़ाई से लागू किये जाय। यदि वेश्यावृत्ति पर किसी कारणवश पूर्ण प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सके तो वेश्याओं का पूर्ण पंजीयन किया जाकर उनका समय-समय पर डॉक्टरी परीक्षण तथा आवश्यकतानुसार उनके उपचार आदि की सम्यक् व्यवस्था की जाय।

(iii) गर्भवती महिलाओं की पूर्व प्रसव की अवस्था में डॉक्टरी देखभाल, सम्यक् परीक्षण एवं उपयुक्त उपचार किया जाय ताकि जन्मजात रोग की विषमताओं का समय रहते प्रतिकार किया जा सके।

(iv) युवा वर्ग को वांछित नैतिक शिक्षा, यौन शिक्षा, सदाचारिता और संयमशीलता सम्बन्धी शिक्षा दी जाय।

(iv) रतिज रोगों के तुरन्त निदान की सहज व्यवस्था की जाय और इलाज की सुव्यवस्था भी—आवश्यकतानुसार प्रभावित क्षेत्रों में रतिज रोग-क्लिनिक्स व भ्रमणशील इकाइयों की स्थापना से की जाय और इन रोगों से बचने की सम्यक् जानकारी प्रभावशील जनसम्पर्क द्वारा दी जाय।

(vi) लोकलाज के कारण इन रोगो को छिपाने और समय पर उपचार न कराने की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रभावशाली प्रचार किया जाय।

(vii) पृथक्करण एवं संगरोध की आवश्यकता नही है।

(viii) विसंक्रमण अधिक महत्त्व का नहीं है। हाँ, ऐसे रोगी जिनमें आस्राव प्रवाहित होते हों उनका समकालिक विसंक्रमण वांछित होता है। आस्रावों को स्वाब में लेकर जला देना चाहिये।

(ix) विशिष्ट उपचार—पेनिसिलिन का विविध रूप मे तथा निर्धारित मात्रा में उपयोग किया जाता है। यह उपचार चिकित्सक द्वारा किया जाना चाहिए नहीं तो लाभ के स्थान पर अधिक हानि होने का डर रहता है।

सुजाक गोनोरिया

यह एक विशिष्ट संचारी रोग है जो संक्रामित व्यक्ति के साथ यौन-सम्बन्ध के फलस्वरूप फैलता है। यह विश्वव्यापी रोग है तथा उन सभी परिस्थितियों व क्षेत्रों में प्रसारित होता है जिनमें कि उपदंश सम्भव होता है।

रोगजनक सूक्ष्म जीवाणु—नाइसीरिया गोनेरी या गोनोकोकस।

आगार—मानव-गुप्ताङ्गो की श्लेष्मकला पर पनपे विक्षति के चेप ो संक्रमण होता है।

उद्भवन काल—3 से 9 दिन

प्रसार—सर्वश· सम्भोग के फलस्वरूप । नवजात बच्चो मे संक्रमित माता के जननेन्द्रिय पथ से सक्रमण हो.जाता है । आँखो में होने से नेत्राभिष्यन्द (Opthalma Neonatorum) हो जाता है जिसका वर्णन पूर्व मे किया जा चुका है।

संक्रमण अवधि—महीनों या वर्षो तक, यदि उपयुक्त उपचार नहीं किया जाय ।

लक्षण—*संक्रमण के 3 से 9 दिन के अन्दर-अन्दर लक्षण प्रकट होने लगते हैं ।* पुरुषो में मूत्रनली की शोथ और इसके फलस्वरूप पेशाब करते समय जलन व दर्द होता है । मूत्रनली मे से सपूय आस्राव निकलने लगता है, तात्कालिक उपचार के अभाव मे प्रोस्टेट (Prostate) व एपिडिडीमिस (Epididymis) आक्रान्त होते हैं जिसमे इन अवयवो की शोथ व क्षति होती है और कालान्तर में व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति के योग्य नही रहता—उसमें नपु सकता हो जाती है । इसके अनन्तर-उपद्रव के रूप मे-अन्तर्हृद् शोथ (Endocarditis) व सधिशोथ (Arthritis) भी हो जाया करता है । महिलाओ मे योनि, गर्भाशयग्रीवा व मूत्रनली की शोथ होती है जो कभी-कभी इतनी साधारण-सी होती है कि इसकी अनुभूति भी नहीं हो पाती लेकिन इस विकारीय स्थिति मे इन अवयवो से निकलने वाले आस्राव या चेप भारी संक्रमण प्रसारित करने की स्थिति मे होते है। कुछ समय बाद गर्भाशय के भीतरी भाग मे तथा डिम्बवाहिनी नलियो मे सक्रमण पहुँच जाता है जिससे इन अवयवों की शोथ हो जाती है और फलस्वरूप डिम्बवाहिनी नलियो में स्थायी रुकावट पैदा हो जाती है जिससे महिलाओ मे स्थायी वन्ध्यापन हो जाता है ।

प्रतिरोध—कोई टीका नही

प्रतिरोधात्मक उपाय—लगभग वही जो उपदंश के लिये वर्णित किये गये है।

10
वैयक्तिक स्वास्थ्य

प्रत्येक व्यक्ति की यह स्वाभाविक आकांक्षा रहती है कि वह स्वस्थ रहे, सुन्दर, सुडौल, सशक्त और सक्षम बना रहे—कभी रोगी न हो—और सदा सुखमय जीवन-यापन करता रहे। इसके लिये उसे उन सभी स्वास्थ्य सिद्धान्तों और नियमो का पालन करना होता है जो उसके स्वास्थ्य-सवर्धन एवं स्वास्थ्य-संरक्षण के लिये आवश्यक हैं। इन्ही सिद्धातो और नियमों से अवगत कराने वाले स्वास्थ्य विषय को "वैयक्तिक स्वास्थ्य" की संज्ञा दी जाती है।

सार्वजनिक रूप मे समाज के स्वास्थ्य संवर्धन तथा स्वास्थ्य संरक्षण का प्रवन्ध विविध जनस्वास्थ्य सेवाओ द्वारा किया जाता है। इनमे राजकीय स्वास्थ्य विभाग, स्वास्थ्य सगठन, नगर परिपद्, नगर पालिका, क्षेत्रीय स्वास्थ्य समितियाँ एवं ग्राम पंचायत आदि मुख्य है। इन सस्थानो द्वारा करदाताओ से प्राप्त धनराशि का अनुपात से स्वास्थ्य कार्यो पर व्यय किया जाता है लेकिन इसके साथ-साथ व्यक्तिगत स्वास्थ्य सवर्धन के लिये प्रत्येक व्यक्ति को स्वत: ही प्रयत्नशील रहना पड़ता है, उसे स्वय अपने ही साधन जुटाने होते हैं, और अपेक्षित स्वास्थ्य नियमो के पालन मे वचपन से ही साधनारत रहना पडता है। यही साधना कालान्तर मे स्वभाव या आदत का रूप ले लेती है। स्वास्थ्य नियमों के पालनार्थ स्वस्थ आदतों का बीजारोपण बचपन ही से बालकों में माता–पिता तथा अभिभावकों द्वारा किया जाना चाहिये और तदुपरान्त स्कूलों मे अध्यापक वर्ग को, जिन्हें अपने स्वय के अनुकरणीय आचरण से प्रस्थापित करना चाहिये।

. व्यक्तिगत स्वास्थ्य सवर्धन के लिये व्यक्ति स्वय को अपनी स्वास्थ्य एव शरीर-वृतिक (Physiological) आवश्यकताओं की सम्यक् पूर्ति करनी होती है। ये आवश्यकताएँ हैं—

1. शुद्ध वायु
2. शुद्ध जल
3 शुद्ध सात्विक सतुलित आहार
4 शारीरिक स्वच्छता
5. शारीरिक परिश्रम–व्यायाम
6 नियमित निद्रा

7. शारीरिक संक्रमण–संक्रामक-रोगों, दुर्घटनाओं और व्यावसायिक आपदाओं से
8. ज्ञानेन्द्रिय (Special Senses) संरक्षण
9. मानसिक संतुलन
10. कतिपय सामाजिक कुरीतियों का परित्यजन और
11 स्वच्छ वातावरण

शुद्ध वायु एवं जल

वायु प्राणिमात्र के प्राणो का आधार है और जीवनयापन का प्रथम प्रमुख साधन भी। दूसरा प्रमुख साधन है जल। शुद्ध वायु और जल प्रकृति की अनुपम देन हैं, पर इन्हे हम अपनी ही अज्ञानता एवं असावधानी से अनेक प्रकार से दूषित करते रहते हैं और इसके दुष्परिणामो का फल भी हमी भोगते है। शुद्ध वायु और जल के महत्त्व तथा इनके स्वच्छीकरण आदि के विषय मे हम अध्याय 3 व 4 मे विस्तृत विचार कर चुके हैं; यहाँ तो केवल इतना ही कहना काफी होगा कि शुद्ध वायु के लिए जहाँ हमारे मकानो और मोहल्लो के सम्यक् सवातन तथा वातावरण के शुद्धीकरण की आवश्यकता होती है, वहा व्यक्तिगत रूप में हमे प्रात साय खुले स्थानो में नियमित भ्रमण, बाग-बगीचों मे विचरण तथा प्राणायाम आदि द्वारा निर्धारित मात्रा मे ऑक्सीजन अवशोषण की आवश्यकता होती है जिससे रक्त की सम्यक् शुद्धि, चयापचय प्रतिक्रियाओ की परिपुष्टि और वाञ्छित ऊर्जा-उत्पत्ति मे यथोचित सहायता मिल सके। प्राणायाम से पर्याप्त मात्रा मे ऑक्सीजन की प्राप्ति के साथ-साथ फेफड़ों के प्रत्येक प्रकोष्ठ मे शुद्ध वायु का प्रवेश उनकी कार्य-क्षमता एवं शक्ति बढाता है और दमा, खासी, प्लूरिसी (Pleurisy), यक्ष्मा आदि रोगो का निवारण होता है तथा मानसिक शाति और चित्त-स्थिरता का भी यथोचित लाभ होता है।

शुद्ध जल अनेकानेक जलवाहक संक्रामक रोग से हमे बचाये रखने के अतिरिक्त हमारी विविध शरीरवृत्तिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। यह पोषक तत्वो का वाहक, रक्त परिसंचरण का सहायक, चयापचय का नियामक, विकार तत्वों का निष्कासक और आन्तरिक ग्रन्थियो के स्रावो का उत्प्रेरक तथा उनका मौलिक अंश बनता है। पर्याप्त मात्रा मे पिया गया जल कोष्टबद्धता का भी निराकरण करता है। सामान्यतया प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को पीने के लिये जल की दैनिक मात्रा लगभग 4 लीटर = 8–10 गिलास की आवश्यकता होती है। गरमी मौसम मे या उष्ण वातावरण मे काम करने वाले व्यक्तियो को सम्भव है कुछ अधिक की आवश्यकता हो जिसे हमारी प्यास स्वतः ही नियन्त्रित कर लेती है। शुद्ध एवं सुरक्षित जल की उपलब्धि सार्वजनिक जलप्रदाय योजनाओ से हो ही जाती है; लेकिन जहाँ ये योजनाएँ नही हों, वहाँ इसकी शुद्धि घरेलू तरीको से कर लेना श्रेयस्कर होता है। इस सम्बन्ध मे हम सम्यक् विचार-विनिमय अध्याय 4 में कर चुके है।

शुद्ध सात्विक एवं सन्तुलित आहार

सन्तुलित आहार हमारे जीवन का तृतीय प्रमुख साधन बनता है। हमारे आहार

में वे सभी आवश्यक पोषक तत्व होने चाहिये जो हमारे *अंग-प्रत्यंगों को पुष्ट करे*, सुगठित करें, सक्षम बनावें, वाञ्छित ऊर्जा उत्पन्न करें और शारीरिक कोशिकाओं की क्षति-पूर्ति करें। ये आवश्यक तत्व हैं प्रोटीन (Protein), कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate), *लाइपिड्स या वसा (Lipids or Fats)*, विटामिन्स (Vitamins), खनिज पदार्थ (Mineral salts) और जल। वह आहार या खुराक जिसमें पोषक तत्व उचित मात्रा एवं परिमाण (Proportion) में प्राप्त हो, तापमान की आवश्यक इकाइयाँ (Calories) उपलब्ध हों, उचित मात्रा में रक्षांस (Roughage) प्राप्त हों और जो रुचिकर, आकर्षक एवं स्वादिष्ट हो, वही सन्तुलित आहार (Balanced diet) कहलाता है।

एक साधारण काम-काज करने वाले व्यक्ति की दैनिक खुराक में प्रोटीन एक ग्राम प्रतिकिलो शारीरिक वजन के अनुपात में कार्बोहाइड्रेट लगभग 400 से 500 *ग्राम, लाइपिड्स लगभग 40 से 60 ग्राम और भिन्न-भिन्न विटामिन तथा खनिज* पदार्थ अपनी-अपनी निर्धारित मात्रा में होने चाहिये।

प्रोटीन शारीरिक कोशिकाओं का निर्माण करते हैं, अंग प्रत्यंगों का गठन एवं वर्धन करते हैं, मांसपेशियों को सुगठित और बलिष्ठ बनाते हैं, कोशिकाओं की क्षतिपूर्ति करते हैं, हार्मोन्स का निर्माण करते हैं और एन्जाइम्स की उत्पत्ति में सहायक बनते हैं। प्रोटीन लगभग सभी अनाजों, दालों, मेवों, व पशुश्रेणी से प्राप्त खाद्य पदार्थों दूध, दही, छाछ, पनीर, छैना, मांस, मछली, अण्डे आदि में बहुतायत से मिलते हैं। शाकाहारी सज्जनों के लिए मिश्रित अनाज—गेहूं, चावल, मक्का, जौ, बाजरा आदि; सभी तरह की मिश्रित दालें—जिसमें सोयाबीन दाल भी हो; दूध दही, छाछ, पनीर और सस्ते मेवे—मूंगफली आदि से समुचित सन्तुलित खुराक प्राप्त की जा सकती है। इनसे सभी आवश्यक एमीइनो एसिड्स भी प्राप्त हो सकेंगे।

कार्बोहाइड्रेट ऊर्जा उत्पादित करते हैं, वसा के चयापचय में सहायक होते हैं, *और आंतों में विटामिन "बी ग्रुप" के कुछ विटामिनों तथा विटामिन "के" की उत्पत्ति* करते हैं; सेलूलोज की वजह से आंतों में पुरसरण (Paristalsis) पैदा करके कोष्टबद्धता दूर करते हैं और क्षुधा की संतुष्टि करते हैं। कार्बोहाइड्रेट पाचन प्रक्रिया से विभिन्न शर्कराओं में विभक्त होकर अवशोषित होते हैं। ये स्टार्च वाले खाद्य पदार्थों में बहुतायत से मिलते हैं जैसे जड़वाली सब्जियां—आलू, अरवी, शकरकन्द, शलजम, जिमिकन्द, चुकन्दर, गाजर, मूली, आदि; तथा सभी अनाजों—विशेषकर चावल में और पत्ते वाली सब्जियों और फलों में भी यथोचित मात्रा में पाये जाते हैं। शक्कर, गुड़ व शहद तो कार्बोहाइड्रेट के भरपूर भण्डार ही हैं। अधिक मात्रा में सेवन करने पर कार्बोहाइड्रेट मोटापा पैदा करते हैं।

लाइपिड्स (वसा)—ऊष्णता एवं ऊर्जा पैदा करते हैं, विटामिन 'ए' 'डी' 'इ' *व, 'के' की प्राप्ति कराते हैं और शरीर की वृद्धि में सहायक होते हैं तथा त्वक्शोथ* निवारण करने वाले आवश्यक फैटि एसिड्स प्राप्त कराते हैं। आहार में काम आने

वाले लाइपिड्स ठोस, अर्ध-ठोस या तरल प्रकृति के होते हैं। पशुश्रेणी से प्राप्त लाइपिड्स–घी, मक्खन, मलाई आदि मे सतृप्त फैटि एसिड की मात्रा अधिक होती है। ये सरदी में ठसे रहते है। इनमें कॉलेस्टरोल की मात्रा अधिक होती है, अतः यह रक्त कॉलेस्टरोल की मात्रा को बढ़ाते है और कालान्तर मे रक्त धमनियो की क्षति और हार्ट अॅटेक जैसे उपद्रवों के सहायक कारण बनते है। आवश्यकता से अधिक मात्रा मे इनका प्रयोग हितकर नही होता। ये व्यर्थ मे मोटापा बढ़ाते है। वनस्पति तेलों में नारियल के तेल के अलावा सभी तेल तरल अवस्था में ही रहते है क्योंकि इनमे असंतृप्त फैटि एसिड की मात्रा बहुतायत से होती है। कॉलेस्टरोल की मात्रा इनमें नगण्य होती है अतः कालान्तर मे ये अपेक्षाकृत लाभकारी सिद्ध होते है।

विटामिन—विटामिन हमारे शारीरिक पोषण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। ये शरीर वृद्धि और शारीरिक गठन मे सहायक होते है और चयापचय प्रक्रिया में विशेष योगदान देते हैं। इनके अभाव मे अनेकानेक पोषण सम्बन्धी "अभाव रोग" उत्पन्न हो जाते है। विटामिनो को मुख्यतया हम दो श्रेणियो मे विभक्त करते है।
(1) वसा विलेय और (2) वारि विलेय

वसा विलेय विटामिन 'ए' 'डी' और 'के' है।

विटामिन 'ए'—आंखों की ज्योति बनाये रखता है; रतौंधी की शिकायत मिटाता है, त्वचा एव श्लेष्मकला की कोशिकाओं को मजबूत बनाये रखता है, प्रोटीन का पाचन करने वाले एन्जाइम्स की उत्पत्ति मे सहायक होता है, हार्मोन–विशेषकर कोर्टीकोस्टीरॉन (Corticosteron) बनाने में सहायक होता है और शारीरिक वृद्धि मे सहायक होता है। श्लेष्मकला कोशिकाओं की मजबूती बनाये रखने के कारण बार-बार होने वाले नजले, जुकाम, खांसी आदि के निराकरण मे यह विटामिन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सामान्यतया इसकी दैनिक मात्रा 1500–5000 I.U. होती है। इसकी प्राप्ति क्लेजी, मछली का तेल, अण्डा, घी, मक्खन, दूध, अरबी, चौलाई, बन्दगोभी, सैजन, हरा धनिया, पोदीना, पालक, आम, गाजर, पपीता, पान आदि से पर्याप्त मात्रा मे हो जाती है।

विटामिन 'डी'—हड्डियों व दातों की मजबूती बनाये रखता है। इसके अभाव मे रिकेट्स (Rickets) व अस्थिमृदुता (Osteomalacia) की बीमारियां हो जाती हैं। दैनिक मात्रा 200 से 400 I.U. की होती है। अधिकांशतः यह मछली के तेल, अण्डा, घी, दूध, आदि मे बहुतायत से मिलता है।

विटामिन 'इ'—रक्त कणियो के निर्माण मे और सेक्स हार्मोन की उत्पत्ति में सहायक होता है। विटामिन 'डी' के उपभोग को प्रभावित करता है और आयरन के अवशोषण में सहायक सिद्ध होता है। औषध के रूप मे स्वाभाविक गर्भपात (Habitual Abortion) की रोकथाम के लिए इसका प्रयोग किया जाता है हालांकि इस दिशा मे इसका प्रभाव विवादास्पद ही है। दैनिक मात्रा कोई निश्चित नही है।

आवश्यकतानुसार यह सामान्य खाद्य-पदार्थों में मिल ही जाती है। प्राप्ति–गेहूं के अंकुर और उनसे निकला तेल, बिनौला, सोयाबीन, सैफोला व नारियल का तेल और कुछ अंशों मे घी, मक्खन, टमाटर, गाजर, अंगूर, मूंगफली आदि में।

विटामिन 'के' रक्त स्कन्दन (Blood Coagulation) में विशेष लाभदायक होता है और रक्तस्राव को रोकता है। सौभाग्य से यह हमारी आंतों में स्वतः ही निर्मित होता रहता है।

वारि विलेय विटामिन

इन विटामिनों को हम मुख्यतः दो श्रेणियों मे विभाजित करते हैं—

(1) विटामिन "बी ग्रुप", और

(2) विटामिन "सी"

(1) विटामिन "बी ग्रुप" मे कई विटामिन हैं पर हम केवल मुख्य 4 या 5 पर ही विचार करेंगे।

(i) थायमिन (Thiamin) B_1—यह विटामिन कार्बोहाइड्रेट के चयापचय में सक्रिय सहयोग देता है। इसके अभाव मे बदहजमी, भूख की कमी, कोष्टबद्धता, हाथों-पावों, जोड़ों आदि मे अकारण दर्द, पिण्डलियों में ऐंठन, एड़ियो में दर्द, हथेलियों मे गरमाहट और थकान आदि की शिकायतें होने लगती है। इसका अभाव बना रहे तो कालान्तर में तन्त्रिका-शोथ (Neuritis) व बेरी-बेरी (Beri-Beri) की बीमारियां हो जाती हैं। दैनिक मात्रा लगभग 1.2 से 2.2 mg की होती है। इसकी प्राप्ति ईस्ट, हाथ के कुटे चावल, चापड सहित आटा, अंकुर निकले अनाज, मटर, सोयाबीन हरे पत्ते वाली सब्जियाँ विशेषकर पालक, मेथी, चन्दलाई, चुकन्दर, आम, पपीता, केला, बादाम, मूंगफली, काजू, किशमिश आदि से होती है।

(ii) राइबोफ्लेविन (Riboflavin) B_2—यह विटामिन लाइपिड्स व कार्बोहाइड्रेट के चयापचय मे सक्रिय सहयोग देता है। इसके अभाव मे आंखो में ललाई, होठों के मिलन स्थान पर कटाव (Angular Stomatitis), होठो पर सफेद दाग, जिह्वा पर कटाव-दरारें; और त्वचा पर त्वक्शोथ के कारण खुजली आदि की शिकायत हो जाती है। दैनिक मात्रा लगभग थाइमिन के बराबर ही है। प्राप्ति–दूध दूध-पाउडर, पालक, मेथी, चन्दलाई, ईस्ट, सोयाबीन और अंकुर निकले अनाज से।

(iii) नियासीन (Niacin)—यह विटामिन प्रोटीन कार्बोहाइड्रेट व लाइपिड्स के ऑक्सीकरण और उनके फलस्वरूप ऊर्जा-उत्पत्ति में सहायक एन्जाइम का काम करता है और पेलाग्रा रोग का निराकरण करता है। दैनिक मात्रा 10 से 20 mg। प्राप्ति–ईस्ट, चावल, गेहूं, बाजरा, अंकुर निकले अनाज, मूंगफली, कलेजी आदि से।

(iv) फोलासिन या फोलिक एसिड (Folacin or Folic Acid)—यह विटामिन रक्त कणियों के निर्माण मे अत्यन्त सहायक होता है और इन्हें परिपक्व करता है। अभाव मे अरक्तता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दैनिक मात्रा 0.1 से

0.4mg. । प्राप्ति–चन्दलाई, पालक, मेथी, पोदीना, ईस्ट, प्याज, आलू, संतरा, गाजर, मौसमी, सेव, अकुर निकले अनाज आदि से ।

(v) कोबालामिन (Cobalamin) B_{12}—यह विटामिन भी रक्त कणियों के निर्माण और उनकी परिपक्वता को प्रोत्साहित करता है और हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) के निर्माण मे सहायक होता है । इसके अभाव मे परनीशियस अरक्तता की स्थिति (Pernicious Anaemia) उत्पन्न हो जाती है । दैनिक मात्रा 3 से 5 ug. प्राप्ति–अधिकांश कलेजी से और अत्यन्त ही न्यून मात्रा में अण्डा, दूध, पनीर आदि से ।

विटामिन 'सी'

यह विटामिन शारीरिक कोशिकाओं को बांधने वाले तत्व कोलैजन (Collagen) के निर्माण में अत्यन्त ही सहायक होता है और इस तत्व की स्वस्थता बनाये रखता है । इसके अभाव मे कोशिकाओ के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं, कोशिकाएँ फूली-फूली-सी दिखाई देने लगती हैं; रक्त धमनियों की भित्तिया और उनकी भीतरी झिल्लियां कमजोर पड जाती है जिससे उनमे से रक्त निसरने लगता है और स्कर्वी की बीमारी हो जाती है । इस बीमारी के प्रमुख लक्षण मसूड़ों की सूजन, उनमें रक्त स्राव, दातों की ढिलाई, लम्बी हड्डियो के सिरों मे रक्त स्राव के कारण सूजन व दर्द आदि होते है । दैनिक मात्रा लगभग 50mg । प्राप्ति—आंवला, सैंजन के पत्ते, अमरूद, शलजम, हरी मिर्च, हरा धनिया, नीबू, नारंगी, मौसमी, पपीता, चुकन्दर, टमाटर अन्नानास, फालसा, अनार, अकुर निकले अनाज आदि ।

खनिज पदार्थ

खनिज पदार्थों में कैल्शियम सोडियम, फॉस्फोरस, पोटाशियम, आइरन व आयोडीन विशेष महत्व के है । कैल्शियम व फॉस्फोरम हड्डियों की मजबूती बनाये रखते है । इनकी प्रत्येक की दैनिक मात्रा लगभग 1gm की होती है और ये पदार्थ अधिकांश दूध, दही, पनीर, अण्डा, अनाज, हरी सब्जियाँ व मेवे आदि मे पर्याप्त मात्रा मे पाये जाते है ।

सोडियम तथा पोटाशियम मुख्यतया कोशिकाओ के भीतर व बाहर जल वितरण का समुचित नियमन करते है और मासपेशियो मे संकुचन पैदा करते है तथा तन्त्रिकाओ मे उद्दीपन पैदा करने मे सहायक होते हैं । सोडियम की दैनिक मात्रा लगभग 10 ग्राम और पोटाशियम की लगभग 2 से 6 ग्राम होनी चाहिये । सोडियम अधिकांश हरी शाक-सब्जियो व जल में तथा नमक के रूप मे प्राप्त होता है और पोटाशियम लगभग सभी खाद्य पदार्थों मे ।

आइरन मुख्यतया लाल रक्त कणियो मे हीमोग्लोबिन के निर्माण में सहायक होता है । इसके अभाव मे रक्तहीनता की स्थिति पैदा हो जाती है । दैनिक मात्रा लगभग 15–30 mg; प्रसूती माता को कुछ अधिक । प्राप्ति—हरी सब्जियो मे–कमलगट्टा

फूलगोभी, करोंदे, शलजम, चौलाई, धनिया, मेथी, चुकन्दर, पोदीना, पालक आदि। फलों में—तरबूज, फालसा, नीबू, अमरूद, आम, जामुन, पपीता, अंगूर आदि। मेवे में—किशमिश, काजू, बादाम, मूंगफली और विभिन्न अनाज व दालों में भी।

आयोडीन—थाइराइड ग्रंथि में थाइरोक्सिन हार्मोन बनाने में सहायक होता है। इसके अभाव में थाइरोइड को यह हार्मोन उत्पन्न करने में विशेष प्रयत्न करना पड़ता है जिससे इसकी कोशिकाओं में निरन्तर वृद्धि होती रहती है और एक समय आता है कि थाइरोइड ग्रन्थि फूलकर बड़ी हो जाती है। इस स्थिति को साधारण ग्वाइटर (Simple goitre) की बीमारी कहते है। दैनिक मात्रा 0 15 से 0·3 mg। अधिकांशत: यह जल से प्राप्त हो जाता है लेकिन जहाँ जल में इसकी मात्रा-आयोडाइड्स (Iodides) के रूप मे कम होती है जैसे–हिमाचल के पर्वतीय क्षेत्रों में —वहाँ आयोडाइड मिश्रित नमक का प्रयोग किए जाने से उन क्षेत्रों में होने वाले ग्वाइटर रोग का काफी हद तक निराकरण किया जा सका है।

अत्यन्त ही मोटे तौर पर हमने उपर्युक्त पोषक तत्वों पर कुछ विचार किया। (विशेष जानकारी के लिए हमारी पुस्तक आहार एवं पोषाहार का अवलोकन करें) अब हमें दो शब्द शरीरिक ऊर्जा संतुलन के सम्बन्ध में भी कह लेने चाहिये। हमारा शरीर ऐच्छिक तथा अनैच्छिक (Voluntary & involuntary) गति करता रहता है और इसके लिये उसे ऊर्जा शक्ति की आवश्यकता होती है। यह ऊर्जा हमारे भोजनीय पोषक तत्वों ही से उत्पादित होती है। ऊर्जा को हम कैलोरीज (Calories) में अंकित करते हैं। पोषण कैलोरी भौतिक कैलोरी से हजार गुणा बड़ी होती है अत: इसे हम बड़ी कैलोरी या किलो कैलोरी (K.Cal) कहते है। हाल ही में WHO, FAO व International Union of Nutritional Sciences ने कैलोरी के स्थान पर जूल (Joule) इकाई के प्रयोग की सिफारिश की है (1 K Cal = 4·2 K J.)। व्यक्ति की आयु, अवस्था (प्रसूति या धात्री), व्यवसाय, परिश्रम आदि के विभिन्न स्तर पर भिन्न-भिन्न ऊर्जा की आवश्यकता होती है जो 1900 से 3900 या इससे भी कुछ अधिक कैलोरी की होती है। अत व्यक्ति की खुराक नियोजित करते समय हमें यह ध्यान रखना होता है कि उसे अपनी आवश्यकता के अनुरूप निर्धारित कैलोरीज दैनिक खुराक में मिलती है या नहीं। इसके लिये हमें यह जानने की आवश्यकता होती है कि भिन्न-भिन्न पोषक तत्व उसे कितनी ऊर्जा या कैलोरीज प्राप्त करा पाते है। परीक्षणों के आधार पर यह ज्ञात हुआ है कि एक ग्राम प्रोटीन 4 k. cal, एक ग्राम कार्बोहाइड्रेट भी 4 k. cal और एक ग्राम लाइपिड 9 k. cal प्राप्त कराते है। विभिन्न श्रेणियों के व्यक्तियों की कैलोरी आवश्यकताएँ भी परीक्षणों के आधार पर नियत की गई है। इस प्रकार हम इन व्यक्तियों के लिये दैनिक खुराक की सम्यक् व्यवस्था कर लेते है। उदाहरण के लिये एक वयस्क पुरुष व वयस्क महिला को—जिसकी आयु 25 वर्ष की है और वजन क्रमशः 55 व 45 किलोग्राम है–उस संदर्भित पुरुष या महिला (Reference Person)—को कितनी

कैलोरीज और कितनी मात्रा में खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होगी, यह हम तालिका 1 और 2 (पृष्ठ 242 व 243) से पता लगा पायेंगे।

भोजन शुद्ध हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि खाद्य सामग्री शुद्ध हो, अनाज दालें आदि अधिक पुरानी न हो, घुन लगी न हों, चूहे-झींगुर आदि से दूषित न की गई हों, शाक-सब्जियाँ व फल सड़े-गले न हों, दूषित जल से संदूषित न किये गये हों, इन पर रासायनिक कीटनाशक दवाई के अवशेष न रहे हों, यथासम्भव पोटेशियम-परमेग्नेट के घोल में धोई गई हों या फिर स्वच्छ जल ही में अच्छी तरह धोई गई हों। भोजन ठीक से पकाया गया हो—अधपका या अधजला न हो, मक्खियों से संदूषित न किया गया हो, ठण्डा बासी न हो। खाद्य सामग्री में मिलावट न की गई हो।

भोजन की सात्विकता के लिये यह आवश्यक है कि वह सादा हो, अधिक मिर्च-मसाले या खटाई वाला या चटपटा न हो, आसानी से हज़्म होने वाला हो, अत्यधिक घी, तेल में तला हुआ गरिष्ठ न हो, अधिक मिष्ठान्नयुक्त न हो और व्यर्थ में उत्तेजना उत्पन्न करने वाले पेय भी न हो जैसे—शराब, कॉफी, कोको, चाय आदि। अन्य मादक वस्तुओं का प्रयोग भी स्वास्थ्य के लिये हितकर नहीं होता जैसे भाग, गांजा, चरस, तम्बाखू आदि। ईमानदारी की कमाई से उपार्जित भोजन में विशिष्ट सात्विकता की झलक रहती है।

भोजन सम्बन्धी कुछ सामान्य नियम

1. भोजन नियत समय पर ही करना श्रेयस्कर है।
2. यथेष्ठ भूख लगने पर ही भोजन करना उचित है।
3. भोजन से पूर्व हाथ-मुँह साबुन से अच्छी तरह धोना अत्यावश्यक है।
4. भोजन करते समय यथोचित प्रसन्नता का वातावरण बनाये रखना चाहिये, व्यर्थ की मानसिक चिन्ता, कुढ़न, क्रोध तथा अनुचित एवं अशिष्ट वाद-विवाद नहीं करना चाहिए।
5. भूख से अधिक खा लेना अहितकर होता है।
6. जल्दी-जल्दी में निवाले निगलना ठीक नहीं। इन्हें खूब अच्छी तरह से चबा लेना चाहिये।
7. खाने योग्य कच्चे खाद्य पदार्थों का सेवन करना चाहिये जैसे—सलाद, टमाटर, खीरा, ककड़ी, मूली, गाजर, प्याज आदि। उबले व अकुर निकले अनाजों का प्रयोग भी यथेष्ट होना चाहिये। आवला, पोदीना, प्याज, हरा धनिया, हरी मिर्च आदि की चटनी का प्रयोग अत्यन्त श्रेयस्कर होता है।
8. रात्रि का भोजन अपेक्षाकृत हल्का ही होना चाहिये।
9. भोजन के तुरन्त बाद सो जाना ठीक नहीं।
10. भोजन के बीच में जल पीना हितकर है और भोजन के आधे घण्टे बाद पुनः यदि इच्छा हो, तो जल पी लेना उचित है, विशेषकर रात्रि में सोने से पूर्व।

तालिका 1

संवर्गित पुरुष के लिए (I.C.M.R.)

खाद्य सामग्री	साधारण श्रम श्रेणी k. cal. 2400		मध्यम श्रम श्रेणी k. cal. 2800		भारी श्रम श्रेणी k. cal. 3900	
	शाकाहारी gm.	मांसाहारी gm.	शाकाहारी gm.	मांसाहारी gm.	शाकाहारी gm.	मांसाहारी gm
अनाज	400	400	475	475	650	650
दालें	70	55	80	65	80	65
सब्जियां						
हरेपत्तेवाली	100	100	125	125	125	125
जड वाली	75	75	100	100	100	100
अन्य	75	75	75	75	100	100
फल	30	30	30	30	30	30
दूध आदि	200	100	200	100	200	100
घी, तेल	35	40	40	40	50	50
मांस, मछली	—	30	—	30	—	30
अण्डे	—	30	—	30	—	30
शक्कर, गुड आदि	30	30	40	40	55	55

नोट—भारी श्रम श्रेणी के व्यक्ति 50 ग्राम मूँगफली का प्रयोग करें और यदि वे ऐसा न करें तो वसा (घी, तेल आदि) की मात्रा 30 ग्राम अतिरिक्त बढ़ा लें।

तालिका 2

संदर्भित महिला के लिए (I.C.M.R.)

खाद्य सामग्री	साधारण श्रम श्रेणी k. cal. 1900		मध्यम श्रम श्रेणी k. cal. 2200		भारी श्रम श्रेणी k. cal 3000		विशेष परिस्थिति में अतिरिक्त मात्रा	
	शाकाहारी gm.	मांसाहारी gm.	शाकाहारी gm.	मांसाहारी gm.	शाकाहारी gm.	मांसाहारी gm.	प्रसूता k. cal. 3300	धात्री k. cal. 3700
अनाज	300	300	350	350	475	475	50	100
दालें	60	45	70	55	70	55	—	10
सब्जियाँ								
हरे पत्ते वाली	125	125	125	125	125	125	25	25
जड़ वाली	50	50	75	75	100	100	—	—
अन्य	75	75	75	75	100	100	—	—
फल	30	30	30	30	30	30	—	—
दूध आदि	200	100	200	100	200	100	125	125
घी, तेल आदि	30	35	35	40	40	45	—	15
शक्कर, गुड़	30	30	30	30	40	40	10	20
मांस मछली	—	30	—	30	—	30	—	—
अंडे	—	30	—	30	—	30	—	—

नोट—भारी श्रम श्रेणी की महिलाएँ 40 ग्राम मूँगफली का प्रयोग करें अन्यथा 25 ग्राम अतिरिक्त वसा (घी, तेल आदि) का प्रयोग करें।

11 सामयिक उपवास स्वास्थ्य के लिए हितकर है लेकिन लम्बे समय के उपवास उचित नहीं।

(4) शारीरिक स्वच्छता

शरीर की बाहरी स्वच्छता में त्वचा, बाल, नाखून, मुँह, मसूड़े, दांत, जिह्वा, आँख, कान, नाक आदि की सफाई पर विशेष ध्यान देना होता है।

त्वचा शारीरिक संरक्षण के साथ-साथ आभ्यन्तरिक विकारयुक्त उच्छिष्ट पदार्थों का निष्कासन भी करती है। पसीने के साथ निकले ये उच्छिष्ट पदार्थ त्वचा पर मैल के रूप में जमने लगते हैं और बाहरी धूल एवं धूलि के कण भी इनके साथ मिल कर त्वचा को गन्दा करते हैं। ये त्वचा के छिद्रों को बन्द कर देते हैं और पसीने के निकास में रुकावट पैदा करते हैं। अतः त्वचा की नियमित सफाई होनी चाहिये। यह सफाई हम नहीं करते हैं। उष्ण प्रदेशों में जहाँ पसीना अधिक निकलता है, प्रतिदिन नहाना आवश्यक है। त्वचा की सम्यक् सफाई के अभाव में बाहरी रोगाणुओं द्वारा फोड़े, फुन्सी, खुजली, दाद, एक्जिमा, स्केबीईज और अनेकानेक फंगस उत्पादित उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। नहाने के लिये नहाने का उपयुक्त साबुन, जिसमें क्षार की मात्रा कम हो, प्रयोग में लाना हितकर है। ठण्डे पानी के स्नान से त्वचा की कोशिकाओं (Capillaries) में अधिक रक्त संचार होता है जिससे त्वचा की क्षमता बढ़ती है। गर्म पानी से नहाने से थकावट दूर होती है। सर्दियों में त्वचा की खुश्की बढ़ जाती है। अत. स्नान से पूर्व तेल-मालिश कर लेना हितकर होता है। बालों की भी नियमित धुलाई व सफाई अत्यावश्यक है। लम्बे बालों वाले व्यक्ति-महिलाएँ और सिक्ख भाई-यदि प्रतिदिन बाल धुलाई न कर सकें तो सप्ताह में एक बार तो अवश्य ही कर लें; लेकिन कंघी दिन में 2 बार अवश्य कर लें जिससे बालों की जड़ों में डैनड्रेफ (Dandruff) व जूंओं की लीकें न जमने पायें। बालों में तेल लगाना इतना आवश्यक नहीं जितना कि तेल लगाने के बहाने मस्तिष्क के त्वचा की मालिश, इसके बालों की मजबूती बढ़ती है बाल जल्दी टूटते नहीं और अधिक चमकदार तथा सुन्दर बने रहते हैं।

नाखून—नाखूनों से हम अपने शरीर को खुजलाते हैं, खुरचते हैं और अनेक काम धन्धों में इनका यथोचित प्रयोग करते हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि इनके नीचे कई प्रकार के अवाञ्छनीय तत्त्व जमा हो जाते है। रासायनिक पदार्थों का व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों में नाखूनों के नीचे ऐसे रासायनिक तत्व भी जमा हो जाते हैं जो स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होते हैं। गन्दे नाखूनों से कई फंगस रोग भी हो जाया करते है। अतः इनकी सम्यक् सफाई और सामयिक कटाई आवश्यक हो जाती है। नाखून प्रति सप्ताह 0.5 mm. की दर में बढ़ते हैं। अच्छे ब्रुश से नाखूनों की यदि प्रति दिन सफाई नहीं की जाय—विशेषकर भोजन करने के पूर्व तो इनमें जमे हानिकारक पदार्थ, हमारे पेट में पहुँच कर अनिष्टकारी उपद्रव उत्पन्न करते हैं। नाखूनों को चबाने की गन्दी आदत का भी यही परिणाम होता है।

मुँह, मसूड़े, दांत और जिह्वा की नियमित सफाई और भी अधिक महत्त्व की है। प्रातः उठते ही हाथ-मुँह धोना, कुल्ले करना, ठण्डे पानी से आँखों का प्रक्षालन करना ताजगी लाता है; सुस्ती दूर करता है । शौचादि से निवृत्त होकर दांतों, मसूड़ों व जिह्वा की सम्यक् सफाई करना अनिवार्य हो जाता है । दांतों की सफाई के लिये अच्छे दन्त-ब्रुश या दातुन का प्रयोग करना हितकर है । ब्रुश के साथ कोई भी अच्छा दन्त-पाउडर, या दन्त क्रीम प्रयोग करना उचित है। दन्त-मार्जन प्रातः एवं हर भोजन के पश्चात् कर लेना श्रेयस्कर होता है जिससे भोजन के कण दांतों में फँसे रह कर सड़ान पैदा न करें और उन पर कीटाणुओं के प्रभाव से दांतों के इनैमल (Enamel) को क्षति न पहुँचे। अधिक मीठा खाते रहने और दांतों की सम्यक् सफाई न करने से शर्कराओं के कणों में, जो दांतों में फँसे रह जाते है, किण्वन पैदा हो जाता है जिससे दांतों में कोचर पड़ने की आशंका रहती है । विटामिन 'ए' 'डी' कैल्शियम की कमी कोचर उत्पत्ति में सहायक होते हैं।

मसूड़ों की सफाई दन्त मञ्जन के साथ ही हो जाती है, पर समय-समय पर सरसों के तेल में थोड़ा-सा नमक मिलाकर मसूड़ों पर मल लेने से इनमें और अधिक मजबूती आ जाती है। विटामिन 'सी' की पर्याप्त मात्रा मसूड़ों को और भी अधिक दृढ़ बनाती है।

दांतों की सफाई के समय ही जिह्वा को दातुन की फाको से या जिह्वा साफ करने वाली विशेप बनी पत्ती से अच्छी तरह साफ कर लेना चाहिये।

शरीर की भीतरी सफाई के लिए नियमित समय पर मल-मूत्र त्याग की स्वच्छ आदत बचपन ही से डाल लेनी चाहिये। समय से मल-त्याग न करने पर मचली, भूख की कमी, सिर दर्द, सुस्ती, मन्दमति आदि की शिकायत होने लगती है और यकृत की कार्यक्षमता में भी शिथिलता आने लगती है। कोष्टबद्धता का यथोचित आहार और व्यायाम से निराकरण करना चाहिये, समय-समय का उपवास भी हितकर होता है। कुछ योगिक क्रियायें भी—जैसे नौली, धोती, शंखप्रक्षालन आदि पाचन-प्रणाली की सफाई के लिए श्रेयस्कर होती है।

वस्त्र—वस्त्रों को हम तरह-तरह की पोशाकों के रूप में शरीर ढकने और उसे संरक्षित रखने के लिए धारण करते हैं। वस्त्र ऋतु अनुसार सूती, ऊनी, रेशमी, टेरीलीन, नाइलौन, रैयोन या पशुचर्म आदि के काम मे लाये जाते हैं। शरीर से सटे रहने वाले वस्त्र सूती ही होने चाहिये ताकि यह पसीने को ठीक से सोख सकें। ऊनी वस्त्र शारीरिक उष्णता को यथेष्ट बनाये रखते हैं । सर्दियों मे ऊनी वस्त्रों के अभाव में हमारी शारीरिक उष्णता का अधिक निकास होता है तो इसकी पूर्ति के लिए हमें अधिक भोजन करना पड़ता है जिससे वाञ्छित ऊर्जा एवं उष्णता उत्पन्न हो सकें। टेरेलीन नायलौन आदि के वस्त्र सूती वस्त्रों की तुलना में अधिक टिकाऊ व धोने-में अधिक सुविधाजनक तो होते हैं लेकिन इनके आग के सम्पर्क मे आने पर जल्दी आग पकड़ लेने का भय रहता है। वस्त्र चाहे किसी भी किस्म के हो पर इनसे तैयार की गई पोशाक

ऐसी होनी चाहिये जो यथा-सम्भव हल्की हो, अधिक चुस्त या ढीली न हो, हवा की पारगम्यता वाली हो, पसीना सोखने की क्षमता रखती हो और शान्त बैठे रहने पर भी पसीना उत्पन्न करने वाली न हो।

वस्त्रों की स्वच्छता इतनी ही आवश्यक है जितनी कि शारीरिक स्वच्छता। समय-समय पर वस्त्रों की धुलाई-सफाई न की जाय तो इनकी मलिनता और इनमें उत्पन्न दुर्गन्ध स्वयं के तथा अन्यों के लिए अनुत्रास का कारण बनती है और व्यक्ति को त्वक्-रोगों का शिकार बनाती है। जूएँ पड़ने की भी आशंका रहती है।

शारीरिक परिश्रम–व्यायाम

व्यक्तिगत स्वास्थ्य के लिए शारीरिक परिश्रम या व्यायाम अपना विशिष्ट महत्व रखता है। व्यायाम से शरीर का प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग व अवयव सुगठित और सुडौल बनता है। शरीर की यथेष्ट वृद्धि होती है; इसकी कार्यक्षमता और सक्षमता बढ़ती है। व्यर्थ का मोटापा छँटता है। पाचन-शक्ति बढ़ती है; कोष्टबद्धता का निराकरण होता है। समुचित मात्रा मे ऑक्सीजन की प्राप्ति और कार्बन-डाई-ऑक्साइड के निष्कासन से शारीरिक कोशिकाओं में पोषण तत्त्वों के ऑक्सीकरण की क्षमता बढती है। मधुमेह और अत्यधिक रक्त-कॉलेस्टरोल की अवस्थाओं का निराकरण या नियन्त्रण होता है। आङ्गिक दोषों (*Physical defects*) का यथा-सम्भव उपचार व निराकरण हो पाता है और मानसिक शक्ति का विकास हो पाता है। व्यक्ति यदि अपने दैनिक व्यवसाय या कामकाज मे पर्याप्त शारीरिक परिश्रम नही कर पाता तो उसे यह परिश्रम व्यायाम के रूप में करना चाहिये। आयु, शारीरिक अवस्था, ऋतु आदि के अनुरूप उसे उपयुक्त व्यायाम का निर्णय करना चाहिये। इसके लिए प्रातः सायं साधारण भ्रमण, गॉल्फ (**Golf**), फुटबॉल, वॉलीबॉल, बैडमिण्टन, टैनिस, क्रिकेट आदि का खेल; साइकल सवारी, घुड़सवारी, नाव खेवन या तैरने आदि के किसी भी व्यायाम का चयन करना चाहिये। यौगिक पद्धति के व्यायाम भी अत्युत्तम होते हैं।

नियमित निद्रा

दिन भर की गतिविधियों के कारण व्यक्ति को शारीरिक थकावट की अनुभूति होती है। इसके निराकरण के लिए उसे नियमित निद्रा लेनी चाहिये। निद्रा की अवस्था में उसके अंग-प्रत्यंगों की क्षमता फिर से पनप उठती है। उसकी मानसिक शक्ति यथावत् पुनरुत्पादित हो जाती है। आयु, अवस्था, आदत और व्यवसाय के अनुरूप व्यक्ति को भिन्न-भिन्न अवधि की निद्रा की आवश्यकता होती है। शिशु, अधिकांश दिन भर सोते ही रहते हैं, केवल भूख लगने पर या बिस्तर गीला होने पर जगते हैं; छोटे बच्चों को लगभग 10 से 12 घण्टों तक सोने की आवश्यकता होती है। वयस्क लोगों को 6 घण्टे और वृद्धों को लगभग 8 घण्टे नींद की आवश्यकता होती है। मानसिक कार्य करने वालों को भी 8 घण्टे सोना चाहिये। कमजोर और रुग्ण व्यक्ति स्वस्थ व्यक्तियों की तुलना में अधिक सोते हैं।

भोजन के तुरन्त बाद सो जाना उचित नही। दिन मे भी सोना ठीक नहीं लेकिन अत्यन्त ही उष्ण एवं आर्द्रता की मौसम में दिन को थोड़ी देर के लिए झपकी ले लेना अच्छा ही होता है। इससे ताजगी एवं चुस्ती की अनुभूति होती है।

सोने का कमरा यथासम्भव खुला हो, उसमें वायु का सम्यक् संचार हो, और आरपार संवातन की समुचित व्यवस्था हो। सोते समय मुँह ढक कर सोना हितकर नहीं। मच्छरदानी का प्रयोग करना उपयुक्त होता है।

शारीरिक संरक्षण

सक्रामक रोगों से—सक्रामक रोगों के निवारणार्थ प्रतिरोधात्मक टीकों और प्रतिरोधात्मक उपायों पर पिछले अध्यायों में यथेष्ट वर्णन किया जा चुका है।

दुर्घटनाओं से बचने के लिये, चाहे ये घर मे या या घर के बाहर सम्भावित हों, पूर्ण सतर्कता बरतने की आवश्यकता है।

घर मे दुर्घटनाएँ अधिकांश बच्चो, महिलाओं और वृद्धों में अधिक सम्भावित होती है। बच्चे जब चलना प्रारम्भ करते है तो बहुधा गिरते पड़ते हैं—फर्नीचर पर से, मकान की सीढ़ियों पर से या छत से गिरकर गम्भीर चोटें लगा बैठते हैं; ढीले-ढीले कपड़े पहने बहुधा मां के साथ रसोईघर में खुली आग के आस-पास फिरते समय कपडों मे आग लगने से झुलस जाते है, तेज धारदार चाकू, छुरी, कैंची, ब्लेड आदि से चोट लगा लेते है, बिजली के उपकरणों या खुले तारों को छूकर बिजली के झटके खा बैठते हैं, असावधानी से इधर-उधर उनके पहुच में रखी दवाइयों की गोलियां, तरल दवाइयां या कीट-नाशक जहरीली औषधियां खा-पी लेते है, और कई बार बाग-बगीचे में खेलते समय हौज या पानी से भरे बडे ढोल आदि में गिरकर मौत के शिकार हो जाते हैं। इन दुर्घटनाओं के निराकरण का एक मात्र उपाय है माता-पिता या अभिभावकों की सक्रिय सावधानी।

महिलाओं में अधिकांश दुर्घटनाएँ तेज औजारों से कटने, बिजली के झटके लगने, गिरने-पड़ने या आग से जल जाने की होती है। वृद्धों में अधिकतर फिसलन की जगह पाँव फिसलने से हाथ-पावों की हड्डियां टूट जाने की दुर्घटनाएँ होती है।

घर के बाहर सड़कों, खेल के मैदानों, जलाशयों, औद्योगिक संस्थानों या भीड़-भाड के स्थानों पर विविध दुर्घटनाएँ होती हैं जिनमें सभी आयु, लिङ्ग और वर्ग के लोगों को आघात पहुंचते हैं। सड़क पर व्यक्तियों के वाहनों की चपेट में आने, मोटर बस, ट्रक, टेम्पो, स्कूटर आदि में बैठे व्यक्तियों की इन वाहनों के दुर्घटनाग्रस्त होने, साइकल व मोटर साइकल सवारों की स्वतः ही गिर पड़ने या अन्य वाहनों के साथ टक्कर हो जाने से घातक दुर्घटनाएँ हो जाती है। पैदल चलने वाले व्यक्तियों की स्वयं की सावधानी, सड़क पार करते समय पूरी चौकसी, वाहन-चालकों की होशियारी और संजीदगी, यातायात नियमों की पूरी जानकारी, यातायात पुलिस की

सतर्कता और सहायता एवं सड़कों के समुचित रख-रखाव की व्यवस्था इन दुर्घटनाओं के निवारण में काफी सहायक होती है।

औद्योगिक प्रतिष्ठानों में मशीनों, मशीनी औजारों और कल-पुर्जों से होने वाली दुर्घटनाएँ, भारी साज सामान के गिरने से लगने वाली चोटें, संस्थान भवनों के किसी भाग के टूट जाने, खानों आदि के ढह जाने या उनमें अकस्मात् पानी भर जाने से—जैसा कि पिछले दिनों चसनाला कोयला खान में हुआ—अनेक लोगों के अङ्ग-भङ्ग हो जाते है या उनकी जाने चली जाती हैं। अन्य आपदायें एवं उपद्रव भी अनेक कारणों से हो सकते है जैसे कोयला, कपास, पटसन, सिलिका आदि के रेशों व कणों से *आँख, नाक, गला, फेफड़ों आदि को आघात, भांति-भांति के रासायनिक पदार्थों का* त्वचा, रक्त तथा आन्तरिक अवयवों पर कुप्रभाव, विविध गैसीय तत्वों का दुष्परिणाम-भोपाल त्रासदी-और समुचित संवातन, आर्द्रता एवं स्वच्छ वातावरण के अभाव मे स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव। इनके निराकरण के लिए प्रतिष्ठानों की उच्चस्तरीय प्रशासनिक व्यवस्था, प्रतिष्ठानो के भवनो तथा खानों आदि का सम्यक् रख-रखाव श्रमिकों की व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए समुचित परिधान *(Apparel), आँख* के चश्मे, दस्ताने, रबड़ के बड़े बूट, मास्क (Mask) आदि की व्यवस्था; मशीनों के आसपास समुचित रक्षण व्यवस्था; समुचित आरपारीय या निकासीय संवातन व्यवस्था; स्वच्छ वातावरण, स्वच्छ वातावरण मे केन्टीन आदि की व्यवस्था और समय-समय पर श्रमिको के स्वास्थ्य निरीक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये। श्रमिको को उनके सम्बन्धित काम-काज के विषय में भी यथेष्ट प्रशिक्षित करना आवश्यक होता है।

ज्ञानेन्द्रिय संरक्षण

आँख, नाक, कान, त्वचा एवं रसना ये ज्ञानेन्द्रियां है । त्वचा के सम्बन्ध मे हम संक्षिप्त विचार पहले कर चुके है।

आँखो की दैनिक सम्यक् सफाई; तेज धूप, धूआँ, धूलि और प्रकाश से बचाव तथा मक्खियों से सदा रक्षा करते रहना चाहिये। सफाई के लिए गन्दे रूमाल या तौलिये आदि का प्रयोग नही करना चाहिये। कम रोशनी मे पढना, पुस्तक को अति ही निकट या दूर रखकर पढना या सोते-सोते पढना आंखो की सक्षमता को कम करता है। आँखो के दृष्टिदोष—निकट-दृष्टिता (Myopia), जो अधिकांश बचपन मे ही हो जाती है या दूरदृष्टिता (Hypermetropia), जो वयस्क या ढलती उम्र मे होती है—का यथासमय उपयुक्त चश्मे की सहायता से निराकरण करा लेना श्रेयस्कर होता है। प्रचलित रोगों का इलाज भी तुरन्त ही करा लेना अपेक्षित होता है। आँखो की दृष्टि को यथेष्ट बनाये रखने के लिए सन्तुलित पौष्टिक आहार तथा उसमें *विटामिन 'ए' की वाञ्छित उपलब्धि अत्यन्त आवश्यक है।*

नाक, कान और गले का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध है। गले से एक पतली नली, जिसे यूस्टेकियन (Eustachian) नली कहते है, *कान के भीतरी भाग मे खुलती*

है। इस नली से कान में हवा का दबाव बाहरी दबाव के समतुल्य बना रहता है और कान की परदी को यथोचित स्थिति में बनाये रखता है। अतः यदि नाक या गले में कोई खराबी हो–संक्रमण हो–तो वह कान के भीतरी भाग में भी पहुँच सकती है। अधिकांशतः नज़ला, जुकाम, खांसी आदि की स्थिति में कान की भी यही स्थिति बन जाती है और उसमें भयकर पीड़ा होने लगती है, विशेषकर बच्चों में। इसी स्थिति में जब स्ट्रप्टो, स्टेफिलो, नीमोकोकाई आदि जीवाणुओं का आक्रमण हो जाता है तो कान में पूय (Pus) पड़ जाती है और मध्य-कर्णशोथ (Otitis media) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस बीमारी में कान में सख्त दर्द होता है और मध्यकान में जमा पूय कान की परदी को फाड़कर बाहर निकलने लगता है जिसे सामान्य तौर पर बहते कान की संज्ञा दी जाती है। कभी-कभी यह पूय कान के पिछले भाग की हड्डी में जमा होकर मैस्टॉइडाइटिस (Mastoiditis) की अत्यन्त ही पीड़ा-जनक स्थिति पैदा कर देता है। कान की परदी के फट जाने से और कान के मध्य भाग में उक्त स्थिति उत्पन्न होने के फलस्वरूप प्रभावित कान में बहरापन हो जाता है। अतः यदि नाक या गले में कोई उपद्रव होता है–साधारण नज़ला, जुकाम गले की शोथ, खराश आदि–तो इसका समय से उपयुक्त उपचार करा लेना अत्यावश्यक हो जाता है। बच्चे नाक खरोचते समय नाखूनों से या पेन्सिल आदि से नाक में चोट लगा लेते हैं, जिससे रक्त स्राव होने लगता है और द्वितीयक संक्रमण से उसमें पूय पड़ जाता है। नाक में यदि पोलीपस (Polypus) हो तो भी रक्त स्राव होने लगता है एवं सांस लेने में कठिनाई होती है। इसका सामयिक उपचार कराना अत्यावश्यक है। बच्चों में नाक बहने की स्थिति तो वैसे ही बन जाया करती है जिसके लिए उनके नाक की समय-समय पर सफाई आवश्यक है। नाक सफाई सदैव रूमाल ही से की जाय न कि इधर-उधर नाक छींकने और पोंछने से। कान की उपर्युक्त वर्णित स्थितियों का अविलम्ब उपचार कराया जाना चाहिये और इस पर भी यदि बहरापन हो जाय तो श्रवण उपकरण (Hearing aid) का प्रयोग करना श्रेयस्कर होता है। कान की बाहरी नली में कभी-कभी वैक्स जमा हो जाने से भी श्रवण-शक्ति में न्यूनता आ जाती है। बच्चे कभी-कभी नाक या कान की इस बाहरी नली के कोई छोटी-सी वस्तु जैसे–बटन, गोली, इमली के बीज आदि फंसा लेते हैं जिसे सावधानी से निकाला जाना चाहिये या अच्छे चिकित्सक ही से निकलवाना चाहिये।

मानसिक सन्तुलन

व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा हो, समाज में उसका यथेष्ट स्थान बने, उसके साथ यथोचित सामाजिक व्यवहार हो और उसका अपेक्षित आदर मान हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसका मानसिक सन्तुलन समुचित बना रहे। मानसिक सन्तुलन के अभाव में व्यक्ति कितने ही अनैतिक कर्म करने लगता है, वह झूठ बोलता है,

चापलूसी या चुगली करता है, चोरी या भ्रष्टाचारी करता है, भय, क्रोध, ईर्ष्या, जलन कुढ़न आदि दुष्प्रवृत्तियों का शिकार होता है जो उसके स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव डालती हैं। कई बार वह शराब, भाँग, गांजा, अफीम आदि मादक वस्तुओं का प्रयोग करने लगता है; जिसका उसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तो वह मैथुन-सैक्स-सम्बन्धी अनैतिकता भी कर बैठता है जिससे या तो कानूनी सजा पाता है या गुप्त रोगों का शिकार होता है। अतः सुस्वास्थ्य के लिए तथा सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सुस्थापना के लिए व्यक्ति का मानसिक सन्तुलन उसकी अमूल्य निधि है। इसके लिए बचपन से ही उसे अच्छे चरित्र-निर्माण की शिक्षा देनी चाहिये। व्यक्ति को अपनी प्रवृत्तियाँ स्वच्छ एवं सुसंस्कृत बनाये रखने के लिए सत्-साहित्य का पठन-पाठन एवं सुसंगति का सहारा लेना चाहिये और निर्धारित सामाजिक नियमों का भली-भाँति पालन करना चाहिये।

सा ाजिक कुरीतियों का परित्याग

समय-समय पर समाज कुछ नीतियाँ बनाता है, कुछ सामाजिक नियम और आचार-संहिताओं का सृजन करता है, लेकिन बदलते समय के साथ-साथ यदि अतीत की ये नीतियाँ बदली नही जाती तो वर्तमान की परिस्थितियो में यही नीतियां कुरीतियों का रूप ले लेती है। बाल विवाह; अनमेल विवाह; विधुर विवाह किन्तु विधवा विवाह-निषेध; बहु-पत्नी या बहु-पति प्रथा; सती प्रथा; नारी का सामाजिक निम्न स्तर; पर्दा प्रथा; जात-पात; अन्तर्जातीय विवाहो पर प्रतिबन्ध; सह-भोज या सहपान; एक ही थाली मे अनेक व्यक्तियों को भोजन कराना या एक ही गिलास से अनेकों का जल पीना या हुक्का आदि; औसर-मौसर श्राद्ध, दहेज आदि ऐसी कितनी ही सामाजिक प्रथायें और व्यवस्थायें हैं जो आज सामाजिक कुरीतियां बनी हुई हैं। निश्चय ही ये कुरीतियां व्यक्ति के स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव डालती हैं और इनका परित्याग आज के बदले हुए समय में अत्यन्त आवश्यक है।

प्राचीन वैदिक व्यवस्था मे कम से कम 16 वर्ष की अवस्था प्राप्त करने पर कन्या की और 25 वर्ष की आयु प्राप्त युवक ही को विवाह करने की अनुमति थी, लेकिन कालान्तर में राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के कारण बाल-विवाहो को प्रोत्साहन दिया गया और आज भी गांवों मे हजारो बाल-विवाह सामूहिक रूप से सम्पन्न हो रहे हैं। युवा अवस्था प्राप्त होने तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन व्यक्तिगत स्वास्थ्य के लिए-शारीरिक वर्धन और गठन के लिए-कितना आवश्यक है यह हम सभी जानते हैं; फिर भी कानूनी रोक के उपरात भी बाल-विवाह आज भी हो ही रहे है। अनमेल विवाह, बहु-पत्नी और बहु-पति विवाह भी हो रहे हैं। फलस्वरूप अनियन्त्रित सन्तानोत्पत्तिया हो रही है जबकि हमारी प्राचीन वैदिक संस्कृति "धरमेको

गुणी पुत्रो" के सिद्धान्त को प्रतिपादित करती रही है। स्पष्ट है कि इन कुप्रथाओं से हमारे स्वास्थ्य पर तथा आज की सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था पर अकथनीय कुप्रभाव पड रहा है। इन कुरीतियां का अन्त होना ही चाहिये। जात-पांत के बंधन भी आज के जमाने में हमे सीमित समुदाय में बांधकर हमारे सर्वाङ्गीण विकास में बाधक बनते हैं। जात-पात ही के आधार पर अनमेल और असंगत विवाह होते हैं जिसका स्वास्थ्य पर बहुधा विपरीत प्रभाव पड़ता है। सहभोज आदि की प्रथा से व्यक्ति एक दूसरे के कथित स्नेह भाजक बनने के स्थान पर एक दूसरे के रोगग्राही बनकर अपने स्वास्थ्य पर कुठाराघात कर रहे हैं। अतः इन सामाजिक कुरीतियों का अविलम्ब परित्याग होना ही चाहिये।

स्वास्थ्य वातावरण

इस विषय पर पहले के अध्यायों मे सम्यक् प्रकाश डाला जा चुका है।

11
मातृ एवं शिशु-कल्याण सेवाएँ

मातृत्व ईश्वरीय वरदान है; प्रत्येक महिला मा बनने की उत्कट अभिलाषा रखती है और प्रत्येक पुरुष पिता बनने को लालायित रहता है। लेकिन सन्तानोत्पत्ति के साथ ही उन पर सन्तान के सम्यक् लालन-पालन का गुरुतम दायित्व भी आ पड़ता है। इसी दायित्व को भली-भाति निबाहने के लिए विवेकशील दम्पति अपनी सन्तानोत्पत्ति को सीमित रखने के भी अभिलाषी रहते हैं। वे चाहते हैं कि "हम दो हमारे दो" के सामयिक उद्घोष का यथाशक्य पालन करे जिससे वर्तमान आर्थिक कठिनाइयों में वे अपना उक्त दायित्व भी निभा सकें और अपना तथा अपनी सन्तान का सम्यक् स्वास्थ्य सरक्षण एव संवर्धन भी कर सकें।

गर्भवती महिला गर्भावस्था में पूर्ण स्वस्थ रहे—कोई उपद्रव न हो; प्रसव स्वच्छ एवं समुचित वातावरण में प्रशिक्षित परिचारिकाओं की देख-रेख मे निर्विघ्न सम्पन्न हो, धात्री के रूप में उसको स्वास्थ्य प्रत्यावर्तन (Restoration) की समुचित सुविधा प्राप्त हो और शिशु के शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य संरक्षण की यथेष्ठ सुव्यवस्था उपलब्ध हो—इसके लिए यह आवश्यक है कि शासन और समाज मातृ एवं शिशु कल्याण सेवाओ का समुचित प्रबन्ध करे। यद्यपि गर्भावस्था एव प्रसव स्वाभाविक शरीरवृत्तिक प्रक्रियाए ही हैं; फिर भी इन सेवाओ के अभाव में कई प्रसूति माताओं और शिशुओ की असामयिक मृत्यु हो जाती है और कइयो मे अप्रत्याशित शारीरिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। गर्भावस्था मे गर्भवती माता को कष्टदायक प्रातः वमन, अल्पपोषण, अरक्तता (Anaemia), कोष्टबद्धता, बवासीर, अपस्फीत–शिरा (*Vericose Vein*), *गर्भपात*, *प्राक्गर्भाक्षेपक (Pre-eclampsia) जिसमें उच्च* रक्त-दाब (High Blood Pressure), मूत्र मे ऐल्ब्युमिन (Albuminuria) तथा शोथ (Oedema) अर्थात् जल जमाव–विशेषकर पावों पर और गर्भाक्षेपक (Eclampsia) जिसमे आक्षेप (Convulsions) के साथ बेहोशी की हालत हो जाती है–के उपद्रव होने की सम्भावनायें रहती हैं।

प्रसव में विलम्बित प्रसव (Delayed Labour); अवरुद्ध प्रसव (Obstructed Labour); अत्यधिक रक्तस्राव; गर्भाशय, गर्भाशय-ग्रीवा (Cervix) तथा गुप्ताङ्गो की

अनावश्यक क्षति जिसमें विदरन (Rupture) या कटाव की स्थिति बन जाय; अनिर्गत अपरा (Retained Placenta), द्वितीयक संक्रमण के फलस्वरूप प्रसूति ज्वर एवं प्रसवोत्तर पूतिता (Puerperal Sepsis) आदि के उपद्रव हो सकते हैं और कुछ दिनों के बाद गुर्दे में गोणिकाशोथ (Pyelitis), स्तनशोथ (Mastitis) और गर्भाशय का आगे-पीछे या दायें-बांये की ओर झुकाव हो सकता है।

इन्हीं उपद्रवों में मातृ-मृत्यु के निम्न कारण बनते हैं—

(1) रक्तस्राव—जिसमें प्रसव से पूर्व होने वाले रक्तस्राव—(a) गर्भपात (Abortion), (b) अस्थानी सगर्भता (Ectopic gestation) अर्थात् गर्भाशय में गर्भ स्थित न होकर उसके बाहर फैलोपियन नली (Fallopian Tube) आदि में स्थित होने से कालान्तर में नली के फट जाने से अत्यधिक रक्तस्राव होता है, (c) सन्मुखी अपरा (Plecenta Praevia) तथा प्रसव के साथ या तुरन्त बाद होने वाले प्रसवोत्तर रक्तस्राव, (d) गर्भाशय विदरन (Ruptured uterus), (e) अनिर्गत अपरा आदि के कारण होते हैं।

(2) विषरक्तता (Toxaemia) जिसमें प्राक्‌गर्भाक्षेपक एव गर्भाक्षेपक मुख्य हैं।

(3) द्वितीयक संक्रमण जिसमें प्रसवोत्तर पूतिता मुख्य है।

मातृ मृत्यु-दर—गर्भावस्था व प्रसव के कारण प्रति हजार जीवित या मृत सन्तानोत्पत्ति पर होने वाली वार्षिक मातृ-मृत्युओं को मातृ मृत्यु-दर कहते हैं।

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व, जबकि मातृ एवं शिशु कल्याण सेवाओं का अपेक्षाकृत अभाव था, मातृ-मृत्यु दर लगभग 20 थी, जो 1982 तक घटकर केवल 4 से 5 ही रह गई; फिर भी यह अन्य विकसित देशों की तुलना में अधिक है यथा 0.04 (डेनमार्क), 0.13 (इंग्लैण्ड) और 0.16 (U.S.A) (1976)

शिशु-मृत्यु के मुख्य कारण—

(1) समय-पूर्व जन्म (Premature Birth)—37वें सप्ताह से पूर्व का जन्मा बच्चा, जिसका वजन 5 lb से कम हो, प्रायः मर जाता है।

(2) जन्मजात दोष (Congenital defects) जैसे अमस्तिष्कता (Anencephaly), जलशीर्ष (Hydrocephalus), अयुक्त मेरुदण्ड (Spina Bifida), मस्तिस्कावरणहर्निया (Meningocele), मंगोलता (Mongolism), खण्डतालु (Cleft Palate), खण्डोष्ठ (Hare lip), अद्वार गुदा (Imperforate anus) एवं हृदय दोष आदि।

(3) प्रसव क्षति (Birth Injury)—अन्त. कपालीय क्षति जिसमें कपालीय हड्डियों का विभंग व अन्त कपालीय रक्तस्राव, गर्दन व हंसली की हड्डियों का विभंग आदि।

(4) नवजात श्वासावरोध (Neonatal Asphyxia)

(5) रक्तस्रावी रोग (Haemorrhagic Disease of the New Born)

(6) संक्रमण (Infections) माता प्रदत्त पूर्व प्रसव संक्रमण जैसे उपदंश यक्ष्मा आदि। प्रसवोपरान्त संक्रमण जैसे नाभिनाल संक्रमण (Umbilical Cord infection) और इसके फलस्वरूप होने वाला टेटनस रोग; श्वसन एवं पाचन प्रणाली के संक्रमण और अन्य संक्रामक रोग आदि।

(7) अल्प एवं अनुपयुक्त पोषण; और

(8) आकस्मिक दुर्घटनाएँ।

शिशु मृत्यु-दर—प्रति हजार जीवित जन्मों पर शिशुओं-अर्थात् एक वर्ष तक के बच्चों-की वार्षिक मृत्युओं को शिशु मृत्यु दर कहते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में यह दर लगभग 158 प्रति हजार थी जो 1978 में घटकर लगभग 125 हो गई और अब सन् 1980–84 में 114, जबकि अन्य विकसित देशों में यह लगभग 10 से 12 तक की ही है। मातृ एवं शिशु मृत्यु-दर को घटाने में हमें अभी बहुत प्रयास करने हैं।

मातृ एवं शिशु कल्याण सेवा योजनाएँ

I गर्भवती मां के लिये

प्रसवपूर्व सेवा (Antenatal Care)

(i) गृह सेवा—घर पर ही सामान्य देखरेख

(ii) संस्था सेवा—प्रसूति केन्द्रों, प्रसूति गृहों, अस्पतालों आदि में सम्यक् देख-रेख

II प्रसूता के लिए

(a) प्रसवकालीन सेवा (Intranatal Care)

(i) घरों पर प्रसव व्यवस्था

(ii) चिकित्सा संस्थाओं में प्रसव व्यवस्था—प्रसूति केन्द्रों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, प्रसूति-गृहों, प्रसूति-अस्पतालों आदि में

(b) प्रसवोत्तर सेवा (Post-natal Care)

III धात्री एवं शिशु-सेवा (Nursing mother and Infant Care)

घरों तथा विभिन्न सम्बन्धित संस्थाओं में

IV पूर्व-स्कूल-गामी बच्चों की स्वास्थ्य संवर्धन-सेवा (Health Care of Toddlers)

V. स्वयं सेवी दाइयों का यथोचित प्रशिक्षण

1. गर्भवती मां के लिये

प्रसवपूर्व सेवा व्यवस्था

भारत की 80% जनता गांवो में बसती है और इनके लिये स्वास्थ्य-सेवाओं का मुख्य केन्द्र 'प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र' ही है। अतः इन केन्द्रों मे यह व्यवस्था भी की गई है कि ग्रामीण गर्भवती माताओं को प्रसूति सेवाओं का यथोचित लाभ केन्द्रों मे ही अथवा केन्द्र द्वारा घरों में मिल सके। हालांकि प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रो की इन सेवाओं मे अभी विस्तार की काफी अपेक्षा है, फिर भी पूर्व में जहाँ ये सेवाएँ कुछ भी नही थी—केवल अशिक्षित दाइयों की स्वयंसेवी सेवा ही उपलब्ध थी–वहाँ आज जो भी केन्द्रीय स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध है वह प्रशंसनीय है। निकट भविष्य मे इन केन्द्रों के विस्तार से इन सेवाओ में भी वाञ्छित वृद्धि होगी ही। शहरी क्षेत्रों में प्रसूति केन्द्रों, प्रसूति-गृहो, प्रसूति अस्पतालों आदि के माध्यम से इन सेवाओं की अपेक्षाकृत अधिक उपलब्धि है और शहरी महिलाएँ अधिक जागरूक होने के कारण इसका पूरा-पूरा लाभ उठाती हैं।

प्रसवपूर्व सेवा में यह आवश्यक है कि प्रत्येक गर्भवती मां का गर्भस्थिति से लेकर प्रसवकाल तक नियमित रूप से स्वास्थ्य परीक्षण होता रहे और इसके लिये गर्भवती माताओ का विधिवत् पंजीकरण किया जाय। पंजीकरण गर्भवती माताएँ या तो स्वय ही नजदीकी स्वास्थ्य केन्द्रों मे जा कर करवा लें या फिर इन केन्द्रों पर कार्यरत हेल्थ विजिटर, ऑक्जीलरी हेल्थ नर्स या मिडवाइफ घर-घर जाकर करें और उन्हे प्रेरित करें कि वे इन केन्द्रों पर नियमित रूप से आकर प्रसव-पूर्व परीक्षणों का यथोचित लाभ उठाएँ। यदि किसी कारणवश कोई महिला नियमित रूप से इन केन्द्रों पर नही आ सके तो कम से कम तीसरे या चौथे माह में एक बार आकर अवश्य ही अपने स्वास्थ्य का सम्पूर्ण परीक्षण करवा ले और यदि सब कुछ ठीक हो, तो उसके बाद उक्त स्वास्थ्य सेविकाएँ उसका तदन्तर मासिक स्वास्थ्य निरीक्षण करती रहें तथा केन्द्र चिकित्सक को उसकी स्थिति से अवगत कराती रहें। साथ ही उस महिला को उसके रहन-सहन, काम-काज, खान-पान, घरेलू स्वच्छता और प्रसव तथा आगन्तुक शिशु के लिये की जाने वाली सभी तैयारियों से अवगत कराती रहें। यदि कोई उपद्रव होता दिखाई दे तो उस महिला को फिर से केन्द्र में लायें और वहा सम्बद्ध महिला चिकित्सक उसकी सम्यक् जांच करे। प्रसवपूर्व गृह-सेवा का साधारणतया यही स्वरूप होता है।

अस्थायी सेवा के अन्तर्गत गर्भवती माता के उक्त केन्द्रों पर उपस्थित होने पर महिला चिकित्सक उसका पूर्ण विवरण लिपि-बद्ध करती है। यदि पूर्व-प्रसव हो चुका है तो उसका वृत्त अंकित करती है और तदन्तर उसका पूर्ण परीक्षण करती है जिसमें रक्त एवं मूत्र परीक्षा की जाती है, वजन लिया जाता है, रक्त-दाब नापा जाता है और यदि कोई रोग पाया जाय तो उसका यथोचित उपचार किया जाता है। अरक्तता,

अल्प-पोषण आदि के लिये अतिरिक्त आहार—विटामिन, दूध-पाउडर आदि का तथा आवश्यक औषध का प्रबन्ध किया जाता है। महिला को 28वें सप्ताह तक मासिक, 28 से 36वें सप्ताह तक पाक्षिक और उसके बाद प्रसवकाल तक साप्ताहिक परीक्षणार्थ केन्द्र मे आना ही चाहिये। समय-समय के इन परीक्षणों में महिला का सामान्य स्वास्थ्य परीक्षण, गर्भ-वृद्धि, गर्भस्थित बच्चे की स्थिति, उसका हृदय स्पन्दन (Foetal Heart Sounds), प्रस्तुति (Presentation), श्रोणिमिति (Pelvimetry) आदि का परीक्षण किया जाता है; और महिला के साथ प्रसव-व्यवस्था सम्बन्धी विचार-विनिमय एवं प्रबन्ध किया जाता है। टेटनस टॉक्सॉइड का इन्जेक्शन निर्धारित समय पर लगाया जाता है।

II प्रसूता के लिये

(a) प्रसवकालीन सेवा व्यवस्था

(i) गृह व्यवस्था—वैसे तो प्रसव व्यवस्था प्रसूति केन्द्रों, प्रसूति गृहों, प्रसूति अस्पतालों आदि ही में करना श्रेयस्कर होता है पर इन संस्थाओं में उपलब्ध शय्याओं के अभाव में बहुधा गृह व्यवस्था ही करनी होती है। प्रसव-पूर्व के नियमित परीक्षणों मे इसका निर्णय कर लिया जाता है। उन सभी प्रसूति महिलाओं का जिनका गर्भ पूर्ण सामान्य स्थिति मे हो—कोई उपद्रव या अवरुद्धता की सम्भावना न हो, घर पर सभी सुविधाएँ उपलब्ध हों, वातावरण सम्पूर्णतया शुद्ध हो, तो घर पर ही प्रसव कराने का प्रबन्ध किया जा सकता है। घर पर प्रसव की सारी तैयारी उन प्रसूति केन्द्रों, प्रसूति गृहों या प्रसूति अस्पतालों से सम्बन्धित हेल्थ विजिटर, पब्लिक हेल्थ नर्स या मिडवाइफ को करनी होती है जहां प्रसूता की प्रसव-पूर्व देख-रेख की गई हो। प्रसव के लिए घर में स्वच्छ हवादार एकान्त कमरे का चयन किया जाता है, सभी आवश्यक साज सामान और निर्जीवाणुक (Sterile) तथा अवशोषक (Absorbent) रुई, स्वाब (Swab) आदि की व्यवस्था की जाती है और आवश्यक औषधि एवं विसंक्रामक रसायनों आदि की भी। आगन्तुक बच्चे की सम्यक् देख भाल की भी पूर्ण व्यवस्था की जाती है और आवश्यकता पड़ने पर सम्बन्धित संस्थाओं से लेडी डाक्टर को बुलाने की भी व्यवस्था की जाती है।

गृह-प्रसव-व्यवस्था मे हेल्थ विजिटर, मिडवाइफ आदि की उपलब्धि यथेष्ट संख्या में होनी चाहिये। शहरी क्षेत्रों में प्रति 100 प्रसवों पर एक मिडवाइफ का होना आवश्यक है जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में गावों के बीच लम्बे फासलों और आवागमन के सीमित साधनों के कारण, और भी अधिक। हेल्थ विजिटर या पब्लिक हेल्थ नर्स लगभग 200 प्रसवों पर एक के अनुपात से होनी चाहिये क्योंकि ये अधिकांशत: प्रसव पूर्व व प्रसवोत्तर देखभाल का कार्य करती हैं और शिशुओं व छोटे बालकों के स्वास्थ्य संवर्धन एवं स्वास्थ्य सरक्षण का कार्य भी। आवश्यकतानुसार यह मिडवाइफ तथा दाई के प्रसवकालीन गृह सेवाओं का भी निरीक्षण करती है।

(ii) प्रसव की संस्थागत व्यवस्था अनिवार्य रूप से उन प्रसूता महिलाओं के लिए करनी होती है जो प्रथम-प्रसवा (Primipara) हों; जिनका प्रसव असामान्य स्थिति

का होने की संभावना हो; चौथा या उससे भी बाद का हो; जिनके घरों में प्रसव-व्यवस्था की सम्यक् सुविधा न हो और जो अस्पताल, प्रसूति-केन्द्र आदि ही में प्रसव करना चाहती हों। प्रसूति केन्द्रों, प्रसूति गृहों, अस्पतालो आदि मे प्रसूता के लिए पूर्व ही से शय्या आरक्षण का प्रबन्ध करना होता है; समय पर एम्बुलेन्स गाडी की व्यवस्था करनी होती है; प्रसव के समय उत्पन्न होने वाले सभी सम्भावित आपातो के सम्यक् उपचार की व्यवस्था करनी होती है; रक्ताधान, (Blood transfusion) तथा विशेष शल्यक्रिया आदि की भी समुचित व्यवस्था करनी होती है और बच्चे की वांछित देखभाल की भी। स्वाभाविक है कि प्रसव किसी पूर्ण-प्रशिक्षित एवं अनुभवी लेडी डाक्टर द्वारा कराया जाय और विशेषज्ञ डाक्टरो की आवश्यकता पडने पर तुरन्त उपलब्धि की भी व्यवस्था की जाय।

(b) प्रसवोत्तर सेवा व्यवस्था

प्रसवोत्तर सेवा-उपचार एवं देखभाल कम से कम 10 दिन तक होनी चाहिये। यह महिला को इस अवधि तक किसी अस्पताल आदि प्रसूति संस्था में रखा जा सके तो अति ही उत्तम, अन्यथा उसे जल्दी ही छुट्टी दे दी जाय तो वहाँ की हेल्थ विजिटर, पब्लिक हेल्थ नर्स या मिडवाइफ उक्त महिला की उसके घर पर इस अवधि तक पूर्ण देखभाल करे। घर पर किये गये प्रसव के देखभाल की भी यही व्यवस्था हो। इस अवधि में प्रसूता के सामान्य स्वास्थ्य एवं गर्भाशय आदि जननेन्द्रियों के प्रत्यावर्तन की ओर पूरा ध्यान दिया जाता है और आवश्यक उपचार से पूर्ण सहयोग। प्रसूता के सूतिस्राव (Lochia) निस्तारण तथा सक्रामण निवारण की पूर्ण सावधानी रक्खी जाती है। उसके यथेष्ट पोषण तथा शिशु के स्तनपान आदि की व्यवस्था की जाती है। स्तन की स्वस्थता एवं सफाई आदि का सम्यक् प्रशिक्षण दिया जाता है और परिवार नियोजन सम्बन्धी सभी जानकारी दी जाती है तथा दूसरे या तीसरे प्रसव पर वन्ध्याकरण के लिए प्रेरित किया जाता है। प्रसूता की इच्छा तथा स्वीकृति पर वन्ध्याकरण की पूर्ण सुविधा उपलब्ध कराई जाती है।

प्रथम सप्ताह के अन्त में या अस्पतालादि से छुट्टी दिये जाने के समय प्रसूता का पूर्ण शारीरिक परीक्षण किया जाता है और शिशु को बी.सी.जी. का टीका लगा दिया जाता है। प्रसूता का दूसरा परीक्षण चौथे और छठे सप्ताह के बीच किया जाता है जिसमें गर्भाशय प्रत्यावर्तन स्थिति (involution of uterus) एवं जननाङ्गों का सामान्य परीक्षण किया जाता है। रक्त, मूत्र आदि का परीक्षण भी किया जाता है और रक्त-दाब व वजन आदि का अंकन किया जाता है तथा शिशु पालन सम्बन्धी आवश्यक परामर्श दिया जाता है।

III धात्री एवं शिशु सेवा

यह सेवा हेल्थ विजिटर या पब्लिक हेल्थ नर्स द्वारा घरों पर या संस्थायी प्रसवोत्तर विलनिवस में उपलब्ध कराई जाती है। इस सेवा के अन्तर्गत धात्री माता

के स्वयं के स्वास्थ्य संवर्द्धन तथा शिशु स्वास्थ्य संवर्धन व संरक्षण के प्रति यथोचित परामर्श दिया जाता है और आवश्यक प्रतिरोधात्मक टीकों आदि की व्यवस्था की जाती है। वस्तुतः इस सेवा का स्थान अधिकांशतः धात्री मां का घर ही होता है जहां अत्यन्त ही आत्मीय वातावरण में हेल्थ विजिटर उसे पूर्ण विश्वास में लेकर सभी आवश्यक विषयों की जानकारी यथोचित प्रयोगात्मक ढंग से दे सकती है, जैसे उसके आहार में महत्वपूर्ण पोषण-युक्त खाद्य पदार्थों का चयन; शिशु संभरण, शिशु स्नान, वस्त्र, बिछौने आदि की सफाई का प्रशिक्षण; स्वस्थ वातावरण बनाये रखने के विविध उपाय। हेल्थ विजीटर समय-समय पर लगाये जाने वाले प्रतिरोधात्मक टीकों की भी व्यवस्था करती है।

गर्भवती एवं धात्री मां को दैनिक आहार में सामान्यतया किन-किन खाद्य पदार्थों की, कितनी मात्रा मे आवश्यकता होती है और कितनी कैलोरीज की, इसका संक्षिप्त विवरण हम पिछले अध्याय की तालिका 2 मे दे चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि चूँकि धात्री मां बच्चे को लगभग 6 से 9 माह तक स्तनपान कराती है अतः उसे पर्याप्त मात्रा में दूध-उत्पत्ति के लिए उत्तम प्रोटीन की आवश्यकता होती है जिसमें सभी आवश्यक एमाइनो एसिड्स मिलते रहें। प्रोटीन की सामान्यतया दैनिक मात्रा लगभग 65 gm की होनी चाहिए जिसे शाकाहारी महिलायें दूध, दही मिश्रित अनाज व दालों से और मासाहारी महिलायें मास, मछली अण्डे से प्राप्त कर सकती है। चूँकि बच्चे को कैलशियम, फॉस्फोरस और विटामिन 'ए' तथा 'डी' की अधिक आवश्यकता होती है जो माता के दूध ही से प्राप्त हो पाते हैं, अतः यही खाद्य पदार्थ इनकी पूर्ति भी कर देते हैं। धात्री मा को यथासम्भव हरी शाक-सब्जियों का अधिक प्रयोग करना चाहिए जिससे उसे विटामिन 'बी ग्रुप' यथेष्ट मात्रा मे मिलता रहे और आंवला, नीबू, टमाटर आदि के सेवन से विटामिन "सी"।

शिशु सभरण के लिए हेल्थ विजिटर या पब्लिक हेल्थ नर्स धात्री मां को विशेष रूप से प्रशिक्षित करती है। शिशु को 6 माह तक लगभग सभी पोषक तत्व माता के दूध मे मिल जाते है। केवल आइरन व विटामिन "सी" नही मिल पाता और कैलोरीज भी पूर्ण मात्रा में नहीं मिल पाती। अतः माता के दूध के साथ-साथ शिशुओं को तीसरे माह ही से ताजे फलों का रस व ताजी सब्जियों का घोल देना प्रारम्भ करना होता है। फलों में मौसम्बी, संतरा, आम, टमाटर आदि का रस तथा घुटा सेव, पपीता, केला और सब्जियो मे पालक, चन्दलाई, मेथी, बथुआ, हरे प्याज फूल-गोभी, चुकन्दर, धनिया, पोदीना आदि का रस देना उपयुक्त होता है। चौथे माह से पतली खिचड़ी, दलिया, साबूदाना, पतली खीर व दालो का घोल देना हितकर होता है। कारणवश स्तनपान की जगह ऊपरी दूध यदि देना ही पड़े तो गाय का दूध श्रेष्ठ होता है। इसे यदि मां के दूध के समान बनाना हो तो प्रारम्भ में एक भाग दूध में एक ही भाग पानी और 1 चाय के चम्मच की मात्रा मे शक्कर मिलानी होती है। धीरे-धीरे पानी की मात्रा कम करके यथाशीघ्र शिशु को शुद्ध

खालिस दूध देना ही हितकर होता है। ऊपरी दूध अनेक प्रकार के व्यावसायिक दूध पाउडरों से भी तैयार किया जा सकता है जिसकी विधि इन पाउडरों के डिब्बों पर लिखी होती है। इनसे दूध तैयार करने के विधि और दूध पिलाने की बोतल तथा निप्पल आदि के सफाई की पूरी जानकारी हेल्थ विजिटर धात्री मां को देती है। वह स्वयं खौलते पानी मे बोतल, निप्पल आदि की सफाई करके और दूध तैयार करके मां को दिखाती है। 9 माह के बाद बच्चे को स्तनपान छुड़ा देना चाहिए। इसके लिए भी मां को वह तैयार करती है और आवश्यक परामर्श देती है। बच्चों को कम से कम 6 माह तक स्तनपान कराना आवश्यक होता है क्योंकि माता का दूध बच्चे के लिए जहाँ स्वाभाविक श्रेष्ठ आहार बनता है, वहाँ यह बच्चे को 6 माह तक खसरा, डिप्थीरिया, मम्प्स, पोलियो आदि सक्रामक रोगों से बचाये रखने के लिए रक्षात्मक ऐण्टी-बॉडीज भी प्राप्त कराता है। शिशु तथा बड़े बच्चों—1 से 12 वर्ष तक के बच्चो के लिए आहार सम्बन्धी विशेष जानकारी हमारी आहार एवं पोषाहार पुस्तक से प्राप्त की जा सकती है।

शिशुओं तथा बड़े बच्चों को किन-किन संक्रामक रोगों से रक्षणार्थ कौन-कौन से प्रतिरोधात्मक टीके कब-कब लगाये जाते हैं इसका यथेष्ट विवरण अध्याय 8 में दिया जा चुका है। इनमें से जो टीके हेल्थ विजिटर या पब्लिक हेल्थ नर्स स्वय लगा सकती है, वह उन्हें लगाती है और शेष के लिए मातृ एवं शिशु-कल्याण-केन्द्रों, प्राथमिक-स्वास्थ्य केन्द्रों या अस्पताल आदि में लगवाने की व्यवस्था करती है। इन सब सेवाओ के लिए हेल्थ-विजिटर या पब्लिक-हेल्थ-नर्स आदि को माह में कम से कम एक बार धात्री मा तथा शिशु को घर पर जाकर सम्भाल करनी आवश्यक होती है।

पूर्व-स्कूल-गामी बच्चों के लिए स्वास्थ्य-संवर्धन-सेवा
(Health Care of Toddlers)

स्कूल-गमन पूर्व के बच्चों में उन बच्चों की गणना करते हैं जिनकी आयु 1 से 5 वर्ष तक हो। जब तक ये बच्चे 3 वर्ष की आयु प्राप्त नही कर लेते, इनकी देखभाल हेल्थ विजिटर या पब्लिक हेल्थ नर्स द्वारा पूरे मनोयोग से की जानी चाहिये। इन बच्चो की शारीरिक स्वच्छता, उनकी निरापद वृद्धि के लिए स्वच्छ वातावरण, समुचित पौष्टिक आहार, निवार्य रोगों के संरक्षण और रोग-प्रसितता के समय समुचित उपचार आदि की जिम्मेदारी पब्लिक हेल्थ नर्स की होती है। इस अवधि में बच्चों में यदि कोई शारीरिक दोष प्रकाश मे आये तो उसका सामयिक इलाज एवं शोधन भी इन्ही के द्वारा किया जाना चाहिये। इन बच्चों का आकस्मिक दुर्घटनाओ से रक्षण, और यदि दुर्घटना हो जाय तो अविलम्ब उपयुक्त उपचार करवाना भी इन्ही की जिम्मेदारी होती है। कार्यशील महिलाओं के बच्चों के लिये शिशु-पालन-गृहों की स्थापना और वहाँ उनकी समुचित देखभाल भी इसी सेवा का अंग बनता है। 3 से 5 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए नर्सरी स्कूलों की व्यवस्था की जानी चाहिये जहाँ वे स्वच्छ वातावरण में प्रारम्भिक शिक्षा-खेल ही खेल में प्राप्त कर सकें।

भारत में अभी इन स्वास्थ्य-संवर्धन सेवाओं का समुचित विकास नहीं हो पाया।

स्कूल-गमन पूर्व के बच्चों के लिए स्वच्छ वातावरण तथा शारीरिक सफाई जितने महत्व की है, उतने ही महत्व का है उनका संभरण तथा समुचित आहार, जो उनके अपेक्षाकृत अधिक गति से होने-वाले शारीरिक वर्धन एवं गठन के अनुरूप होना चाहिए। इन बच्चों को 3 वर्ष की आयु तक 1,200 कैलोरीज और 5 वर्ष की आयु तक 1,500 कैलोरीज की आवश्यकता होती है, तथा प्रोटीन 17 से 22 mg., कैलशियम 0·5 gm. आइरन 15 से 20 gm. विटामिन 'ए'–β केरोटीन 1,000 से 1,200 ug, विटामिन 'डी' 200 I.U, विटामिन 'सी' 30 से 50 mg. और विटामिन "बी ग्रुप" की अपनी अलग-अलग निर्धारित मात्राओं में आवश्यकता होती है जो दूध, दही, छाछ, पनीर, मिश्रित अनाज, दालें, हरी सब्जियों, फलों, तथा ताजे फलों से प्राप्त की जा सकती है। इनकी दैनिक खुराक में खाद्य पदार्थों की निम्न मात्राओं में आवश्यकता होती है :—

तालिका

एक से तीन और चार से पाँच वर्ष के बालकों के लिए सन्तुलित आहार (ICMR)

खाद्य पदार्थ	1 से 3 वर्ष		4 से 5 वर्ष	
	शाकाहारी ग्राम	मांसाहारी ग्राम	शाकाहारी ग्राम	मांसाहारी ग्राम
अनाज	150	150	200	200
दालें	50	40	60	50
सब्जियाँ हरे पत्ते वाली	50	50	75	75
,, जड़ वाली	30	30	50	50
फल	50	50	50	50
दूध, दही आदि	300	200	250	200
घी, तेल आदि	20	20	25	25
मांस, मछली, अण्डा आदि	—	30	—	30
शक्कर, गुड़	30	30	40	40

सम्भव है निम्न आर्थिक स्तर के बालकों को यह खुराक पूर्ण रूप से प्राप्त न हो सके; अतः ऐसे बालकों के लिए मातृ एवं शिशु-कल्याण-केन्द्रों से कुछ अतिरिक्त पोषण जिससे दूध-पाउडर तथा विटामिनों की व्यवस्था होती है, हेल्थ विजिटर द्वारा उपलब्ध कराने की यथोचित व्यवस्था की जाती है।

निवार्य रोगों से रक्षणार्थ प्रतिरोधात्मक टीके यथा-समय लगवाने की घरों पर या उपयुक्त स्थानों पर व्यवस्था की जाती है। अन्य रोगों, शारीरिक दोषों और दुर्घटनाओं के सम्यक् उपचार की विशेष व्यवस्था सामान्य अस्पतालों व बाल उपचार अस्पतालों में की जाती है।

काम-काज करने वाली माताओं के लिए शिशु-पालन-गृहों (Day Nurseries) की व्यवस्था-शासन नगर परिषद, या व्यावसायिक संस्थानों के प्रबन्धकों द्वारा की जाती है जहाँ माताएँ प्रतिदिन काम पर जाते समय अपने बच्चों को छोड़ जाती हैं। इन गृहों की सम्यक् व्यवस्था प्रशिक्षित हेल्थ नर्सों द्वारा की जाती है। बच्चों को भर्ती करते समय उनके स्वास्थ्य का पूर्ण निरीक्षण किया जाता है। यदि कोई बच्चा संक्रामक रोग से पीड़ित पाया जाता है तो उसे यहाँ नही रखा जाता—उसके लिए अन्य व्यवस्था-संक्रामक रोगी अस्पतालों आदि में की जाती है। इन गृहों में बच्चों को अच्छी आदतें सिखलाई जाती हैं। उनके नहाने, खाने-पीने, खेलने तथा सोने की सम्यक् व्यवस्था की जाती है।

V. स्वयं-सेवी दाइयों का यथोचित प्रशिक्षण

परम्परा से दाइयाँ प्रसव कराने का कार्य करती रही हैं—विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, लेकिन इन्हें अपेक्षित स्वच्छता, साज-सामान की शुद्धता, विसक्रमण एवं शुद्ध वातावरण का अधिक बोध नही होता। फलस्वरूप कितनी ही प्रसूता माताएँ प्रसवोत्तर-पूतिता से आक्रान्त होती है और मृत्यु का शिकार बनती हैं। शिशु सम्भाल का भी इन्हे अधिक बोध नही होता। प्रसव-पूर्व एवं प्रसवोत्तर देखभाल का भी इन्हे कोई विशेष ध्यान नही होता, फिर भी दाइयों की सेवाएँ तो लेनी ही होती हैं क्योंकि प्रशिक्षित मिडवाइफ, ऑक्जिलरी नर्स, मिडवाइफ आदि का वर्तमान मे अपेक्षित अभाव है। अतः इन्हे यथोचित प्रशिक्षण देना आवश्यक हो जाता है। इनके प्रशिक्षण का प्रबन्ध शासन एवं स्वयंसेवी संगठनों द्वारा प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, मातृ एवं शिशु कल्याण केन्द्रों आदि में किया गया है; जहाँ इन्हें लगभग 6 माह तक प्रशिक्षित किया जाता है। प्रशिक्षित दाइयों का पंजीकरण किया जाता है तथा उनके कार्य का सामयिक निरीक्षण भी किया जाता रहता है। प्रशिक्षित दाइयों को भेंट रूप में दाई बक्से दिये जाते हैं जिनमें आवश्यक साज-सामान होता है, विशेषकर सर्जीकल कैंची—नाभिनाल काटने के लिए, निर्जीवाणुक धागा—नाभिनाल बाँधने के

लिए, निर्जीवाणुक रुई, स्वाब व रासायनिक-घोल, साबुन, तौलिया, मैकिन्टोश, टॉर्च आदि। उक्त सामान की खपत हो जाने पर इसकी पुनः आपूर्ति कर दी जाती है। दाइयों को प्रसव-पूर्व तथा प्रसवोत्तर काल की साधारण देख-रेख या यथोचित ज्ञान कराया जाता है और प्रसव कराने की स्वच्छ विधि तथा प्रसव के समय अपनायी जाने वाली विधियों से भी भली-भाँति विज्ञ कराया जाता है।

12

स्कूलीय स्वास्थ्य-सेवा

बच्चों के शारीरिक एवं मानसिक विकास तथा उनके स्वास्थ्य रक्षण का दायित्व वैसे तो प्रथमतः माता-पिता पर ही होता है, पर शासन और समाज पर और भी अधिक होता है। बच्चे देश के भावी नागरिक होते हैं। देश की शक्ति और समृद्धि इन्ही के स्वस्थ, सबल एवं सक्षम होने पर निर्भर करती है। अतः माता-पिता के अनन्तर शासन एवं समाज को इनके स्वास्थ्य-संरक्षण की समुचित व्यवस्था करनी ही होती है। बहुत-से माता-पिता सम्भवतया अर्थाभाव के कारण या स्वय की उदासीनता एवं अज्ञानता के कारण इस दायित्व को पूर्णरूपेण निभा न पायें, और यदि निभाना भी चाहें तो समाज की ओर से कोई यथोचित व्यवस्था न होने पर वह ऐसा कर नहीं पाते। अतः गर्भ से ही बालक के सुस्वास्थ्य की व्यवस्था समाज को विभिन्न सेवाओं के माध्यम से करनी चाहिये। गर्भावस्था, शैशवकाल और स्कूल जाने की आयु तक बच्चों के स्वास्थ्य रक्षा की व्यवस्था मातृ एव शिशु-कल्याण-केन्द्रो के माध्यम से की जाती है और स्कूल जाने पर स्कूलीय-स्वास्थ्य-सेवाओं के माध्यम से। यह दोनों ही सेवाएँ बच्चो के सुस्वास्थ्य की सुदृढ़ नीव डालती हैं अतः ये दोनों ही अत्यन्त महत्त्व की हैं। मातृ एव शिशु-कल्याण-सेवाओं के सम्बन्ध मे हम यहाँ विशेष चर्चा नही करेंगे क्योंकि इस विषय पर गृह-विज्ञान के पाठ्यक्रम मे अलग से उल्लेख है। अतः हम यहाँ केवल स्कूलीय स्वास्थ्य सेवाओं पर ही विचार करेंगे।

बच्चों की शिक्षा एवं शैक्षणिक प्रगति निर्विघ्न होती रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि वे स्वस्थ रहें और उनका शारीरिक एवं मानसिक विकास समयानुकूल क्रमबद्ध होता रहे—उनमे कोई अप्रत्याशित विघ्न बाधा न पड़े। घर का वातावरण बच्चों का अपना अभ्यस्त वातावरण होता है; माता-पिता या अभिभावक के सरक्षण मे वे पलते हैं; उनकी देख-रेख में सुरक्षा की अनुभूति करते हुए वे अपने जीवन के प्रारम्भिक पग जमाते हैं; उन्हीं की शिक्षा और निर्देशन में वे अपनी आदतें डालते हैं; माता-पिता के आचार-विचार और व्यवहार पर वे अपनी स्वयं की कुछ धारणाएँ बनाते हैं और अपने भाई-बहिन या अन्य अड़ोस-पड़ोस के बच्चों के साथ अपनी मानसिक दुनिया बसाते हैं लेकिन स्कूल जाने पर उन्हें कुछ अन्य ही ...

मिलता है। माता-पिता के स्थान पर अध्यापक या अध्यापिका के संरक्षण में उन्हें निर्धारित समय के लिए स्कूल में नियन्त्रित रहना होता है; भिन्न-भिन्न क्षेत्र में आये भिन्न-भिन्न स्तर के बालक-बालिकाओं के संसर्ग में आना पड़ता है; एक वृहत् समूह का संगी-साथी होना होता है और उनके भिन्न-भिन्न व्यवहारों से समन्वय स्थापित करना पड़ता है, जिसकी उन पर कुछ अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं। इसके अनन्तर स्कूल की चार दिवारी में उन्हें अपना अधिकांश समय व्यतीत करना होता है, लेकिन यदि वहा का वातावरण स्वच्छ नही हो; कक्षा के कमरों का वातावरण स्वास्थ्यकर नही हो; उनका संचालन ठीक नही हो; हवा एवं प्राकृतिक रोशनी का ठीक से सचार नही हो; बैठक व्यवस्था अनुकूल नही हो; बच्चों की वैयक्तिक स्वच्छता सन्तोषप्रद नही हो; तो स्वाभाविक है कि बच्चो के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा ही। ऐसे वातावरण मे बच्चे श्वसन एव सम्पर्क-जनित रोगो के सक्रमण का खतरा मोल लेते है और यदि बच्चे कमजोर हैं, अल्पपोषित हैं, रक्तहीन और सक्रामक रोगों से प्रतिरक्षित नही हैं, तो उनके सक्रामित होने की सम्भावना और भी बढ जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ छात्रों में शारीरिक विकास की कुछ त्रुटियाँ या दोष भी हो सकते है—सम्भव है उनकी दृष्टि ठीक न हो, दूरी से वे अच्छी तरह देख न पायें, ठीक से सुन न पायें, मानसिक कमजोरी के कारण पढ़ाया हुआ पाठ ठीक से समझ न पाये, या अन्य किसी विकार के कारण पढाई में पिछड़े रहें और अध्यापक या अध्यापिका उनकी विवशता का सही अनुमान न लगाकर केवल उन्हें प्रताडित या तिरस्कृत करते रहें तो स्पष्ट है कि ऐसे बालक हीन-भावना के शिकार हो जायेंगे।

इसके विपरीत, यदि स्कूल का वातावरण स्वच्छ है, स्वास्थ्यकर है, बच्चो के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास का प्रतिपादक है, जो समुचित स्कूलीय स्वास्थ्य सेवाओं से ही सम्भावित होता है, तो निश्चय ही स्कूली छात्रों का यथोचित विकास होगा। स्कूलीय स्वास्थ्य सेवा से स्कूलगामी बच्चे, जिनकी सख्या लगभग आबादी का $\frac{1}{5}$ भाग होती है, अप्रत्याशित स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त कर पाते हैं। स्कूलों मे इस स्वास्थ्य-सेवा का निर्धारित कार्य भी आसानी से सम्पन्न हो जाता है क्योंकि स्कूलगामी बच्चे सामूहिक रूप से एक ही स्थान पर आसानी से सुलभ हो जाते है और उनका सामयिक स्वास्थ्य परीक्षण और स्वास्थ्य संरक्षण आदि आसानी से किया जा सकता है।

स्कूलीय स्वास्थ्य सेवा के उद्देश्य

(i) छात्रों का स्वास्थ्य संरक्षण (Health protection)

(a) समय-समय पर छात्रो का पूर्ण स्वास्थ्य परीक्षण।

(b) रोगो का सामयिक निदान और उपचार—प्राथमिक उपचार व्यवस्था।

(c) सक्रामक रोगों से प्रतिरक्षण।

केन्द्र के डाक्टर ही अंशकालिक स्कूल मेडिकल ऑफीसर का कार्य करते हैं। प्रथम स्वास्थ्य परीक्षण बच्चों के स्कूल प्रविष्टि पर किया जाता है। इसके बाद हर तीसरे वर्ष यह परीक्षण तब तक होता है जब तक कि छात्र स्कूल न छोड़े। उन छात्रों का, जिनमें कुछ दोष पाये गये थे तथा शोधन कार्य किया गया उनका, आवश्यकतानुसार बीच-बीच में भी परीक्षण करना होता है। छात्रों के अनन्तर सभी अध्यापकों और अन्य कर्मचारियों का भी स्वास्थ्य परीक्षण होता है जिससे उनके रोगी होने न होने का पता लगाया जा सके और उनके द्वारा छात्रों में रोग फैलने की सम्भावना रोकी जा सके।

स्वास्थ्य परीक्षण से छात्रों में अधिकांशतः जो रोग या दोष पाये जाते हैं वे हैं—सर्दी, जुकाम, खांसी, सिर-दर्द, ज्वर, त्वचा-रोग, स्केबिईज, दाद, नेत्र-श्लेष्मकला शोथ, ट्रैकोमा, पायोरिया (*Pyorrhoea*), दन्त-कोचर, ग्रसनी-शोथ बढ़े हुए टॉन्सिल्स या एडिनाइड्स, प्रवाहिका, पेचिश (अमीबा), आंत्रकृमि, फोड़े-फुन्सी, व्रण, व बढ़े हुए यकृत, तिल्ली आदि।

दोष-अल्पपोषण या कुपोषण के कारण—आंखों में जीरोसिस, बीटोट्स दाने, रतौंधी—विटामिन 'ए' की कमी के कारण; कटे-होंठ, फटी-जुबान व काइलोसिस विटामिन बी$_2$ की कमी के कारण; फूले मसूड़े और उनमें से रक्तस्राव व दांतों का ढीलापन—विटामिन 'सी' की कमी के कारण; रक्त हीनता—विटामिन बी$_{12}$, फोलासिन एवं आइरन की कमी के कारण अथवा आंत्र कृमि के कारण हड्डियों की कमजोरी एवं रिकेट्स—विटामिन "डी" की कमी के कारण; प्रारम्भिक अवस्था का क्वाशियोरकोर प्रोटीन की कमी के कारण व ग्वाइटर—आयोडीन की कमी के कारण आदि।

अन्य दोष—मायोपिया (Myopia)—दूरी पर कम दिखाई देना, विभिन्न श्रेणी का बहरापन, मानसिक कमजोरी, मिरगी, हृदयरोग—रुमेटिक हार्ट आदि।

इन दोषों का उपचार एवं शोधन सन्तुलित आहार व स्कूल में दिये जाने वाले अतिरिक्त आहार से, चश्मा एवं श्रवण उपकरणों आदि की व्यवस्था से और विशेषज्ञ उपचार सेवा से किया जाता है।

संक्रामक रोग से प्रतिरक्षण के लिए आवश्यकतानुसार, बी. सी.जी. डिपथीरिया, टेटनस व परटूसिस, पोलियो, कॉलेरा, टाइफाइड, आदि के टीके लगाये जाते हैं।

स्वास्थ्य संवर्धन

स्वास्थ्य संवर्धन की दिशा में सबसे पहले हमें स्कूल के वातावरण को स्वच्छ बनाना होता है। इसके लिए आवश्यक है कि स्कूल स्वच्छ एवं खुले स्थान पर बना हो, आसपास गन्दगी एवं कूड़े-कचरे के ढेर न हों, ऐसा कोई गन्दा स्थान न हो, जहाँ जल-जमाव से मच्छरों की उत्पत्ति होती हो, धूलि का वातावरण न हो, ऐसी फैक्टरी या कल-कारखाने न हों जिनसे धूआं, धूल, गैसीय उत्सर्जन, दुर्गन्ध या अत्यधिक शोरगुल पैदा होता हो, भारी यातायात स्कूल के पास से नहीं गुजरता हो,

पास में सिनेमाघर न हो और व्यस्त हाट बाजार आदि न हों। स्कूली भवन के चारों ओर समुचित संवातन के लिए खुले मैदान हों, खेल-कूद के मैदान हों और वृक्षादि भी हों। स्कूल भवन पक्का बना हो, यथा-सम्भव दोनों ओर बराण्डे हों, निर्धारित संख्या मे दरवाजे, खिड़कियाँ व वेन्टीलेटर्स हों, जिनसे हवा रोशनी का समुचित प्रसार होता रहे। यदि स्कूल-भवन दो मञ्जिला हो तो आपातकालीन अतिरिक्त जीना भवन के बाहरी ओर बना हो। स्कूल भवन इतना दूर भी न हो कि बच्चों का अधिक समय आने-जाने में ही व्यतीत हो जाय।

कक्षा के कमरे आवश्यकतानुसार लम्बाई-चौड़ाई के हों और उनकी ऊँचाई कम से कम 12 फुट की हो। प्रत्येक छात्र के लिए कम से कम 15 वर्ग फुट का स्थान नियत करना आवश्यक होता है। खिड़कियाँ और दरवाजे दांये-बांये हों—आगे-पीछे की दीवारों पर न हों ताकि छात्रों एवं अध्यापकों को सामने की रोशनी परेशान न करे। खिड़कियों, दरवाजों और वेन्टीलेटरों का क्षेत्रफल इतना हो कि लगभग 1800 Cu. ft. हवा का संचार प्रति घण्टे होता रहे। ब्लेक बोर्ड पर दांये-बांये से रोशनी पड़ती हो और वह पर्याप्त मात्रा में हो। फर्श पक्का, समतल व सपाट हो जिससे आसानी से सफाई की जा सके और पोंछा दिया जा सके।

बैठक व्यवस्था एवं क्लास-फर्नीचर—छात्रों के बैठक की व्यवस्था ऐसी हो कि दांयें-बांयें व पीछे की दीवारों से कम से कम 2 फुट की जगह छोड़ी जाय और दांई-बांई कतारों के बीच में भी उतनी ही जगह छोड़ी जाय; जिससे छात्रों के आने-जाने और अध्यापकों के चलने-फिरने के लिये समुचित स्थान बना रहे। बैठने के लिये कुर्सी-मेज या बेंच-डेस्क की व्यवस्था होती है, पर इसकी बनावट ऐसी हो कि छात्र को कोई असुविधा न हो और लिखते या पढ़ते समय उसे अधिक आगे या पीछे झुकना न पड़े। डेस्क की चौड़ाई लगभग 15″ से 18″ की होनी चाहिये और वह पढ़ने के लिए 45° और लिखने के लिए 15° ढ़ालू होनी चाहिये। इस प्रकार डेस्क समंजनीय (Adjustable) होनी चाहिये। डेस्क एवं बेंच या कुर्सी के बीच इतना अन्तर होना चाहिये कि छात्र अपने पांव आसानी से इच्छानुसार व्यवस्थित कर सकें। बेंच की ऊँचाई इतनी हो कि छात्रों के पाँव न तो फर्श से ऊपर ही लटके रहें और न ही उनके घुटने डेस्क से अड़ते रहें। बेंच या कुर्सी की पीठ कमर को यथार्थ सहारा देने वाली हो। अधिकांश बेंच या कुर्सी डेस्क से जुड़ी हुई होती है, अतः डेस्क की बेंच या कुर्सी से इतनी दूरी होनी चाहिये कि यदि डेस्क के किनारे से सीधी रेखा खींची जाय तो वह बेंच या कुर्सी की सीट पर पड़े या उसके अगले किनारे से मिले। पहले प्रकार की डेस्क को माइनस डेस्क (Minus Desk) और दूसरी को शून्य या जीरो (Zero) डेस्क कहते हैं। ये दोनों प्रकार की डेस्कें उपयुक्त होती हैं। तीसरी डेस्क ऐसी होती है कि उसके किनारे से खींची गई रेखा कुर्सी या बेंच के आगे की ओर कुछ दूरी पर गिरती है। इसे प्लस डेस्क (Plus Desk) कहते हैं। (चित्र 12)

यह डेस्क उपयुक्त नहीं होगी। ऐसी डेस्क से छात्रों को आगे झुका रहना पड़ता है जिससे उनके कमरे में एवं दृष्टि में विकार पैदा हो सकते हैं।
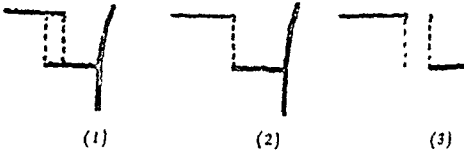
चित्र 12 : 1. (−) डेस्क, 2 (0) डेस्क 3. (+) डेस्क।

क्रीड़ा स्थल—स्वच्छ हों, कंकरे, कूड़े या मलबे से मुक्त हों, वहाँ व्यर्थ के गड्ढे न हों, उनमें गन्दे जल का भराव न हों, वहाँ दर्शक छात्रों के बैठने की यथोचित व्यवस्था हो, छोटे बालक-बालिकाओं के लिये रुचिकर क्रीड़ा साधन जैसे झूला, फिसलन सीढ़ी आदि लगे हों, बड़े छात्रों के लिये व्यायाम के साधन उपलब्ध हों और वहीं पर प्राथमिक उपचार की व्यवस्था भी हो।

स्वच्छ एवं सुरक्षित जल व्यवस्था—बच्चों को स्वच्छ, शुद्ध और शीतल जल मिलना ही चाहिये। इसके लिये स्थानीय सुविधानुसार व्यवस्था करनी पड़ती है। कई स्कूलों में प्याऊ लगाई जाती है जहाँ जल मटकों या मूणों में भरकर संग्रहीत किया जाता है, और अलग से एक व्यक्ति को पानी पिलाने के लिए नियुक्त किया जाता है। ऐसी स्थिति में मटकों व मूणों की समुचित सफाई और पानी पिलाने वाले व्यक्ति की शारीरिक सफाई का विशेष ध्यान रखना होता है और इस बात से पूर्ण आश्वस्त होना होता है कि वह व्यक्ति किसी भी रोग का रोगवाहक न हो। यदि जल सार्वजनिक जल प्रदाय योजना से नलों द्वारा प्राप्त होता है तब भी उसे छान कर ही मटकों मूणों में भरना चाहिये, लेकिन यदि अन्य स्रोतों से प्राप्त किया जाता है तब उसका क्लोरीनिकरण करना आवश्यक होता है। यदि प्याऊ की व्यवस्था न हो तो जल को स्वच्छ एवं सुरक्षित ढक्कनदार जलाशय—टंकी—में प्रतिदिन भरना होता है और उसमें प्रति 50 छात्रों पर एक नल लगाने की व्यवस्था करनी होती है। ऐसा जलाशय छायादार स्थान पर बनाना चाहिये जिससे जल ठण्डा रहे। यदि वाटर कूलर (Water Cooler) की व्यवस्था हो सके तो और भी उत्तम। कई शहरी स्कूलों में फाउन्टेन (Water fountain) भी लगाये जाते हैं जिसमें पानी की धार ऊपर की ओर निकलती है और बच्चे सीधे ही जलपान कर लेते हैं।

स्वच्छ शौचालय एवं मूत्रालय की व्यवस्था अत्यन्त ही महत्व की होती है। शौचालय वाहित मल के हों तो अति ही उत्तम, अन्यथा स्वतः साफ होने वाले गंभीर गर्त के हों; उनकी सफाई के लिये जल की पूर्ण व्यवस्था हो। प्रति 100 छात्रों के

लिये एक शौचालय और प्रति 50 छात्रों के लिए एक मूत्रालय होना आवश्यक है। लड़कियों के लिए इसी अनुपात में इनकी अलग से व्यवस्था करनी पड़ती है।

छात्रों की व्यक्तिगत स्वच्छता—प्रतिदिन अध्यापकों को छात्रों की व्यक्तिगत स्वच्छता का निरीक्षण करना चाहिये। उनके वस्त्र, हाथ-पाँव, नाखून, आँख, नाक आदि की परीक्षा करनी चाहिये और उनकी सफाई की व्यवस्था भी। यदि कोई बच्चे दाद, खुजली, स्केबिईज आदि से रुग्ण हों, तो उनके समुचित उपचार और पृथक्करण की व्यवस्था भी स्कूल डॉक्टर की सलाह से करनी चाहिये; और यदि कुछ बच्चों में जुएँ आदि की शिकायत हो तो उनके निराकरण की व्यवस्था भी करनी चाहिए। बहुत से स्कूलों में छात्रों के लिए उनकी निर्धारित पोशाक होती है। यदि किसी छात्र की पोशाक गन्दी है तो उसके माता-पिता को लिखित निवेदन करना चाहिये कि अगले दिन उसे स्वच्छ पोशाक पहनाकर ही भेजें। प्रत्येक छात्र के लिए व्यक्तिगत स्वच्छता की एक डायरी रखना उचित होता है जिसमें जब-जब भी जिस किसी छात्र में जो खामी पाई जाय, उसे अंकित की जाय और माता-पिता को उनके निवारणार्थ आदेश दिए जायें। उसी डायरी में बच्चों का तात्कालिक नाप तोल भी अंकित किया जाय।

अतिरिक्त पोषाहार व्यवस्था—बच्चे स्कूल में प्रातःकाल आते हैं और दोपहर के लगभग 3–4 बजे तक वहीं रहते हैं। स्वाभाविक है कि वे भूखे हो जाते हैं, अतः स्कूल में उनके अतिरिक्त पोषण की व्यवस्था होनी ही चाहिए। बच्चे यदि घर से कुछ टिफन लाते हैं तो उनके सुरक्षित रखने और गरम करने की व्यवस्था करनी चाहिए। फिर घर से लाया हुआ टिफन गरीब वर्ग के बच्चों के लिए सन्तुलित और यथोचित पोषणीय हो पाता है या नहीं, इसकी आशंका बनी ही रहती है। वास्तव में बच्चों को उनके शारीरिक वर्धन के अनुरूप समुचित पोषण प्राप्त होना ही चाहिये—विशेषकर प्रोटीन, खनिज पदार्थ एवं भाँति-भाँति के विटामिन। इन्हीं पदार्थों को स्कूलीय पोषाहार व्यवस्था में अतिरिक्त पोषण के रूप में प्राप्त कराना हितकर होता है। इस व्यवस्था में स्कूलों की ओर से ही दोपहरी का प्रबन्ध करना हितकर होता है। प्रत्येक छात्र पर लगभग 45 से 50 पैसे प्रतिदिन खर्च करना उपयुक्त होता है। यह खर्च तो छात्रों के अभिभावकों से वसूल किया जा सकता है और कुछ शिक्षा विभाग के अनुदान से और शेष समाज-सेवी संस्थाओं से। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से भी विशेषकर UNICEF, FAO, WHO, व CARE से सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। ये संस्थाएँ व्यावहारिक पोषण-योजना के अन्तर्गत स्कूलों को विशेष सहायता देती हैं। स्कूलीय बच्चों के अतिरिक्त पोषण हेतु "स्कूलीय दोपहरी सम्भरण योजना" (mid-day meals programme) सन् 1960 में प्रारम्भ की गई जिसमें लगभग एक करोड़ साठ लाख बच्चों को दोपहरी सम्भरण कराया जाता है (1981)। सम्भरण हेतु विभिन्न क्षेत्रों में आसानी से उपलब्ध खाद्य पदार्थों का ही चयन किया जाता है।

स्कूल की ओर से दोपहरी की पोषण-व्यवस्था में बच्चों को अतिरिक्त पोषण तो प्राप्त होता ही है, साथ ही बच्चों में, और उनके द्वारा उनके अभिभावकों में, पोषण सम्बन्धी कुछ बोधगम्य तथ्यों का भी प्रसार होता है। बच्चों को दोपहरी में दूध, मौसमी फल अंकुर निकले अनाज, मूंगफली गुड़; भुने चावल; भुने चने और गुड़; चावल, भुनी मूंग की दाल, मूंगफली का चूरा और शक्कर या गुड़ क्रमशः 50, 25 15 व 30 ग्राम का मिश्रण करके पकाया गया दलिया; गेहूँ, मूंग की दाल, मूंगफली व गुड़ से बनाए गए लड्डू–जिसमें 30 ग्राम गेहूँ, 20 ग्राम मूंग की दाल, 8 ग्राम मूंगफली व 20 ग्राम गुड़ लेकर गेहूँ, दाल व मूंगफली को अलग-अलग भूनकर चूरा बनाकर गुड़ की चासनी में लड्डू बनाये जाते हैं; टोस्ट; बिस्कुट; टमाटर; शिकंजी आदि दिए जा सकते हैं।

शारीरिक व्यायाम एवं खेलकूद—स्कूली बच्चों के शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए व्यायाम और खेलकूद उतना ही आवश्यक है जितना कि शैक्षणिक पाठ्यक्रम। प्रत्येक कक्षा के लिए ड्रिल व फिजिकल ट्रेनिङ्ग का एक घण्टा अलग से निर्धारित होना चाहिए। ड्रिल व फिजिकल ट्रेनिङ्ग आयु के अनुरूप इस ढंग से कराई जाए कि बच्चे उनमें दिनों-दिन रुचि लें, न कि अत्यधिक थकावट के कारण जी चुराने लगें। ड्रिल, परेड, NCC ट्रेनिङ्ग व भांति-भांति के खेलकूद जिनमें बच्चो की स्वाभाविक रुचि प्रदर्शित हो–अनिवार्य रूप से सिखाते जायें और उनमे इन्हे उत्तरोत्तर दक्ष बनाया जाय। खेल के मैदान से बच्चो में सामूहिक सद्व्यवहार शिष्टाचार एवं अनुशासन की नींव जमती है और उनकी व्यवहार-कुशलता बढ़ती है। उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास के अतिरिक्त उनका सामाजिक सुस्थापन भी अच्छी तरह हो पाता है और वे अच्छे शिष्ट नागरिक बन पाते हैं।

स्वास्थ्य शिक्षा—बच्चों को स्वास्थ्य शिक्षा दो प्रकार से दी जा सकती है। एक व्यावहारिक रूप में और दूसरी शैक्षणिक रूप में। व्यावहारिक स्वास्थ्य शिक्षा स्कूलीय स्वस्थ वातावरण के माध्यम से, बच्चों में स्वच्छ आदतें डालने से, उनकी व्यक्तिगत स्वच्छता बनाये रखने से, और अध्यापक एवं अध्यापिकाओ की स्वच्छ आदतो का अनुसरण करने से। शैक्षणिक स्वास्थ्य शिक्षा मे बच्चों को स्वास्थ्य-नियमों से अवगत कराने, स्वास्थ्य विषयों की जानकारी एवं पठन-पाठन कराने, प्रदर्शनी एव चलचित्रों से स्वास्थ्य-विषयों का सारगर्भित बोध कराने और स्वास्थ्य-प्रतियोगिताओ से उनमें इस ओर अभिरुचि जगाने का सक्रिय प्रयास किया जाता है।

स्कूल एवं खेल के मैदानों की वाञ्छित सफाई, कूड़े-कचरे का समुचित निकास एवं निस्तारण, कचरा ढोलों का प्रयोग, स्कूल भवन में अनुकूल स्थानों पर थूकदानों की व्यवस्था, स्वच्छ शौचालय एवं मूत्रालय, समुचित प्रक्षालन व्यवस्था, सुरक्षित पेयजल व्यवस्था, दोपहरी-भोजन के माध्यम से भोजन के पूर्व व्यक्तिगत स्वच्छता एवं भिन्न-भिन्न खाद्य पदार्थों की पोषणीय उपयोगिता आदि ऐसे व्यावहारिक स्वास्थ्य शिक्षा साधन हैं कि जिनसे बच्चो मे स्वास्थ्य-कर आदतों का प्रादुर्भाव होता है।

शैक्षणिक स्वास्थ्य-शिक्षा के लिए बच्चों के पाठ्यक्रम में इस विषय को अनिवार्य रूप में रखना होता है और उसमें व्यक्तिगत स्वच्छता; शरीर रचना और शरीर के क्रिया-कलाप; विविध अवयवों का कार्य और उनका महत्व, आहार और पोषाहार, मक्खी, मच्छर, पिस्सू आदि जन्तुओं का उत्पात और उनके द्वारा फैलाए जाने वाले रोग; इन जन्तुओं का प्रतिकार; सामान्य रोग और उनके प्रतिरक्षात्मक उपाय; स्वच्छ जल, वायु आदि विषयों पर मोटे तौर पर जानकारी देनी होती है और समय-समय पर स्वास्थ्य-नियमों पर आधारित कुछ चित्रमय प्रचार सामग्री भी वितरित करनी होती है जिससे बच्चों के द्वारा माता-पिता एवं अभिभावकों में भी इसका वाञ्छित प्रचार हो सके। स्वास्थ्य-शिक्षण के लिए अध्यापकों एवं अध्यापिकाओं को प्रशिक्षित करना भी अनिवार्य है जिसके लिए शिक्षा एवं स्वास्थ्य-विभागों को सम्मिलित प्रबन्ध करना चाहिए। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, स्वास्थ्य-प्रदर्शनियों और चल-चित्रों का स्वास्थ्य-शिक्षण पर अत्यन्त ही लाभकारी प्रभाव पड़ता है, अतः इस माध्यम का उपयोग सर्वथा वाञ्छनीय होता है।

अध्यापक-अभिभावक सम्मेलन बच्चों के शिक्षण एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिए अत्यन्त ही आवश्यक होते हैं। स्वास्थ्य-संरक्षण, संक्रामक रोगों के खिलाफ समय-समय पर लगाये जाने वाले टीके, समुचित पोषण, शारीरिक परीक्षण के दौरान पाये गए शारीरिक या मानसिक दोषों के निराकरण हेतु समुचित उपचार व्यवस्था—इन विषयों पर इन सम्मेलनों में अच्छी तरह से विचार-विनिमय हो सकता है और अभिभावकों का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। कुछ दोषपूर्ण बच्चों को सम्भव है विशेष स्कूलों में भर्ती कराना पड़े और उस स्थिति में इन सम्मेलनों में—जहाँ स्कूल मेडिकल ऑफिसर भी उपस्थित होते हैं—व्यवस्था सम्बन्धी मंत्रणा की जाती है और समुचित कार्यवाही की जाती है। वैसे तो बच्चों के शारीरिक दोषों का उपचार या शोधन स्कूल क्लिनिक, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, जिला अस्पताल, भ्रमणशील अस्पताल या प्रान्त के बड़े-बड़े अस्पतालों में कराया जा सकता है, या बड़े-बड़े अस्पतालों से आमन्त्रित विशेषज्ञों की टोलियों द्वारा जो समय-समय पर निर्दिष्ट स्थानों पर जाती हैं—कराया जा सकता है; लेकिन कुछ ऐसे दोष भी होते हैं जिनके लिए विशेष संस्थागत उपचार की आवश्यकता होती है और इसके लिए विशेष स्कूलों की व्यवस्था करनी होती है जिनमें उपचार के साथ-साथ शिक्षण भी होता रहे। ऐसी संस्थायें सरकार तथा स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा चलाई जा रही हैं जिनमें मानसिक मन्दता (Mental Retardation), बाल अपचार, (Deliquency) व्यवहार या आचरण विकार (Behaviourial disorders), मिरगी (Epilepsy), अस्थि या जोड़ों का विकार, दृष्टिहीनता, बहरापन या मूक अवस्था के बालकों को भर्ती कराया जाकर उपचार एवं शिक्षण दिया जाता है।

फर्स्ट एड बॉक्स—प्रत्येक स्कूल में फर्स्ट एड बॉक्स की व्यवस्था होनी चाहिए और प्राथमिक उपचार के लिए किसी अध्यापक या अध्यापिका को एवं कुछ बड़े

छात्रों को प्रशिक्षित करना चाहिए। फर्स्ट एड बॉक्स में टिंचर आयोडीन, टिंचर बेनजोइन; एमोनिया, (Smelling Salt), डेटोल; कोनीन; एस्प्रीन की गोलियाँ, स्प्रिट, हाइड्रोजन-पर-ऑक्साइड, स्पिरिट-ऐमोनिया-एरोमैटिक; बोरिक या जिंक ऑक्साइड मरहम, स्टेरेलाइज्ड रुई, गॉज, बैंडेज व पट्टियाँ, विभिन्न प्रकार की स्प्लिन्ट्स, थर्मामीटर, टूर्निकेट, ड्रॉपर, कैंची, चिमटी, पट्टियाँ, सुरेरी आदि होने चाहिए।

बच्चों में स्वास्थ्यकर आदतें डालने के लिए निम्न बातों पर विशेष बल देना चाहिए—

(i) जल्दी सोना और सूर्योदय से पहले उठना।

(ii) सोते समय कमरे की खिड़कियाँ खुली रखना और मुँह ढककर नहीं सोना।

(iii) नियमित समय पर शौच जाना और शौच व मूत्र त्याग के बाद हाथों को अच्छी तरह साबुन से धोना।

(iv) प्रातः और सायं-सोने से पहले-दन्त-मन्जन करना।

(v) प्रतिदिन नहाना और स्वच्छ वस्त्र धारण करना।

(vi) भोजन निर्धारित समय पर करना—भोजन में यथासम्भव ताजे फल और कच्ची खाने योग्य सब्जियाँ कच्ची ही काम में लेना।

(vii) दूध अवश्य पीना; यदि दूध न मिले तो कम से कम एक गिलास छाछ ही पीना; चाय, कॉफी न पीना ही हितकर है।

(viii) दिन भर में कम से कम 6–7 गिलास पानी अवश्य पीना।

(ix) जगह-जगह थूकना या नाक साफ नहीं करना। स्वच्छ रुमाल का सदा प्रयोग करना।

(x) मुँह में पेन्सिल, होल्डर, तिनका आदि न रखना और नाखून न चबाना।

(xi) सीधे बैठकर पढ़ना, अच्छे प्रकाश में पढ़ना किन्तु सूर्य की रोशनी या धूप पुस्तक पर सीधी न पड़ने देना; और

(xii) सदा प्रसन्न भाव बनाए रखना।

13
ग्रामीण—स्वास्थ्य

भारत की 80 प्रतिशत जनता गांवों मे वसती है। गांवों में ही कृषि का अधिकतम उत्पादन होता है; अत: ग्राम हमारी आर्थिक व्यवस्था के केन्द्रक बनते हैं। गांवों का सीधा सादा जीवन और सौम्य एवं सौहार्द्रपूर्ण वातावरण आज भी अपनी गरिमा लिये हुए है, परन्तु वहां का स्वास्थ्य सम्बन्धी वातावरण कुछ उपेक्षित सा बना हुआ है। गांवों का स्वास्थ्य यदि वाञ्छित स्तर का नहीं बन पाया तो देश का सार्वजनिक स्वास्थ्य भी यथोचित स्तर का बन नहीं पायेगा। अत: ग्रामीण स्वास्थ्य की उपेक्षा करना सर्वथा अवाञ्छनीय होता है।

स्वाधीनता के पूर्व गांवों में स्वास्थ्य और स्वच्छ वातावरण की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया जाता था। गांव बसते थे, मकान बनते थे, गांवों का परिवर्धन होता था पर यह सब अव्यवस्थित-ढंग से और आज भी अनेकों गांवों की यही स्थिति बनी हुई है; क्योंकि बसे बसाये गांवों को पुन: व्यवस्थित ढंग से बसाना अत्यन्त ही दुस्तर कार्य होता है। उन दिनो ग्राम सफाई की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया जाता था; जगह-जगह कूड़े-कचरे के पुराने ढेर लगे रहते थे; बच्चे व बड़े बूढ़े भी वहीं पर शौच करते थे; शौचालयों की कोई व्यवस्था नही थी; मक्खी-मच्छर का भारी उत्पात बना रहता था; सुरक्षित जल व्यवस्था का कोई प्रबन्ध नही था और अधिकांश लोग जल एवं भोजन वाहित रोगों व अन्य संक्रामक रोगों के शिकार होते थे।

स्वाधीनता के बाद ग्रामीण स्वास्थ्य-संवर्धन की ओर विशेष रूप से शासन एवं समाज का ध्यान आकृष्ट हुआ। भोर कमेटी की सिफारिशों के अनुसार इस दिशा में यथार्थ प्रयास आरम्भ हुआ। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों व उपकेन्द्रों की स्थापना होने लगी और उनके माध्यम से संक्रामक रोगों के उन्मूलन तथा नियन्त्रण कार्यक्रमों से ग्रामीण क्षेत्रो में स्वास्थ्य-सेवाओ का विस्तार होने लगा और जो कुछ भी सफलता अब तक प्राप्त हुई है वह उत्साहवर्धक अवश्य है पर अभी अभिलषित लक्ष्य-प्राप्ति के लिए-विशेषकर ग्राम सफाई और स्वास्थ्यकर वातावरण बनाने की दिशा में बहुत कुछ करना बाकी है।

गांवों के स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर वातावरण से लिए आवश्यक है कि :—

1. गांव व्यवस्थित ढंग से बनाये जायें और बसे बसाये गावों में भी यथासाध्य सुधार किये जायें।

2. मकान स्वास्थ्यकर बनाये जायें।
3. मवेशियों के आवास की अलग से व्यवस्था हो।
4. कूड़े-कचरे के निकास की यथोचित व्यवस्था हो।
5 स्वतः साफ होने वाले शौचालयों की व्यवस्था हो।
6. घरों से गन्दे पानी का यथोचित निकास हो।
7. स्वच्छ एवं सुरक्षित जल व्यवस्था हो।
8 मक्खी, मच्छर, चूहे, आवारा कुत्ते आदि का निराकरण हो और
9. मरघट एवं कब्रिस्तान आदि की नियन्त्रित व्यवस्था हो।

ग्रामीण स्वास्थ्य संवर्धन के लिए आवश्यक है कि—
1. ग्रामीण जनता को आवश्यक चिकित्सा सेवा उपलब्ध हो।
2. मातृ एवं शिशु कल्याण सेवा उपलब्ध हो।
3. परिवार कल्याण सेवा एवं परिवार नियोजन सेवाएँ उपलब्ध हों।
4. स्कूलीय स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध हो।
5. व्यावहारिक पोषण व्यवस्था का लाभ प्राप्त हो।
6. प्रतिरक्षात्मक टीकों का सामयिक लाभ प्राप्त हो, और
7. समुचित जन-सम्पर्क से स्वास्थ्य शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार हो।

गाँवों का स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर वातावरण

गाँवों का वातावरण स्वच्छ रहे इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता यही है कि गाँव व्यवस्थित ढंग से बसाये जायें। नये बसाये जाने वाले गाँव या वे गाँव जो बाढ़ या अन्य दैवी प्रकोप के कारण ध्वस्त हो गये हो, फिर से बसाये जाने पर, ठीक से आयोजित किये जायें। इन्हें ऊँचाई की जगह पर बसाया जाय। मकानों का निर्माण यथासम्भव कतारों में किया जाय। उनके आगे-पीछे निर्धारित खुली जगह छोड़ी जाय। सड़कें व गलियें कम से कम 2 बैलगाड़ियों के साथ-साथ चलने योग्य चौड़ी बनाई जाय। सड़कों के दोनों ओर पक्की ढालू नालियां बनाई जायें। नालियों के पानी का निकास सोखते खड्डों में या शाक सब्जी की बाड़ियों में किया जाय। गाँव में निर्धारित स्थान पर हाट बाजार, दुकानें, अनाज-गोदाम, पशुशालायें, पंचायत-घर, स्कूल, औषधालय, व्यायाम-शालाएँ, खेलकूद के मैदान, प्रार्थना भवन या मन्दिर-मस्जिद आदि बनाये जायें। जल स्रोतों को सुरक्षित बनाया जाय। कूड़े-कचरे के निकास के लिए कम्पोस्ट स्थल बनाये जायें और उनका व्यवस्थित ढंग से प्रयोग किया जाय। मकानों एवं सार्वजनिक भवनों में स्वच्छ शौचालयों की व्यवस्था की जाय और गाँवों के आस-पास कूड़े-कचरे के ढेर या गन्दे पानी का जमाव न होने दिया जाय। बसे बसाये गावो में भी यथासम्भव इसी तरह की व्यवस्था करने का प्रयास किया जाय। गावो में यथासम्भव अच्छे छायादार पेड़ भी लगाये जायें।

मकान कम से कम एक फुट ऊँचाई के स्तम्भ पीठ (Plinth) पर बनाये जायें। इनकी दीवारें व छतें यदि कच्ची भी हों तो भी कोई बात नहीं फर्श तो पक्का ही होना चाहिए। मकान के आगे कम से कम 10 फुट और पीछे आवश्यकतानुसार खुली जगह छोड़ी जाय। मकान में 5 या 6 सदस्यों के परिवार के लिए कम से कम 2 या 3 कमरे 12 × 12 फुट के, वस्तु भण्डार 8 × 8 फुट का, रसोईघर 8 × 8 फुट का और आगे पीछे 6 फुट चौड़े वराण्डे रक्खे जायें। पीछे के चौक में स्नानागार, शौचालय, खाद के खड्डे व
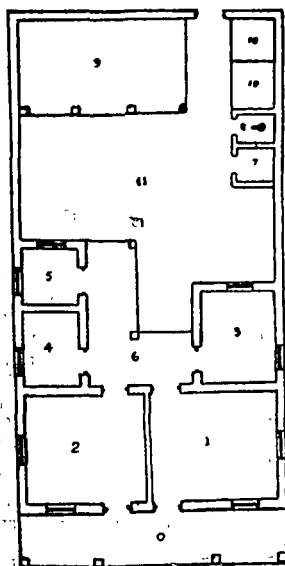
चित्र 13·1 : 1, 2, 3. कमरे, 4 वस्तु भण्डार, 5 रसोईघर, 6. वराण्डे 7 स्नानागार, 8 शौचालय, 9 पशुशाला, 10 खाद के खड्डे, 11 चौक

पशुशाला आदि आवश्यकतानुसार बनाये जायें चित्र (13.1)। कमरों में दरवाजे, खिड़कियाँ व रोशनदान हों। रसोईघर में मगन चूल्हे की व्यवस्था हो। वस्तु-भण्डार में शिलापट्ट या तिपाइयां आदि हों ताकि सभी वस्तुएँ उन पर रखी जायें। पीछे के बराण्डे में परीण्डा हो जहां जलपात्र-मटके आदि सुरक्षित ढंग से रखे जा सकें। यदि कमरों के दरवाजे-खिड़कियों पर चिक या परदों डाली जा सके तो और भी उत्तम। फर्श की प्रतिदिन सम्यक् सफाई हो और मकान की कम से कम वर्ष में एक बार पोताई, लिपाई या सफेदी करवाई जाये। प्रत्येक मकान के पीछे के चौक में स्नानागार अवश्य बनवाया जाय और उसका तथा रसोई आदि का धोने-धाने का पानी सोख्ते खड्डों में या घरेलू शाक-सब्जियों की क्यारियों में निकासित किया जाय। शौचालय हर घर में अवश्य बनवाये जायें; और ये गर्त, गभीर-गर्त, जलीय या बोर-होल प्रकार के हों। यदि किसी कारणवश शौचालय प्रत्येक घर में न बनवाये जा सकें तो गभीर गर्त या गभीर खात किस्म के सार्वजनिक शौचालय गाँव में या गाँव के बाहर उपयुक्त स्थानों पर बनवाये जायें। इन शौचालयों के रख-रखाव की भी समुचित व्यवस्था की जाय।

मवेशियों के लिये मकान के पिछवाड़े में यथोचित आवासीय व्यवस्था की जाय। उन्हें मकान के आगे-पीछे के बराण्डों में न रखा जाय। यदि गांव में सार्वजनिक रूप से पशुशालाओं की व्यवस्था हो सके और वहां सुरक्षा और पहरे आदि का प्रबन्ध हो सके तो यह और भी अच्छा रहता है।

कूड़े-कचरे एवं पशुमल के निष्कासन के लिए आवश्यकतानुसार लम्बाई-चौड़ाई और अधिक से अधिक 3 फुट की गहराई के खाद खड्डे बनवाये जायें। ये खड्डे प्रत्येक घर के पीछे के बाड़े में बनवाये जायें या सार्वजनिक रूप से गांव में या गांव के बाहर। सार्वजनिक खाद-खड्डों का रख-रखाव और प्रत्येक बार कचरा डालने के बाद मिट्टी डलवाने आदि की व्यवस्था ग्राम पंचायत की देख-रेख में पंचायत कर्मचारियों द्वारा कराई जाय। सार्वजनिक खड्डों में बने खाद के अनुपातित वितरण की व्यवस्था भी ग्राम पंचायत या ग्राम मुखिया के द्वारा की जाय। यदि कूड़ा-कचरा अधिक हो और ग्राम पंचायत के पास समुचित साधन उपलब्ध हों तो कम्पोस्ट विधि से इसके निस्तारण की व्यवस्था करना उत्तम होगा। कहीं-कहीं भस्मकारी संयत्र का भी प्रयोग किया जा सकता है।

गांवों में अधिकांश जल कुँओं, तालाबों, या बावड़ियों से प्राप्त होता है, अतः कुँओं और तालाबों को सुरक्षित बनाया जाय और बावड़ियों को कुँओं में परिवर्तित किया जाय। इन स्रोतों के जल का आस-पास की गन्दगी से संरक्षण किया जाय और समय-समय पर इनके जल का परीक्षण करवाया जाय और आवश्यकतानुसार क्लोरीनिकरण किया जाय। यदि नलकूप बनवाये जा सकें तो और भी उत्तम।

मच्छर, मक्खी व चूहों आदि के निराकरण के लिये वे सभी उपाय अपनाये जायें जो पूर्व में यथास्थान उल्लिखित हैं। गन्दे जल का समुचित निकास, व्यर्थ के खड्डों

की भी समुचित व्यवस्था करनी चाहिये और उन्हें तुरन्त दफनाने की चेष्टा भी ग्राम पंचायतों या ग्राम मुखियाओं को करनी चाहिये ।

स्वास्थ्य संवर्धन की दृष्टि से ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सेवाओं की यथोचित व्यवस्था करनी चाहिये । इस समय ये सेवाएँ मुख्यतया प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों व उनके उपकेन्द्रों से उपलब्ध कराई जाती है और इनके अतिरिक्त विभिन्न रोग उन्मूलन या नियन्त्रण कार्यक्रमों के अन्तर्गत स्वास्थ्य टोलियों के माध्यम से । समय-समय पर ग्रामीण क्षेत्रों में भ्रमणशील शल्य चिकित्सा शिविरों का भी आयोजन किया जाता है, जिससे विशिष्ट चिकित्सा सेवाएँ और विशेषज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध होती हैं । राजस्थान में एक भ्रमणशील शल्य-चिकित्सा-अस्पताल, जिसमें 500 रोगी शय्याओं की व्यवस्था है, अत्यन्त ही प्रशसनीय कार्य कर रहा है । प्रतिवर्ष यह अस्पताल, मय दलबल के ग्रामीण क्षेत्रों में अपने शिविर लगाता है जिसमें जटिल से जटिल ऑपरेशन किये जाते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ मेडिकल कॉलेजों से सम्बन्धित भ्रमणशील अस्पताल भी हैं जिनमे 50–50 रोगी शय्याएं हैं । ये भी अपने-अपने क्षेत्रों में शिविर लगाते हैं ।

प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र प्रचलित रोगों का इलाज, क्षेत्रीय स्वास्थ्य समस्याओं का सर्वेक्षण और उनका समाधान, मातृ एवं शिशु-कल्याण-कार्य, स्कूलीय-स्वास्थ्य-सेवा, परिवार नियोजन, संक्रामक रोगों की रोकथाम, प्रतिरोधात्मक टीके, पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य शिक्षा आदि का कार्य करता है और स्वच्छ एवं सुरक्षित जल संभरण व्यवस्था व स्वच्छ वातावरण बनाये रखने हेतु खाद-खड्डो, सोक्ते खड्डों व स्वच्छ शौचालयों आदि के निर्माण में सक्रिय सहयोग एवं सलाह देता है । प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र सीमित क्षेत्रों मे अधिक से अधिक स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध करा सकें, इसके लिये यह आवश्यक है कि इनकी संख्या बढाई जाए । अभी एक केन्द्र लगभग 80 हजार की आबादी के लिये है जो अपर्याप्त है । भोर कमेटी ने दीर्घकालिक योजना में 20 हजार की आबादी पर एक स्वास्थ्य-केन्द्र स्थापित करने की सिफारिश की है । इस दिशा में अच्छी प्रगति हो रही है । विशेष विवरण अध्याय एक में दिया जा चुका है ।

गांवों में बच्चों एवं प्रसूति व धात्री माताओं का पोषण अधिकांशतः निम्न स्तर का होता है, अतः यह आवश्यक है कि उनके पोषण में विशेष सुधार किया जाय । इसके लिये प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के माध्यम से यथासम्भव दूध पाउडर से बनाये गये दूध से अतिरिक्त सम्भरण की व्यवस्था की जाती है, किन्तु सीमित साधनों के कारण इसका लाभ इन महिलाओं को विस्तृत पैमाने पर नहीं पहुँचाया जा सका है, अतः अब व्यावहारिक पोषण योजना को अनेक विकास खण्डों मे लागू किया गया है । इस योजना के अन्तर्गत पौष्टिक खाद्य पदार्थों का उत्पादन, वितरण, सम्भरण और प्रशिक्षण का कार्य किया जा रहा है और इस योजना में शिक्षा, सामुदायिक विकास, स्वास्थ्य, सहकारिता, समाज कल्याण एवं पशुपालन विभागों का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा रहा है । इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा भी सहयोग प्राप्त हो रहा है । इस योजना मे [illegible], अण्डे उत्पादन, स्थानीय

जलाशयों में मछली प्रजनन, स्कूली आहातो में फलों व सब्जियो की वाड़ियों का स्थापन, घरों में उपलब्ध भूमि पर सब्जी उत्पादन, सहकारिता के आधार पर फलों के बगीचों का स्थापन आदि का कार्य किया जा रहा है। उत्पादित खाद्य पदार्थों का सहकारी समितियों द्वारा, समीपस्थ बाजारों में विक्रय का प्रबन्ध किया जाता है और 10% खाद्य सामग्री का उपयोग व्यावहारिक पोषण प्राप्त कराने में किया जाता है। सम्भरण केन्द्रों पर इस सामग्री से सन्तुलित आहार के भांति-भांति के व्यंजन बनाये जाते हैं और बच्चों गर्भवती एवं धात्री माताओं को खिलाये जाते हैं। साथ ही उन्हें इन व्यञ्जनों के बनाने का प्रशिक्षण भी दिया जाता है जिससे उनका पोषण सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान बढ़े और उनके खान-पान सम्बन्धी आदतों में भी सुधार हो। इस योजना का व्यापक स्तर पर विस्तार करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

स्वास्थ्य शिक्षा के लिए ग्रामीण जनता को स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी विषयों पर अधिकाधिक जानकारी देने की आवश्यकता है, जिससे उन्हे स्वस्थ जीवनयापन की दिशा मे समुचित मार्गदर्शन मिले और स्वास्थ्य योजनाओ के क्रियान्वयन मे उनका सक्रिय सहयोग भी मिलता रहे। स्वास्थ्य शिक्षा, प्रशिक्षित स्वास्थ्य प्रचारको द्वारा दी जाती है और इसके लिये व्यक्तिगत या सामूहिक सम्पर्क स्थापित किया जाता है। इसमें ग्रुप-वार्ताएँ, सामूहिक वार्ताएँ एवं व्याख्यान, रेडियो व दूरदर्शन पर चर्चाएँ, चलचित्र प्रदर्शन, कठपुतली के खेल, नाटक, भजन-कीर्तन, स्वास्थ्य-प्रदर्शनो आदि के माध्यम से स्वास्थ्य विषयों पर रोचक रूप में प्रकाश डाला जाता है।

14
भारतीय स्वास्थ्य सेवाएँ

स्वास्थ्य सेवाओं का जब भी उल्लेख किया जाता है तो उसमें उपचारीय (Curative) व निरोधक (Preventive) दोनों ही सेवाओं के समावेश का अभिप्राय होता है। भारतीय संस्कृति में इन दोनों ही सेवाओं की सदियों पूर्व से, विशिष्टता रही है। उपचारीय सेवाएँ आयुर्वेद व चरक एवं सुश्रुत संहिताओं के आधार पर धन्वन्तरी औषधालयों के माध्यम से उपलब्ध कराई जाती थी। तक्षशिला एवं नालन्दा विश्वविद्यालयों में उपचारीय विज्ञान का विशिष्ट अध्ययन कराया जाता था और प्राणाचार्य व प्राण-विशारद की उपाधियाँ प्रदान की जाती थीं। सम्राट् अशोक के समय मे पुरुषों, महिलाओं और पशुओं के लिये अलग-अलग अस्पतालों की व्यवस्था थी। निरोधक सेवाओं मे स्वास्थ्य नियमों के पालन और स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर वातावरण के संस्थापन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। स्वच्छ वातावरण का स्तर कितना ऊँचा था इसका प्रमाण आज भी सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेषों में मिलता है। हमारी उस समय की उन्नत सभ्यता का विदेशीय आक्रमणों के फलस्वरूप अधःपतन होता गया और अन्यान्य सार्वजनिक सेवाओं के साथ-साथ स्वास्थ्य सेवाओं का भी ह्रास होता गया। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में उपचारीय सेवाओं के प्रस्थापन का कुछ प्रयास अवश्य किया गया पर केवल सीमित रूप में, सीमित क्षेत्र ही मे–शहरी क्षेत्रों मे–और वह भी आवश्यकता के अनुपात में अत्यन्त ही अपर्याप्त परिमाण मे। निरोधक सेवाओं का तो कोई विशेष शुभारम्भ हो ही नही पाया। स्वाधीनता के पूर्व स्वास्थ्य सेवाओं का भारत मे क्या स्तर था, इस पर कुछ प्रकाश प्रथम अध्याय में डाला जा चुका है किन्तु स्वाधीनता के बाद क्या स्वरूप बना, इस सम्बन्ध में थोड़ा-सा उल्लेख यहाँ कर देना अनुपयुक्त नही होगा।

अगस्त, सन् 1947 मे भारत स्वाधीन हुआ। सन् 1950 में इसका संविधान बना। सदियों की पराधीनता के बाद भारत एक स्वतन्त्र लोकतन्त्र के रूप में उभरा। उसने अपने संविधान मे समाजवादी, लोकहितकारी साम्राज्य के स्थापन का लक्ष्य निर्धारित किया और तत्परता से सामाजिक सेवाओं मे सुधार और विस्तार का काम हाथ मे लिया। जनस्वास्थ्य सेवाओं को यथोचित प्रधानता दी गई और भोर कमेटी की सिफारिशों के आधार पर विभिन्न योजनाएँ बनाने का कार्य प्रारम्भ

किया गया। केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं जिलास्तरीय प्रशासनिक सेवाओं में सुधार एवं विस्तार किया गया। केन्द्र व राज्य स्तर पर स्वास्थ्य मन्त्रालयों एवं स्वास्थ्य निदेशालयों की स्थापना की गई और जिला स्तरीय प्रशासनिक शाखायें स्थापित की गईं। शहरी क्षेत्रों में नगर परिषदों एवं नगरपालिकाओं की स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार व संवर्धन किया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक विकास एवं पंचायती-राज के अतिरिक्त कहीं-कहीं सार्वजनिक संस्थाओं के सहयोग से स्वास्थ्य सेवाओं का यथोचित विस्तार किया गया और विभिन्न स्वयंसेवी संस्थाओं के स्वास्थ्य कार्यक्रमों को यथायोग्य अनुदान आदि देकर प्रोत्साहित किया जाने लगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता के बाद स्वास्थ्य सेवाओं के प्रशासनिक एवं कार्यकारी संरचना में समुचित सुधार किया गया और इसका विभिन्न स्तरों पर निम्न स्वरूप बना।

1. केन्द्रीय

(a) केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय का गठन हुआ। इसका संचालन केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री करते हैं और उनको राज्य स्वास्थ्य मन्त्री एवं उपमन्त्री सहयोग देते हैं। प्रशासन के लिये स्वास्थ्य सचिवों की नियुक्ति की गई है और उनकी सहायता के लिये संयुक्त, उप व सहायक सचिवों तथा विभिन्न श्रेणी के राजपत्रित एवं अराजपत्रित अधिकारियों की नियुक्ति की गई है। स्वास्थ्य मन्त्रालय राष्ट्रीय स्वास्थ्य समस्याओं का मूल्यांकन करता है; उनके समाधान की योजनाएँ बनाता है, योजनाओं का क्रियान्वयन करवाता है, क्रियान्वयन में आने वाली कठिनाइयों व विघ्न-बाधाओं का यथासम्भव निराकरण करवाता है, प्रान्तीय स्वास्थ्य मन्त्रालयों और निदेशालयों को आर्थिक अनुदान, तकनीकी सहयोग और मार्गदर्शन की व्यवस्था करता है, अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य समझौतों का पालन और अनुकूल जनस्वास्थ्य व्यवस्थाओं का अनुमोदन व क्रियान्वयन करवाता है; उच्चस्तरीय प्रशिक्षण एवं अनुसंधान आदि की व्यवस्था करवाता है और प्रान्तीय स्वास्थ्य मन्त्रालयों में यथोचित समन्वय बनाये रखता है।

(b) प्रान्तीय स्वास्थ्य मन्त्रालयों में समन्वय बनाये रखने हेतु सेन्ट्रल काउन्सिल ऑफ हेल्थ—केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद्—का गठन किया गया है जिसके अध्यक्ष केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री और सभासद् सभी राज्यों के स्वास्थ्य मन्त्री हैं।

(c) केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय को तकनीकी सलाह देने और मन्त्रालय के निर्णयों को कार्यान्वित करने हेतु केन्द्रीय स्वास्थ्य निदेशालय का गठन किया गया है। चिकित्सा एवं जनस्वास्थ्य सेवाओं का समाकलन करके इस निदेशालय के अध्यक्ष पद का नये रूप से—डाइरेक्टर जनरल-ऑफ हेल्थ सर्विसेस के नाम से नामकरण किया गया है। इससे पूर्व चिकित्सा व जनस्वास्थ्य सेवाओं के लिये अलग-अलग अध्यक्ष थे जो डाइरेक्टर जनरल-इण्डियन मेडिकल सर्विसेज व पब्लिक हेल्थ कमिश्नर के नाम से जाने जाते थे। सन् 1966 में केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय के अधीन परिवार नियोजन शाखा की स्थापना की गई और इसके अध्यक्ष पद के लिये कमिश्नर, परिवार-

नियोजन नाम का पद सृजित किया गया। डाइरेक्टर जनरल हेल्थ सर्विसेज के सहायक के रूप में अतिरिक्त डाइरेक्टर, कई उप एवं सहायक डाइरेक्टर व भिन्न-भिन्न श्रेणी के तकनीकी राजपत्रित अधिकारी व प्रशासनिक अधिकारी और कर्मचारी नियुक्त किये गये और इसी प्रकार कमिश्नर परिवार नियोजन के लिये उप कमिश्नर व क्षेत्रीय डाइरेक्टर आदि नियुक्त किये गये।

केन्द्रीय स्वास्थ्य निदेशालय का कार्य-क्षेत्र :—

(i) राष्ट्रीय स्वास्थ्य समस्याओं का सर्वेक्षण, मूल्यांकन, समस्याओं के समाधानार्थ आयोजन और उनका क्रियान्वयन और इस कार्य में प्रान्तीय निदेशालयों के साथ समन्वय, सहयोग एवं मार्ग निर्देशन आदि।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य नियमों व समझौतों के अनुपालन में विदेशीय आवागमन पर स्वास्थ्य नियन्त्रण एवं संगरोध आदि की व्यवस्था।

(iii) औषध-निर्माण पर ड्रग्स व कॉस्मेटिक्स एक्ट 1940 के अन्तर्गत नियन्त्रण।

(iv) औषध व उपकरण भण्डारों की व्यवस्था और देश के विभिन्न अस्पतालों में उचित मूल्य पर औषध आदि का सम्भरण। इस समय ऐसे भण्डार बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, करनाल व हैदराबाद में स्थापित किये जा चुके है।

(v) वैक्सीन व टीके तैयार करने वाली प्रयोगशालाओ की स्थापना और उन पर प्रशासनिक एवं तकनीकी नियन्त्रण।

(vi) स्नातक व स्नातकोत्तर शिक्षा व्यवस्था—इन्डियन मेडिकल काउन्सिल के परामर्श से देश की विभिन्न स्नातक व स्नातकोत्तर शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा व्यवस्था, शिक्षा अनुदान, शैक्षणिक आवश्यकताओं का नियमन आदि करना। कुछ संस्थाएँ केन्द्रीय निदेशालय के सीधे प्रशासन में चलाई जा रही हैं जैसे—लेडी हार्डिङ्ग व आजाद मेडिकल कॉलिज दिल्ली, गोआ व पांडीचेरी मेडिकल कॉलेज, कॉलेज ऑफ नर्सिंग दिल्ली, नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ कम्युनिकेबल डिजीज़ेज दिल्ली, नेशनल ट्युबरक्युलोसिस इन्स्टीट्यूट बँगलोर, ऑल इन्डिया इन्स्टीट्यूट ऑफ हाईजीन एण्ड पब्लिक हेल्थ कलकत्ता, नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ हेल्थ एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड ऐज्युकेशन दिल्ली, सेन्ट्रल फैमिली प्लानिङ्ग इन्स्टीट्यूट दिल्ली आदि। विदेशों में विशेष छात्रवृत्तियों पर विशिष्ट प्रशिक्षण का प्रबन्ध भी किया जाता है।

(vii) अनुसंधान कार्य—इन्डियन काउन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च के तत्वावधान में विशिष्ट शोध कार्य विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से किया जाता है। इन संस्थाओ मे केन्सर रिसर्च इन्स्टीट्यूट बम्बई, वाइरस रिसर्च

इन्स्टीट्यूट पूना, सेन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीट्यूट कसौली, न्यूट्रीशन रिसर्च इन्स्टीट्यूट हैदराबाद आदि मुख्य हैं।

(viii) नेशनल हेल्थ प्रोग्राम—देश भर में विभिन्न रोगों के उन्मूलन या नियन्त्रण के लिए चलाये गये कार्यक्रमों का आयोजन, निर्देशन, मार्गदर्शन, तकनीकी सहयोग आदि।

(ix) केन्द्रीय राज कर्मचारियों के लिए सेन्ट्रल गवर्नमेंट हैल्थ स्कीम के अन्तर्गत चिकित्सा सेवा व्यवस्था जिसमें कर्मचारियों के पारिवारिक सदस्यों को भी इस सेवा व्यवस्था का लाभ प्राप्त होता है।

(x) स्वास्थ्य शिक्षा—सेन्ट्रल हैल्थ एज्यूकेशन ब्यूरो के माध्यम से जनसाधारण में स्वास्थ्य शिक्षा प्रसार के लिए रोचक एव प्रभावकारा सामग्री तैयार करना और स्वास्थ्य कर्मचारियों को स्वास्थ्य शिक्षा का प्रशिक्षण देना आदि।

प्रान्तीय-राज्यस्तरीय

(a) राज्यस्तरीय स्वास्थ्य मंत्रालयों का गठन जिसका संचालन राज्य के स्वास्थ्य मन्त्री करते हैं और उन्हे राज्य स्वास्थ्य मन्त्री या उपमन्त्री से सहयोग प्राप्त होता है। मंत्रालय की प्रशासनिक व्यवस्था स्वास्थ्य सचिव और उनके सहयोगी अधिकारी व कर्मचारीगण करते हैं। स्वास्थ्य मंत्रालय राज्य की सभी स्वास्थ्य समस्याओं का लेखा-जोखा रखता है और प्राथमिकता के आधार पर उन सभी आवश्यक योजनाओं को बना उन्हें कार्यान्वित कराता है; जो सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए अधिकाधिक हितकर समझी जाती हैं। वे सभी राष्ट्रीय योजनाएँ जो केन्द्र द्वारा बनाई जाती है यथावत् रूप में या स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कुछ संशोधन या संवर्धन के साथ कार्यान्वित कराई जाती है। मन्त्रालय के तकनीकी सलाहकार के रूप में राज्य स्तरीय स्वास्थ्य अधिकारी की नियुक्ति की गई है जिसे निदेशक चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाएँ के पदनाम से बोधित किया जाता है। निदेशक राज्य के स्वास्थ्य निदेशालय का अध्यक्ष होता है और उसकी सहायतार्थ आवश्यकतानुसार अतिरिक्त निदेशक, उप-निदेशक, सहायक निदेशक, नर्सिंग सुपरिन्टेन्डेन्ट, जनस्वास्थ्य इंजीनियर, पब्लिक ऐनेलिस्ट, ड्रग ऐनेलिस्ट, प्रचार एव जन-सम्पर्क अधिकारी, लेखाधिकारी, प्रशासनिक अधिकारी आदि नियुक्त किये जाते हैं। निदेशक स्वास्थ्य सेवाएँ चिकित्सा एवं जनस्वास्थ्य की सभी सेवाओं का समग्र रूप से निर्देशन करता है। किसी-किसी राज्य में जहाँ मेडिकल कॉलिजो की संख्या अधिक है वहाँ डाइरेक्टर मेडिकल ऐज्यूकेशन का पद भी अलग से सर्जित किया गया है।

स्वास्थ्य निदेशालय मुख्यतया निम्न स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था तया उनका संचालन करता है :—

(i) चिकित्सा सेवाएँ—इनमें सामान्य अस्पताल; शिक्षण अस्पताल; विशिष्ट अस्पताल–जैसे मानसिक, तपेदिक, नेत्ररोग, अस्थि-रोग, प्रसूति एवं

क्षयी रोग, परिचर्या-गृह, सैनेटोरियम, संक्रामक रोग व भ्रमणशील अस्पताल आदि; जिला स्तरीय अस्पताल, डिस्पेन्सरियाँ, क्लीनिक, एडपोस्ट, प्राथमिक-स्वास्थ्य-केन्द्र, परिवार-कल्याण-केन्द्र आदि।

(ii) विभिन्न शिक्षण संस्थाएँ—मेडिकल कॉलेज; नर्सिंग कॉलेज; ऑक्जिलरि हेल्थ वर्कर, सेनिटरी इन्सपेक्टर, नर्स, नर्स-मिडवाइफ, मिडवाइफ, दाई, बेसिक वर्कर आदि की प्रशिक्षण संस्थाएँ।

(iii) खाद्य पदार्थों एवं औषधियों की विश्लेषक प्रयोग-शालाएँ।

(iv) औषधि भण्डार।

(v) ड्रग कन्ट्रोल एक्ट के अन्तर्गत औषधि निर्माण नियन्त्रण—नकली एव मिलावटी औषधि निर्माण एवं विक्रय पर प्रतिरोध।

(vi) खाद्य पदार्थों में मिलावट पर रोकथाम—प्रिवेन्शन-ऑफ-फूड-एडल्टरेशन एक्ट के अन्तर्गत।

(vii) संक्रामक रोगों की रोकथाम एवं निराकरण।

(viii) निवार्य रोगों का उन्मूलन या नियन्त्रण—राष्ट्रीय योजनाओं का क्रियान्वयन।

(ix) स्वस्थ वातावरण।

(x) व्यावहारिक पोषाहार।

(xi) परिवार-नियोजन एव परिवार-कल्याण।

(xii) मातृ एवं-शिशु-कल्याण।

(xiii) स्कूलीय-स्वास्थ्य-सेवाएँ।

(xiv) दन्त-स्वास्थ्य-सेवा।

(xv) स्वास्थ्य-शिक्षा।

(xvi) अन्वेषण एव शोध कार्य आदि।

जिला स्तरीय

जिला स्तरीय स्वास्थ्य सेवाएँ प्रान्तीय स्वास्थ्य निदेशक के अधीनस्थ ही होती हैं। इन सेवाओं का ढांचा विभिन्न प्रान्तों मे भिन्न-भिन्न प्रकार का है पर अधिकाश राज्य अपने-अपने जिलों में इन सेवाओं को मुकर्जी कमेटी की सिफारिशों (1966) के अनुरूप व्यवस्थित कर रहे हैं। राजस्थान ने यह व्यवस्था अधिकांश रूप से पूरी कर दी है। इस व्यवस्था में जिला मुख्यालय पर जिला स्वास्थ्य अधिकारी का कार्यालय होता है। जिला स्वास्थ्य अधिकारी का पदनाम चीफ मेडिकल ऑफिसर ऑफ हैल्थ रखा गया है। इसके अधीनस्थ दो उप चीफ मेडिकल ऑफिसर ऑफ हैल्थ नियुक्त किये गये हैं जिसमे से एक परिवार नियोजन व मातृ एव शिशु कल्याण सेवाओं का संचालन करता है और दूसरा अन्य स्वास्थ्य सेवाओं का। ये दोनों ही अधिकारी चीफ मेडिकल ऑफिसर के निर्देशन में अपनी-अपनी सेवाओं का कार्य

सम्पादित करते हैं। इनकी सहायतार्थ विभिन्न सेवाओं और राष्ट्रीय योजनाओं के मेडिकल ऑफिसर, स्वास्थ्य-निरीक्षक, नर्सिंग-सुपरवाइजर, स्वास्थ्य-सहायक आदि अधिकारी होते हैं और प्राथमिक-स्वास्थ्य-केन्द्रों के चिकित्सक व अन्य कर्मचारीगण भी। जिला अस्पतालो में विभिन्न विभागो के लिए निर्धारित संख्या में चिकित्सक व विशेषज्ञ नियुक्त होते हैं। इनमें से वरिष्ठतम चिकित्सक अस्पताल के सुपरिन्टेन्डेण्ट का कार्यभार सम्भालता है। चीफ मेडिकल ऑफिसर ऑफ हैल्थ जिले की सभी चिकित्सा सस्थाओं, राष्ट्रीय योजनाओं और स्वास्थ्य सेवाओं की प्रशासनिक व कार्यकारी व्यवस्था करता है, सेवाओं का संचालन करता है, पर्यवेक्षण करता है और मार्गदर्शन देता है। जिले की सभी स्वास्थ्य सेवाएँ लगभग वे ही होती हैं जो प्रान्तीय स्वास्थ्य निदेशालय से आयोजित होती हैं और जिनके सम्पादन में निदेशालय का समुचित निर्देशन होता है। जिला परिषद् इन सेवाओं के क्रियान्वयन में यथायोग्य सहयोग देता है।

विकास खण्ड स्तरीय

विकास खण्ड लगभग 70 से 80 हजार की आबादी पर होता है। किसी-किसी विकास-खण्ड में यह आबादी एक लाख तक की भी हो जाती है। विकास खण्ड के लिए स्वास्थ्य सेवाओ का केन्द्र प्राथमिक-स्वास्थ्य-केन्द्र एवं कम्यूनिटी-स्वास्थ्य-केन्द्र ही होता है जिसकी कार्यकारी व्यवस्था जिले का चीफ मेडिकल ऑफिसर ऑफ हैल्थ ही करता है। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों की सेवाओं पर यथोचित प्रकाश प्रथम अध्याय मे डाला जा चुका है। इन सेवाओ के सम्पादन मे पंचायत समिति यथायोग्य सहयोग देती है।

नगर स्तरीय

बड़े-बड़े नगरों और शहरो मे राजकीय स्वास्थ्य सेवाओं के अतिरिक्त लगभग वे सभी स्वास्थ्य सेवाएँ, जिनका सीधा सम्बन्ध नगरवासियों के स्वास्थ्य संरक्षण एवं स्वास्थ्य सवर्धन से होता है, स्थानीय स्वायत्त शासन सस्थाओं के अधीन होता है। स्वायत्त शासन संस्थाएँ—बड़े-बड़े नगरों मे नगर परिषद् एवं मध्यम श्रेणी के नगरों व शहरों मे—नगरपालिकाएँ होती है। इन संस्थाओं का गठन, जन-प्रतिनिधित्व से निर्धारित समय के चुनावों से होता है और नगर परिषद् के सदस्य अपना अध्यक्ष निर्वाचित करते हैं जो महापौर कहलाता है और नगर पालिकाओं का अध्यक्ष चेयरमैन या अध्यक्ष कहलाता है। स्वायत्त शासन विधान के अन्तर्गत स्वास्थ्य सेवाओं के व्यवस्थापन का दायित्व इन सस्थाओं को सौपा गया है और राज्य सरकार इन्हें इसके लिए यथोचित आर्थिक अनुदान देती है। नगर परिषद् व नगर पालिकाओ को मुख्य रूप से जिन स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था करनी होती है, वे हैं:—

(i) शहर सफाई।
(ii) कूड़े-कचरे का निकास एवं समुचित निस्तारण।
(iii) मानव एवं पशुमल का निकास व निस्तारण।

(iv) स्वच्छ एवं सुरक्षित जल व्यवस्था ।
(v) संक्रामक रोगों की रोकथाम ।
(vi) संक्रामक रोगों के स्थानिक या महामारी के रूप में फैलने पर सभी प्रतिरोधात्मक उपायों की व्यवस्था ।
(vii) विसंक्रमण व्यवस्था सतृप्त स्टीम विसंक्रामक संयन्त्रों की स्थापना ।
(viii) मच्छर, मक्खी, पिस्सू, चूहे, आवारा कुत्तों आदि के निवारणार्थ उपाय ।
(ix) मरे हुए पशुओं का यथोचित निस्तारण ।
(x) मरघट, कब्रिस्तान आदि की समुचित व्यवस्था ।
(xi) हाट-बाजारो की स्वच्छता और स्वास्थ्यकर व्यवस्था ।
(xii) सार्वजनिक स्थानों की स्वच्छता एवं सेनिटरी सुविधाओं की व्यवस्था– पार्क, तरणताल, उद्यान, सिनेमा-गृह आदि ।
(xiii) खाद्य पदार्थों का संदूषण से रक्षण और उनमें मिलावट आदि पर प्रतिरोधात्मक नियन्त्रण ।
(xiv) खाद्य संस्थानों—होटल, रेस्टोरेन्ट, ढाबा, दुग्धशाला, डेरी, पास्चुरीकरण संयन्त्र, वधशाला आदि पर स्वच्छता नियन्त्रण और संदूषण निवारक व्यवस्था ।
(xv) औद्योगिक संस्थानों मे स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर वातावरण का प्रस्थापन एवं उनसे निकले उत्सर्जित पदार्थों का निस्तारण ।
(xvi) मेलों आदि में स्वच्छता एवं प्राथमिक चिकित्सा की व्यवस्था और संक्रामक रोगों के निवारणार्थ समुचित व्यवस्था ।
(xvii) मातृ एवं शिशु-कल्याण व स्कूलीय-स्वास्थ्य सेवाओ की व्यवस्था ।
(xviii) राजकीय अस्पतालों के अतिरिक्त म्युनिसिपल अस्पतालों, डिस्पेन्सरियों, क्लिनिकों आदि की आवश्यकतानुसार व्यवस्था और रोगीवाहन सेवा व्यवस्था ।
(xix) आवश्यकतानुसार नैदानिक व विश्लेषिक प्रयोगशालाओं की व्यवस्था ।
(xx) जीवन सांख्यिकी संग्रह और
(xxi) स्वास्थ्य-शिक्षा आदि की व्यवस्था ।

इन सब कार्यों को सुचारु रूप से सम्पादित करने के लिये प्रत्येक नगरपरिषद और नगरपालिका में अनुभवी हेल्थ ऑफीसर (एक या एक से अधिक), सहायक हेल्थ ऑफीसर, हेल्थ निरीक्षक, विभिन्न विभागों के तकनोकी ऑफीसर, प्रशासनिक ऑफीसर व अन्य कर्मचारीगणो की आवश्यकतानुसार नियुक्ति की जाती है ।

इन सेवाओं के अतिरिक्त सेना के तीनों अंगों की व रेल प्रशासन की अपनी स्वयं की अलग से स्वास्थ्य सेवाएं हैं, जिनमे स्वास्थ्य संरक्षण और स्वास्थ्य संवर्धन के सभी कार्यक्रम कार्यान्वित किये जाते हैं । इनमे आवश्यकतानुसार छोटे-बड़े अस्पताल, डिस्पेन्सरी क्लिनिक, [illegible] स्वास्थ्य-केन्द्र, मातृ एवं-शिशु-कल्याण केन्द्र,

निरोधक स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध की गई हैं जो रोग निवारण की दिशा में महत्व की हैं।

कुछ स्वयं-सेवी संगठन और पुण्यार्थ ट्रस्ट भी काफी महत्वपूर्ण स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं। इनमें भारतीय रेडक्रॉस सोसायटी, हिन्द-कुष्ट-निवारण-संघ, ट्यूबरक्युलोसिस एसोशियेशन ऑफ इण्डिया, भारत सेवक समाज, रामाकृष्ण मिशन, फेमिली प्लानिङ्ग ऐसोशियेशन ऑफ इण्डिया, कस्तूरबा मेमोरियल फण्ड आदि विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

भारतीय रेडक्रॉस सोसाइटी सन् 1920 में स्थापित की गई। इसकी कितनी ही शाखाएँ—लगभग 400 से अधिक—देश भर में फैली हुई हैं। यह सोसायटी मानवीय आधार पर कई राहत कार्य करती है जिनमें अकाल, बाढ़, भूकम्प या महामारी के दैवी प्रकोपों में उपचारीय व निरोधक सेवाएँ उपलब्ध कराती है; दवाइयाँ, वस्त्र, कम्बल, विटामिन व सुलभ खाद्य सामग्री वितरित कराती है, अस्पतालों व निवारक सेवा टोलियों को अतिरिक्त दवाइयाँ व वैक्सीन आदि उपलब्ध कराती है; युद्ध के समय सैनिकों की सहायता एवं घायलों की उपचारीय सेवा-सुश्रुषा करती है; सामान्य समय में मातृ एवं-शिशु-कल्याण सेवा, बाल-कल्याण-सेवा, परिवार-कल्याण एवं परिवार-नियोजन-सेवा रोगीवाहन सेवा आदि की व्यवस्था करती है और अपने स्वयं के इन्ही सेवाओं के केन्द्रों का संचालन करती है; स्वास्थ्य कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करती है और युवकों एवं युवतियों को प्राथमिक चिकित्सा के निर्धारित कोर्स का प्रशिक्षण देती है।

हिन्द-कुष्ट-निवारण संघ कुष्ट रोग की उपचारीय संस्थाओं और निवारक केन्द्रों को यथायोग्य सहायता देता है, कुष्ट रोग के उपचार व निवारण में कार्यरत चिकित्सकों एवं सहायक स्वास्थ्य कर्मचारियों के विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है; जन साधारण में इस रोग से सम्बन्धित स्वास्थ्य शिक्षा का प्रसार करता है और विशेष शोध कार्य करता है।

ट्यूबरक्युलोसिस ऐसोशियेशन ऑफ इन्डिया क्षय रोग निवारण के विभिन्न कार्यक्रमों में विशिष्ट योगदान करता है। प्रतिवर्ष टी. बी. सील विक्रय की व्यवस्था करता है; क्षय नियन्त्रण केन्द्रों के स्थापनार्थ आर्थिक अनुदान की व्यवस्था करता है; चिकित्सकों एवं सहायक स्वास्थ्य कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है; आवश्यकता-ग्रस्त मरीजों के उपचार व अतिरिक्त पोषाहार की व्यवस्था करता है; स्वास्थ्य शिक्षा का प्रसार करता है और अपनी स्वयं की अनेकानेक उपचारीय संस्थाओं का संचालन करता है :

भारत सेवक समाज ग्रामीण क्षेत्रीय वातावरण को स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर बनाने के प्रति प्रयत्नशील रहता है।

रामाकृष्ण मिशन अपने अस्पतालों और उपचार गृहों से उपचारीय सेवाएँ उपलब्ध कराता है और अनेकानेक राहत कार्य आयोजित करता है।

फैमिली प्लानिङ्ग ऐसोशियेशन ऑफ इन्डिया परिवार कल्याण और परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को बढ़ावा देता है; परिवार नियोजन सम्बन्धी विशिष्ट प्रचार सामग्री तैयार करता है; अपने स्वयं के कई परिवार नियोजन केन्द्रों का संचालन करता है; उपकरण वितरण की व्यवस्था करता है और विविध माध्यमों से अधिकाधिक जनसम्पर्क और जन-साधारण में परिवार नियोजन के महत्व को प्रसारित करता है। परिवार नियोजन अभियान में कार्यरत चिकित्सकों एवं सहायक स्वास्थ्य कर्मचारियों के विशिष्ट प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करता है।

कस्तूरबा मेमोरियल फण्ड अधिकाशतः महिलाओं के लिये कल्याणकारी सेवाओं की व्यवस्था करता है जिनमें उनके नि.शुल्क उपचारीय व्यवस्था के अतिरिक्त प्रसूति एवं धात्री स्वास्थ्य सेवाओं की भी व्यवस्था होती है, ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम सेविकाओं के माध्यम से व्यक्तिगत स्वच्छता एवं स्वच्छ वातावरण की महत्ता का महिलाओं मे प्रचार एवं प्रसार करवाता है और कल्याणकारी योजनाओं की साधन सुविधाएँ उपलब्ध करवाता है।

इसके अतिरिक्त कई धार्मिक सगठन एवं सस्थाएँ और दानदाता महानुभाव अपने निजी ढंग से उपचारीय संस्थाएँ स्थापित करके उपचारीय स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं और बहुत से चिकित्सक अपनी निजी प्रेक्टिस से–चाहे वह ऐलोपेथिक/होमियोपेथिक/आयुर्वेदिक या यूनानी पद्धति की हो—ऐसी ही सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं। अनेक राज्यों में सरकारी स्तर पर आयुर्वेदिक औषधालयों की भी स्थापना की गई है और ग्रामीण क्षेत्रों में आयुर्वेदिक डिस्पेन्सरियों की। बहुत सी स्वयसेवी सस्थाओं ने भी आयुर्वेदिक, यूनानी एव होमियोपेथिक अस्पतालों और डिस्पेन्सरियों की स्थापना की है जहाँ उपचारीय सेवाएँ उपलब्ध होती हैं।

लेकिन जैसा कि पूर्व मे लिखा जा चुका है, आज की विचारधारा के अनुरूप हमारी स्वास्थ्य सेवाएँ अधिकाधिक व्यापक एवं विस्तीर्ण रूप की होनी चाहिये अर्थात् कोम्प्रीहेन्सिव-हैल्थ-सेवा (Comprehensive Health Service) होनी चाहिये जिसमें रोगी को समुचित इलाज मिले, इलाज समूल ढङ्ग का हो जिससे रोग एवं रोग-आगार का निराकरण हो, रोगी का यथोचित पुनर्वासन हो, और स्वस्थ व्यक्तियों को स्वास्थ्य संरक्षण एवं स्वास्थ्य संवर्धन की सुविधा प्राप्त हो; इसके लिये यह आवश्यक है कि उपचारीय एवं निरोधक—दोनों ही सेवाओ का—सम्यक् समाकलन हो और एकीकृत रूप में यह दोनों ही सेवाएँ समाज के सभी वर्गों को सुगमता से प्राप्त हो सकें। इसी उद्देश्य से इन सेवाओं के संचालन का कार्यभार केन्द्र तथा अधिकांश राज्य सरकारों के स्वास्थ्य निदेशालयों में दोनों सेवाओ से विज्ञ एवं अनुभवी, एक ही तकनीकी ऑफीसर—निदेशक चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाओं—को सौंपा गया है। स्वास्थ्य सेवाओं के समाकलित (integrated) रूप में क्रियान्वयन की दृष्टि से सभी सम्बन्धित संस्थाओं की कार्य-विधि को भी नया मोड दिया जा रहा है। नई-नई स्वास्थ्य संस्थाओं के संस्थापन में भी अधिकांश यही ध्यान रखा जा रहा है कि इनसे

दोनों ही सेवाएँ एकीकृत रूप में प्राप्त हो सकें। विभिन्न स्वास्थ्य संस्थाओं का इन सेवाओं के संचारण में क्या स्थान और क्या महत्व है इस पर भी थोड़ा-सा विचार यहाँ कर लेना समुचित होगा।

अस्पताल—रोगी व्यक्तियों को उपचारीय सेवाएँ उपलब्ध कराते है। यहाँ बहिरङ्ग (Outdoor) व अन्तरङ्ग (Indoor) दोनो ही प्रकार की सेवाएँ प्राप्त होती हैं। जिन संस्थाओ में अन्तरङ्ग इलाज के लिये रोग शय्याओ की व्यवस्था होती है, उन्हें ही अस्पतालो की संज्ञा दी जाती है। विभिन्न रोगी शय्याओं के अस्पताल बड़े-बडे नगरो, शहरो, जिला मुख्यालयों और कस्बो में स्थापित किये जाते है। सामान्य अस्पतालों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट अस्पताल होते हैं जो अलग-अलग रोगों के विशिष्ट इलाज के लिए स्थापित किये जाते हैं जैसे–क्षयरोग, मानसिक-रोग, नेत्र-रोग सक्रामक-रोग, अस्थि-रोग, बाल-रोग, स्त्री-रोग व कैंसर-रोग, आदि। इसके अतिरिक्त शैक्षणिक अस्पताल मेडिकल कॉलेजों के साथ स्थापित किये जाते हैं। कुछ भ्रमणशील अस्पताल भी होते है जो समय-समय पर ग्रामीण क्षेत्रों में अपने शिविर लगाते है और अधिकांश शल्य-क्रिया के उपचार उपलब्ध कराते है। एक समय था जब अस्पताल केवल उन रोगियो के इलाज को ही अपना दायित्व समझते थे जो वहाँ पहुँच पाते थे पर आज यह दृष्टिकोण काफी कुछ बदल चुका है। अस्पताल अपनी मेडिको-सोशल सेवाओं के माध्यम से रोगी के परिवार तक अपनी सेवाओं का लाभ पहुँचाते हैं और रोगी के परिवार में यदि अन्य कोई सदस्य ऐसे ही रोग से ग्रसित हो, तो उसके सम्यक् इलाज की व्यवस्था भी करते हैं; ताकि रोग के आगार का अन्त किया जा सके और रोग प्रसार को नियन्त्रित किया जा सके। इसके अतिरिक्त इन्ही सेवाओं के माध्यम से रोगी के पुनर्वासन एवं सामाजिक सुस्थापन की व्यवस्था की जाती है। अस्पतालों के विशेषज्ञो की टोलियां समय-समय पर उन क्षेत्रों में भी जाती हैं जहां से अमुक रोग के रोगियों की अत्यधिक संख्या अभिसूचित की गई हो, जैसे हुक-वर्म, रतौंधी, ग्वाइटर, रतिरोग (Venereal Diseases) आदि और इनके समुचित इलाज से रोग नियन्त्रण की व्यवस्था की जाती है तथा इनके प्रसार पर रोक लगाई जाती है। अस्पतालो के विशेषज्ञ डाक्टर विभिन्न क्लिनिकों में भी अपनी परामर्शी सेवाएँ अर्पित करते हैं। निवारक सेवाओं के साथ अस्पतालों में यथेष्ट समन्वय होता है जैसे मलेरिया उन्मूलन अभियान में अस्पताल में आये सभी ज्वर के रोगियों की ब्लड स्लाइड (Blood Slide) बनाई जाती है, जो मलेरिया उन्मूलन अभियान की प्रयोगशालाओं में भेजी जाती हैं; जहाँ इनका परीक्षण होता है और रोगियो का पता लगाया जाता है तथा उन्मूलन इकाई द्वारा उनके समूल इलाज एवं रोग उन्मूलन सम्बन्धी अन्य कार्यवाही की जाती है। अस्थि रोग या तन्त्रिका रोगो से पीडित रोगी यदि विकलाङ्ग स्थिति के हो जाते हैं तो अस्पताल उनके पुनर्वासन के लिये फीजियो-थेरेपी व ऑक्युपेशनल थेरेपी (Physio–therapy and occupational therapy) की व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार अस्पताल विशिष्ट

उपचारीय एवं पुनर्वासीय सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं और निवारक सेवाओं को अपना सक्रिय सहयोग देते हैं।

डिस्पेन्सरी—यह वह उपचारीय संस्था है जिसमें रोग-शय्याएँ नहीं होती, केवल वहिरङ्ग इलाज ही की व्यवस्था होती है। अन्तरङ्ग इलाज की आवश्यकता होने पर रोगियों को अस्पताल पहुँचाने की व्यवस्था की जाती है। निवारक सेवाओं के साथ भी इनका ऐसा ही समन्वय होता है जैसाकि अस्पतालों का। टीके लगाने का कार्य भी यहाँ होता है।

क्लिनिक्स(Clinics) – विशिष्ट रोगों के नियन्त्रण या निवारण के लिए और कल्याणकारी स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराने के लिए विभिन्न क्लिनिकों की स्थापना की जाती है, जिनके माध्यम से रोग निदान, रोगोपचार, गृहोपचार, सम्पर्क दूषित व्यक्तियों की ढूँढ़-तलाश, उनका स्वास्थ्य परीक्षण एवं आवश्यकतानुसार उपचार आदि की व्यवस्था की जाती है और स्वस्थ व्यक्तियों के लिए स्वास्थ्य संरक्षण एवं स्वास्थ्य संवर्धन की व्यवस्था की जाती है। इन संस्थाओं में वैसे अन्तरङ्ग इलाज के लिए तो रोग शय्याएँ नहीं होती पर नैदानिक छानबीन के लिए 2 या 4 शय्याएं अवश्य रखी जाती हैं। मुख्य-मुख्य क्लिनिक्स जो इस समय कार्यरत हैं, वे हैं —

(i) प्रसूति, धात्री एवं शिशु स्वास्थ्य क्लिनिक–इसमें प्रसूति एवं धात्री माताओं का समय-समय पर स्वास्थ्य परीक्षण होता है, यदि कोई रोग या विकार पाये जायें तो उनके उपचार एवं निवारण की व्यवस्था की जाती है, प्रसूति माता को उसकी दिनचर्या, खान-पान एवं गर्भ-संरक्षण सम्बन्धी सभी जानकारी दी जाती है और उसके प्रसव की प्रसूतिगृहो या अस्पतालों में पूर्व ही से व्यवस्था की जाती है। धात्री माता के स्वास्थ्य संवर्धन के अतिरिक्त शिशु पालन व शिशु संभरण की जानकारी दी जाती है और शिशु के स्वास्थ्य संरक्षण के लिये संक्रामक रोगों के प्रति टीके लगाने की व्यवस्था की जाती है। प्रसूति व धात्री माता के अतिरिक्त-पोषण एवं शिशु के अतिरिक्त सम्भरण की भी आवश्यकतानुसार व्यवस्था की जाती है।

(ii) बाल-स्वास्थ्य क्लिनिक–बालकों के स्वास्थ्य परीक्षण, स्वास्थ्य, संरक्षण और स्वास्थ्य संवर्धन की व्यवस्था इन क्लिनिकों द्वारा की जाती है और आवश्यकतानुसार उपचारीय व्यवस्था भी की जाती है। माता-पिता व अभिभावकों को बालकों के स्वास्थ्य संवर्धन सम्बन्धी सभी जानकारी दी जाती है।

(iii) स्कूलीय-स्वास्थ्य सेवा-क्लिनिक—स्कूली बच्चों के स्वास्थ्य परीक्षण, स्वास्थ्य संरक्षण एवं स्वास्थ्य संवर्धन की व्यवस्था की जाती है।

(iv) परिवार नियोजन क्लिनिक—परिवार नियोजन एवं परिवार कल्याण सम्बन्धी सभी जानकारी इच्छुक दम्पत्तियों को दी जाती है। गर्भ-निरोध उपकरणों का वितरण किया जाता है और नसबन्दी ओपरेशन की व्यवस्था की जाती है।

(v) पोषाहार-क्लिनिक—संतुलित आहार एवं व्यावहारिक पोषाहार सम्बन्धी सभी जानकारी कराई जाती है और सस्ते सन्तुलित आहार के व्यन्जन बनाने की व्यावहारिक ट्रेनिंग दी जाती है।

(vi) क्षय-रोग (T.B) क्लिनिक—क्षय रोगियों की ढूंढ तलाश, निदान, उपचारीय व्यवस्था, गृह उपचार, समकालिक विसंक्रमण व्यवस्था, सम्पर्क-दूषित व्यक्तियों को समय-समय पर स्वास्थ्य-परीक्षण और रोगी पाये जाने पर उनकी समुचित उपचारीय व्यवस्था, बी.सी.जी. वैक्सीनेशन की व्यवस्था आदि का कार्य किया जाता है।

(vii) इसी प्रकार अन्य क्लिनिक्स हैं जैसे रतिज-रोग (V.D.) क्लिनिक, मानसिक-रोग-क्लिनिक, चाइल्ड-गाइडेन्स-क्लिनिक, दन्त-क्लिनिक आदि जो अपने-अपने क्षेत्र में रोगोपचार एवं रोग निवारक सेवायें उपलब्ध कराती हैं।

हेल्थ सेन्टर्स—(स्वास्थ्य केन्द्र)—ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के रूप में उपचारीय एवं निरोधक दोनों ही प्रकार की स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं और शहरी क्षेत्रों मे नगरीय स्वास्थ्य केन्द्र भी ऐसी ही सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं। नगरीय स्वास्थ्य केन्द्रों की व्यापक तौर पर अभी स्थापना नही हो पाई है क्योंकि प्रथम तो नगरो में अन्य स्वास्थ्य सस्थाएँ—अस्पताल, क्लिनिक आदि बहुतायत से उपलब्ध हैं और द्वितीय अभी अधिकाधिक ध्यान ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य केन्द्रों के विस्तार पर ही दिया जा रहा है। स्वास्थ्य केन्द्रो के कार्यक्रमो पर विस्तार से प्रकाश प्रथम अध्याय में डाला जा चुका है।

सैनेटोरियम (Sanatorium) सैनेटोरियम को हम स्वास्थ्य सदन की संज्ञा दे सकते हैं। अधिकांश यह उपचारीय संस्था क्षय-रोग के रोगियो के लिए स्थापित की जाती है लेकिन जब से क्षयरोग का विशिष्ट उपचार कीमोथेरेपी (Chemotherapy) द्वारा रोगियों के घरों पर ही सफलतापूर्वक किया जाने लगा है, इसकी उपयोगिता सीमित क्षेत्र तक ही रह गई है। वह रोगी जो गृह-इलाज से लाभान्वित नही होते, या जिनके घर पर पृथक्करण की सन्तोष-प्रद व्यवस्था नही होती या उसकी देख-भाल के लिए घर पर अन्य कोई पारिवारिक सदस्य नही होता या जिसे किसी शल्य चिकित्सा की आवश्यकता होती है और ऑक्यूपेशनल थेरेपी की भी; उन्हें इन संस्थाओं का लाभ उपलब्ध कराया जाता है। इन संस्थाओं मे रोगी को सम्यक् विश्राम, अनुकूल जलवायु, समुचित उपचार, पौष्टिक आहार और स्वास्थ्य में सुधार

के अनुरूप व्यावसायिक प्रशिक्षण का लाभ प्राप्त कराया जाता है। पहले की यह धारणा कि सैनेटोरिया शहरों से दूर खुले पहाड़ी क्षेत्रों में बनाये जायें, अब विशेष महत्व की नहीं रही। सैनिटोरिया मैदानी क्षेत्रों में कहीं भी यहाँ तक कि शहरों में भी, बनाये जा सकते हैं। क्षयरोग के अतिरिक्त अन्य रोगों के चिरकारी रोगियों के लिए भी ऐसी ही संस्थाओं का लाभ उपलब्ध कराया जा सकता है जैसे अस्थि रोग, हृदय रोग, कैन्सर रोग आदि के सैनोटोरिया।

विकलाङ्ग गृह (Homes for the Cripples)

ऐसे बच्चे, किशोर या नवयुवक जो रोग विशेष से, दुर्घटनाओं से या जन्मजात शारीरिक विरूपता से विकलाङ्ग स्थिति में हो जाते हैं और जिन्हें यथोचित उपचार के उपरान्त भी लम्बे समय तक संस्थायी देख-भाल में रखने की आवश्यकता होती है या जिनके प्रभावित अङ्ग प्रत्यङ्गों को यथासाध्य सक्षम बनाने और पुनर्वासित करने की आवश्यकता होती है, उनके लिये विकलांग गृहों की व्यवस्था की जाती है। ये गृह शासन एवं स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा स्थापित किये जाते हैं। इन गृहों में अस्थि रोग, जोड़ों के रोग या तन्त्रिका रोग से विकलाङ्ग बच्चे, पोलियो के कारण अङ्ग-घात हुए बच्चे; दुर्घटनाओं के कारण अङ्ग-भङ्ग हुए बच्चे, किशोर या युवक; जल जाने के कारण क्षत-विक्षत हुए व्यक्ति; रूमेटिक ज्वर के परिणामस्वरूप हृदय रोग से प्रभावित बच्चे; मिरगी के मरीज, अन्धे, बहरे या मूक बच्चे या किशोर आदि; जन्म से ही शारीरिक दोषयुक्त बच्चे जैसे जुड़वाँ बच्चे, थैलेडेमाइड बच्चे-जिनके हाथ-पाँव दोषपूर्ण होते हैं; फटे होंठ या कटे तालू वाले बच्चे आदि आवश्यक अस्पतालीय इलाज के बाद भर्ती किये जाते हैं ताकि उनकी लम्बे समय तक आवश्यक देख-रेख की जा सके और पूर्ण लगन एवं धैर्य के साथ की गई परिचर्या से उनके प्रभावित अङ्गों को फिर से सक्षम एवं यथासाध्य स्वावलम्बी बनाया जा सके। यहाँ स्वास्थ्य संरक्षण और संवर्धन की सभी सुविधाओं के अतिरिक्त आमन्त्रित विशेषज्ञों की सेवाएँ एवं फीजियोथेरेपी व ओक्यूपेशनल थेरेपी की सुविधाएँ भी उपलब्ध कराई जाती हैं और उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गों को फिर से कार्य-क्षम बनाने और पुनर्वासित करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाता है। आवश्यकतानुसार सहायक उपकरणों व कृत्रिम अङ्गों की भी आपूर्ति की जाती है और उनके अध्यापन एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण की भी समुचित व्यवस्था की जाती है।

फौजी जवानों के लिए जो युद्ध में घायल होने के कारण विकलाङ्गित हो जाते हैं उनके लिए भी सेना स्वास्थ्य सेवाओं द्वारा ऐसी ही व्यवस्था की जाती है।

आश्रालय (Asylum)

सदियों पूर्व से सामाजिक व्यवस्था कुछ ऐसी ही रही है कि कुछ वर्ग के लोगों के लिए समाज आश्रालयों की व्यवस्था करता आया है जिनमें ऐसे व्यक्तियों को आश्रय

दिया जाता रहा है जो (1) सक्रामक रोग के चिरकारी रोगी हों और जो समाज मे रोग फैलाने का खतरा प्रस्तुत करते हो जैसे कुष्ट रोगी। इनके लिए कुष्टरोग आश्रालय स्थापित किये जाते थे। (2) ऐसे व्यक्ति जो संक्रामक रोग के रोगी तो नही होते पर समाज के लिए अनुत्रास पैदा करते हों जैसे मानसिक रोगी। इनके लिए मानसिक आश्रालय स्थापित किये जाते थे। पर आजकल इन आश्रालयो को विशेष चिकित्सा सुविधाओं से अस्पतालो में बदला जा रहा है और यथोचित उपचार से इन रोगियों को रोगमुक्त कर फिर से समाज में सुस्थापित करने का प्रयास किया जाता है। कुष्ट रोगियों का तो अधिकाश इलाज अब घर पर ही लिया जाने लगा है। (3) निराश्रित व्यक्तियों के लिए अनाथाश्रम, विधवाश्रम या वृद्धालय आदि आज भी चलाये जा रहे हैं जहाँ उक्त श्रेणी के व्यक्तियों को आश्रय के अतिरिक्त सामान्य स्वास्थ्य सेवाएँ और आवश्यकतानुसार व्यावसायिक प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी प्राप्त कराई जाती हैं।

अन्तर्राष्टीय स्वास्थ्य सेवा संगठन

(1) विश्व स्वास्थ्य संघ (W.H.O.)

संयुक्त राष्ट्र संघ की शाखा के रूप मे विश्व स्वास्थ्य सघ की स्थापना सन् 1946 मे हुई। इसका मुख्यालय जिनेवा मे रक्खा गया। इसका संविधान 7 अप्रेल सन् 1948 को लागू किया गया और इसलिए प्रतिवर्ष 7 अप्रेल "विश्व स्वास्थ्य दिवस" के रूप मे मनाया जाता है। सन् 1982 तक 158 राष्ट्र इस संघ के सदस्य बन चुके थे। "विश्व स्वास्थ्य सघ" विश्व की स्वास्थ्य समस्याओं के समाधान में प्रयत्नशील रहता है और सभी सदस्य देशो को अपना सक्रिय योगदान देता है। अपनी योजनाओं को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के उद्देश्य से सघ ने अपने निम्न 6 क्षेत्रीय कार्यालय स्थापित किये है :—

क्षेत्र	कार्यालय
1. दक्षिण पूर्वी एशिया	नई दिल्ली (भारत)
2. अफ्रीका	ब्राजाविल (कोंगो)
3. अमेरिका	वॉशिङ्गटन (यू.एस.ए.)
4. यूरोप	कोपेनहेगन (डेन्मार्क)
5 पूर्वी मेडिटरेनियन	एलेक्जेन्ड्रिया (ईजिप्ट)
6. पश्चिमी-पैसिफिक	मनिला (फिलिपाइन्स)

विश्व स्वास्थ्य संघ अन्तर्राष्ट्रीय सुस्वास्थ्य के प्रति योजनाएँ बनाता है और उनके क्रियान्वयन मे, समन्वय और सहयोग प्रदान करता है; स्वास्थ्य सम्बन्धी उपचारीय एवं निरोधक तकनीकी जानकारी उपलब्ध कराता है; विभिन्न देशो से संक्रामक एवं निवार्य रोग के आंकड़े, एकत्रित करके सदस्य देशों को सूचित करता है जिससे इस जानकारी का अन्तर्राष्ट्रीय लाभ प्राप्त हो और इनके निवारणार्थ सामायिक प्रयत्न

किये जा सकें। अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य नियमों के अन्तर्गत आवागमन के माध्यम से सम्भावित संक्रामक रोग प्रसार पर नियन्त्रण करता है विशेष कर पीत ज्वर, प्लेग, हैजा, टाइफस, इन्फ्लुएन्जा, पोलियो, मलेरिया आदि। सदस्य देशों मे संक्रामक रोगों के उन्मूलन या निवारण हेतु योजनाएँ तैयार कराता है और उनके क्रियान्वयन में सक्रिय सहयोग प्रदान करता है। भारत में विश्व स्वास्थ्य संघ का मलेरिया एवं शीतला उन्मूलन अभियान में व क्षय ट्रेकोमा, रतिजरोग, फाइलेरिया आदि रोगों की निवारण योजनाओं मे विशिष्ट सहयोग रहा है। अन्य निवार्य रोगों के प्रति जैसे केन्सर, हृदय रोग, मानसिक रोग आदि के निवारणार्थ भी विश्व स्वास्थ्य संघ का सक्रिय सहयोग रहता है। यह औषधियों एवं वैक्सीन आदि का अन्तर्राष्ट्रीय मानकीकरण (Standardization) करता है, विभिन्न स्तर के स्वास्थ्य अधिकारियों एवं कर्मचारियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षणिक सुविधाएँ प्रदान करता है और अनुसंधान एवं शोध कार्य को प्रोत्साहित करता है। इन कार्यों के लिए स्वास्थ्य संघ अपनी विशिष्ट तकनीकी सेवाएँ उपलब्ध कराता है।

(2) यूनिसेफ U N.I.C E.F. (United Nations International Children's Emergency Fund)

यह संगठन भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक विशिष्ट शाखा है जिसकी स्थापना सन् 1946 में की गई। प्रारम्भ मे इसका उद्देश्य युद्ध से प्रभावित देशो के बच्चों और माताओ के स्वास्थ्य संरक्षण का रखा गया था लेकिन बाद मे इसका कार्य क्षेत्र सभी सदस्य देशो के लिए विस्तारित किया गया; जहाँ यह विश्व स्वास्थ्य संघ के सहयोग एव समन्वय से उन सभी योजनाओं में सक्रिय सहयोग देता है जिनमें मातृ एवं शिशु कल्याण और बाल कल्याण सेवाओं का नियोजन एवं प्रसार हो। भारत मे इसका क्षेत्रीय कार्यालय नई दिल्ली मे है। भारत में इस संगठन ने मातृ एवं शिशु कल्याण केन्द्रों की स्थापना, बाल अस्पतालो की स्थापना एवं विस्तार, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों मे मातृ एवं शिशु कल्याण सेवाओं के लिए साज सामान, दवाइयाँ, अतिरिक्त पोषण के लिए दूध पाउडर, वाहन आदि की व्यवस्था, दाइयों व मिडवाइफो के प्रशिक्षण की व्यवस्था और उनके लिए साज सामान आदि की व्यवस्था की है; और उन सभी निवार्य रोगो की रोकथाम के प्रति सहायता की है जो बालको को अधिकाधिक प्रभावित करते हैं। बी. सी जी. वैक्सीनेशन का अभियान भारत में प्रारम्भ ही से इसी संगठन के सक्रिय सहयोग से चालू किया गया, शीतला डिफ्थीरिया, टेटनस, परटूसिस आदि के टीके तैयार करने वाली प्रयोगशालाओं के विस्तार मे साज सामान आदि से सहयोग किया और पैनिसिलिन व डी. डी टी. तैयार करने वाली फेक्टरियों के निर्माण में समुचित योगदान दिया। बच्चो और माताओं के पोषण के लिए अनेकानेक दूध की डेरियां स्थापित की और W.H.O व F. A. O. के सहयोग से विकास खण्डो में अनेकों व्यावहारिक पोषाहार के केन्द्र

स्थापित किये। ग्रामीण क्षेत्रों में स्वच्छ वातावरण बनाये रखने हेतु अनेकों उपकरणों की तथा नलकूप खोदने के लिये आवश्यक साज सामान की भी व्यवस्था की है और कर रहा है। परिवार नियोजन अभियान में भी इस संगठन का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो रहा है।

(3) यू. एस. ए. आई. डी.—U. S. A I D. (United States Agency for International Development)

यह संगठन यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका ने प्रस्थापित किया है। इसे पहले टी सी. एम.T.C.M -(Technical Cooperation Mission) के नाम से पुकारा जाता था। यह संगठन भारत मे अनेकों स्वास्थ्य योजनाओं के लिये महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है। मलेरिया उन्मूलन अभियान मे डी.डी.टी. व डी.डी टी. छिड़कने के साज सामान की आपूर्ति करता है; सक्रामक-रोग निवारण, स्वास्थ्य वातावरण स्वच्छ एवं सुरक्षित जल सम्भरण, परिवार नियोजन एवं पोषाहार आदि योजनाओं में तकनीकी सुझाव एवं आर्थिक सहयोग देता है; मेडिकल एव नर्सिङ्ग एज्युकेशन में योगदान देता है; अन्य प्रशिक्षण योजनाओं, ग्रामीण स्वास्थ्य सेवाओं, उपचारीय संस्थाओं—अस्पताल, क्लिनिक आदि—के विस्तार और स्वास्थ्य शिक्षा प्रसार आदि की योजनाओं मे सक्रिय सहयोग देता है।

स्वास्थ्य शिक्षा

स्वास्थ्य सेवाओं का जनता को अधिकाधिक लाभ हो और इनके सफल संचालन मे जन-साधारण का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि जनता को स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी विषयो की सामयिक जानकारी कराई जाय और उन्हें स्वास्थ्य नियमों के पालन मे पूर्ण प्रोत्साहित किया जाय तथा उन्हे स्वास्थ्य संरक्षण एवं स्वास्थ्य संवर्धन के सभी उपलब्ध उपायों को अपनाने में प्रभावशील एवं विश्वसनीय ढंग से आश्वस्त किया जाय। स्वास्थ्य विज्ञान के बढते चरण मे नये-नये आविष्कारों के आधार पर बनाई गई नई-नई योजनाओ से उन्हे अच्छी तरह अवगत कराया जाय; इनमे उनकी रुचि उत्पन्न की जाय और उनके क्रियान्वयन मे उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जाय। कई वर्ग के लोगों मे परम्परा से पड़ी आदतों, मिथ्या धारणाओं और अज्ञानता के कारण अन्धविश्वास एवं पूर्वाग्रह के प्रभाव को मिटाया जाय और उनका सही दिशा मे स्वास्थ्य संवर्धन के प्रति मार्गदर्शन किया जाय, यही स्वास्थ्य शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

मुँह ढक कर सोना; खुले मैदानों ही में शौच फिरना; नगे पांव फिरना, नदियों के जल ही में नहाना चाहे वह कितना ही गन्दा क्यों न हो; हाथ मुँह धोये बगैर खाना; एक ही थाली मे सम्मिलित भोजन करना; चटपटी मशालेदार चाट खाते रहना; बगैर धोये फल या कच्ची सब्जियाँ खाना; शराब, भांग, गाजा, तम्बाकू आदि का अनियमित उपभोग करना; जगह-जगह थूकना; खांसते या छीकते समय

रूमाल का प्रयोग न करना; नाखून चबाते रहना आदि कुछ ऐसी आदतें हैं जो स्वास्थ्य के लिये हानिकारक सिद्ध होती है।

कई अन्य गलत धारणाएँ भी हैं, जैसे अंग्रेजी दवाइयों व टीकों आदि का प्रयोग न करना क्योंकि इनमे अशुद्ध पदार्थ मिले रहते हैं, डी.डी.टी. का छिड़काव नही करवाना, क्योंकि इससे जीव-हत्या होती है, रोगी के कमरे मे खुली हवा न आने देना क्योंकि इससे सन्निपात होने का डर रहता है; गाजर या चुकन्दर का प्रयोग न करना क्योंकि इनमें हड्डी-सी डण्ठल और रक्त का रग होता है; दूध, वायु, दही कफ और पनीर कब्ज करता है, अधिक समय तक का स्तन-पान बच्चे को अतिरिक्त पोषण प्राप्त कराता है आदि कुछ ऐसी मिथ्या धारणाएँ हैं जो स्वास्थ्यकर नही हैं।

जब तक शीतला का उन्मूलन नहीं हुआ था इसके टीके न लगवाना, रोग होने पर शीतला माता की मनौती मनाना केवल भ्रमित धारणा ही तो थी। मानसिक रोग का सही ढग से इलाज न करवाकर तान्त्रिक इलाज करवाना और भूत-प्रेत उतरवाना, झाड़-फूक से विविध रोगों से छुटकारा न पाने पर भाग्य को कोसना केवल अन्धविश्वास नही तो और क्या है। ऐसा अन्धविश्वास निश्चय ही स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाता है। अतः स्वास्थ्य सरक्षण और स्वास्थ्य सवर्धन में स्वास्थ्य-शिक्षा के विशिष्ट महत्त्व को पहचानना चाहिये।

स्वास्थ्य शिक्षा के लिये विविध तौर तरीकों एव माध्यमों से जहा एक ओर जनता मे जागृति जगाई जाय, वहाँ दूसरी ओर बच्चो मे प्रारम्भ ही से स्वास्थ्य नियमों के पालन मे अभिरुचि जगाई जाय। घर मे यह दायित्व माता-पिता को और स्कूल मे अध्यापक-वर्ग को निभाना होता है, लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि माता-पिता और अध्यापकगण स्वय स्वास्थ्य नियमों से भली-भाति परिचित हों और उनका पालन करके बच्चो मे अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करें। बच्चों को शरीर रचना और शारीरिक क्रियाओ का सामान्य बोध कराने के अतिरिक्त शारीरिक स्वच्छता, नियमित व्यायाम एवं विश्राम, पौष्टिक खाद्य पदार्थों का साधारण ज्ञान, सन्तुलित आहार, संवातन का महत्त्व, स्वच्छ वातावरण, प्रचलित सन्क्रामक रोगों के कारण और प्रतिरोधात्मक उपाय—विशेषकर टीकों का महत्त्व, स्वच्छ एवं सुरक्षित जल, स्वच्छ शौचालय, सोख्ते गड्ढे, मच्छर, मक्खी के उत्पात एवं उनके निराकरण के उपाय आदि पर यथोचित जानकारी देना श्रेयस्कर होता है। बड़े लोगों मे इन्हीं विषयों की विशिष्ट जानकारी के साथ-साथ मिथ्या धारणाओ और अन्धविश्वासो का निराकरण, स्वास्थ्य सेवाओ का आवश्यकतानुसार समुचित उपयोग, मातृ एव शिशु कल्याण और बाल कल्याण सेवाओ का उपयोग, परिवार नियोजन एवं विविध रोग-उन्मूलन या निवारक योजनाओं का समुचित लाभ और उनमे सहयोग आदि के लिये प्रोत्साहित करना होता है।

स्वास्थ्य शिक्षा का जनसाधारण में प्रसार स्वास्थ्य सेवाओं से सम्बन्धित अधिकारी स्वास्थ्य संस्थाओं के अधिकारी एवं कर्मचारी, निजी चिकित्सक, मेडिको सोशल वर्कर, हैल्थ एज्युकेटर, हैल्थ विजिटर, हैल्थ इन्स्पेक्टर, औक्जिलरी हैल्थ वर्कर, मिडवाइफ, दाई आदि को करना चाहिए क्योंकि इन्हें इस काम के लिए पूर्णतया प्रशिक्षित किया जाता है। स्वास्थ्य अधिकारियों एव उनके इस कार्य मे सहायक कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था केन्द्र अथवा राज्य-स्वास्थ्य निदेशालयों में स्थापित हैल्थ एज्युकेशन ब्यूरो में की जाती है, जहाँ से स्वास्थ्य शिक्षा के लिए विशिष्ट सामयिक शिक्षा सामग्री भी तैयार करके प्रसारित की जाती है; जैसे पोस्टर्स, विज्ञप्तियाँ, स्लाइड्स, चार्ट, ग्राफ, मोडल्स, फिल्मस्ट्रिप्स, चलचित्र-फिल्म्स, विविध विषयों पर वार्ताओं के प्रारूप आदि।

स्वास्थ्य शिक्षा के लिए स्वास्थ्य कर्मचारियों को जनता से सीधा सम्पर्क करना होता है जिसमे व्यक्तिगत सम्पर्क अधिक प्रभावशाली होता है; जैसे हैल्थ विजिटर घर-घर जाती है, धात्री माता से सम्पर्क करती है, उसे शिशु सम्भरण की सभी जानकारी देती है और साथ ही सम्भरण विधि को व्यावहारिक रूप से समझाती है। यदि बच्चे को ऊपर का दूध दिया जाता हो तो दूध तैयार करने की विधि स्वय दूध तैयार करके बताती है। इस प्रकार कथनी और करनी से जो प्रभाव वह माता पर डालती है वह चिरस्थायी होता है और माता में इस कार्य के प्रति विशिष्ट अभिरुचि उत्पन्न होती है।

व्यक्तिगत सम्पर्क के साथ-साथ परिवार के अन्य सदस्यों से सम्पर्क, आस-पास के परिवारों से सामूहिक सम्पर्क, चौपालीय सम्पर्क, मोहल्ले के लोगो से संगोष्ठियों आदि में सम्पर्क, स्कूली बच्चों और अध्यापकों से सम्पर्क और सार्वजनिक रूप मे विविध माध्यमों से जनसाधारण से सम्पर्क करके उन्हें प्रभावकारी ढग मे सामयिक स्वास्थ्य विषयो पर प्रबुद्ध करना होता है। स्वास्थ्य विषयक चर्चाओ मे सरल क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग करना ही श्रेयस्कर होता है और लिखित सामग्री भी क्षेत्रीय भाषाओं में ही प्रसारित करना उपयुक्त होता है। पोस्टर्स, चार्ट, स्लाइड आदि में क्षेत्रीय वेशभूषा और वहाँ की सांस्कृतिक परम्पराओ के अनुरूप ही प्रदर्शन करना अधिक प्रभावशील होता है। जन-सम्पर्क मे वार्त्ताओ, संगोष्ठियो, प्रश्नोत्तरो, कीर्तनों, नाटकों, कठपुतली के प्रदर्शनो, चलचित्रो, प्रदर्शनियों, रेडियो या टेलीविजन प्रसारणों और व्यावहारिक कार्य प्रदर्शनों का सहारा लेना समुचित होता है और इस प्रचार कार्य में स्थानीय धार्मिक गुरुओ, नेताओ, सामाजिक मुखियाओं व प्रभावशाली जन-प्रतिनिधियो को विश्वास में लेकर उनका सहयोग प्राप्त करना अत्यन्त ही लाभप्रद होता है।

स्वास्थ्य शिक्षा से जनसाधारण में जो स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों पर जागृति एवं चेतना जगाई जाती है उससे सामान्यत: जनसाधारण के स्वास्थ्य-संरक्षण एवं संवर्धन की ओर आशाजनक सफलता मिल ही जाती है और जनता का स्वास्थ्य-योजनाओ के

क्रियान्वयन में सक्रिय सहयोग भी मिल जाता है, लेकिन कभी-कभी पूर्ण सहयोग न मिलने की आशंका होने पर कानूनी सहायता भी लेनी पड़ती है : जैसे अमुक बीमारी की महामारी के रोकथाम में "संक्रामक-रोग-रोकथाम-कानून" (Epidemic disease Act) की सहायता या निजी स्वार्थ में कुछ वर्ग के लोगों की असामयिक व अनैतिक प्रवृत्तियों पर जैसे खाद्य पदार्थों में मिलावट करने या नकली दवाइयाँ बनाने वाले लोगों के अवाञ्छनीय कार्यों पर सम्बन्धित कानून के अन्तर्गत कार्यवाही करना। इसका भी जनसाधारण पर स्वास्थ्य सम्बन्धित जागृति की दिशा में अप्रत्याशित प्रभाव पड़ता है।

15

भारतीय स्वास्थ्य-समस्याएँ और उनके समाधानार्थ नियोजित की गई स्वास्थ्य-योजनाएँ

भारत एक विशाल देश है जिसका क्षेत्रफल 32,87,300 वर्ग किलोमीटर है, आबादी 68.51 करोड़* (1981) है। इस देश मे 22 बड़े-बड़े प्रान्त और 9 केन्द्र शासित राज्य है; 412* जिले हैं। भारत की जलवायु, भाषा, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यता भिन्न-भिन्न है और यह देश सदियों की पराधीनता में सर्वथा जकड़ा हुआ रहा है। अतः यह स्वाभाविक ही था कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर इसको अनेकानेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ा और उनके समाधान के लिए तत्परता से जुट जाना पड़ा। अन्यान्य समस्याओं में जन-स्वास्थ्य की समस्या प्राथमिकता लिए हुए थी और भारत को इसका पूर्ण तत्परता से सामना भी करना था।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय हमारा स्वास्थ्य-स्तर क्या था, इसका संक्षिप्त वर्णन हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। उस समय हमारी औसत आयु केवल 32 वर्ष की थी; जन्म और मृत्यु दर, प्रति हजार की आबादी पर, क्रमशः 40 और 21 8 थी; मातृ-मृत्यु दर, प्रति हजार प्रसव पर 20 थी; शिशु-मृत्यु दर, प्रति हजार जीवित शिशु जन्म पर 158 थी; अकेले मलेरिया ज्वर से प्रतिवर्ष लगभग 7.5 करोड़ व्यक्ति रोगी होते थे और लगभग 8 लाख मृत्यु को प्राप्त होते थे; शीतला, हैजा, पेचिश, प्रवाहिका तथा अन्य ज्वरों से, जो महामारी या स्थानिक रूप से फैले रहते थे प्रतिवर्ष लगभग 62 लाख मौतें होती थी। कुल मौतो में से लगभग 50% केवल 10 वर्ष की आयु तक के बालक-बालिकाओं में ही हो जाया करती थी। क्षयरोग, कुष्टरोग, फाइलेरिया, रतिज-रोग, ट्रेकोमा, आंत्रकृमि आदि विशिष्ट भीषणता लिए हुए थे।

Health Statistics of India—1984 Ministry of Health, Govt. of India.

शीतला, ट्रेकोमा तथा अन्य नेत्र रोगों के कारण कई बालक व युवा अन्धे हो जाते थे। स्वच्छ वातावरण का–विशेषकर गांवों में–नितान्त अभाव था। उपचारीय सेवाएँ 80% ग्रामीण जनता के लिए लगभग नगण्य सी थी। लोग इन सेवाओं के अभाव में बीमारी को दैवी प्रकोप मानकर अपनी तकदीर को कोसे बैठे रहते थे। निरोधक सेवाएँ भी सीमित ही थीं। पोषण अत्यन्त ही अपर्याप्त था; प्रति व्यक्ति केवल 1700 कैलोरी की खुराक ही उपलब्ध हो पाती थी जबकि साधारण काम-काज करने वाले व्यक्ति को कम से कम 2400 कैलोरी और भारी मेहनत करने वाले को 3900 कैलोरी की आवश्यकता होती है। इस पर भी यह खुराक उत्तम प्रोटीन, आवश्यक एमाइनो-एसिड्स, उपयोगी विटामिन आदि के अभाव में सन्तुलित नहीं होती थी और बहुत से लोग अल्प पोषण से उत्पन्न अभाव-रोगों के शिकार होते थे। इन परिस्थितियों में स्वाधीन भारत ने अपनी स्वास्थ्य समस्याओं को सुलझाने का कार्य तत्परता से हाथ में लिया। जो प्रगति पिछले 35–36 वर्षों में हुई है वह उल्लेखनीय है। शीतला का सम्पूर्ण उन्मूलन हो चुका है, मलेरिया उन्मूलन अभियान की उपलब्धि सराहनीय रही है हालांकि सन् 1976 से इसके पुनः प्रसार में कुछ वृद्धि हुई है। हैजा, तपेदिक, ट्रेकोमा, ग्वाइटर, रतिज-रोग, कुष्ठ-रोग, फाइलेरिया आदि के नियन्त्रण अभियान भी सन्तोषप्रद ढंग से चल रहे हैं; निरोधक और उपचारीय सेवाओं का भी उल्लेखनीय प्रसार हुआ है; फिर भी अन्य विकसित देशों की तुलना में हमारा वर्तमान स्वास्थ्य स्तर कुछ निम्न स्तर का है और यह स्वाभाविक ही है क्योंकि हमारे प्रयास भी तो इन देशों की तुलना में अत्यन्त ही अल्पकालिक हैं।

अन्य विकसित देशों की तुलना में हमारा वर्तमान स्वास्थ्य स्तर कैसा है, इसका अनुमान हम निम्न आकड़ों से लगा पायेंगे।

हमारी वर्तमान औसत आयु 54 वर्ष की है (1981)* जबकि इङ्गलैंड की 70 0, अमेरिका की 72·5 और नार्वे-स्वीडन की लगभग 79 वर्ष की है। हमारी जन्म-दर 33.3 है (1982)* जबकि इङ्गलैंड की 12.3 अमेरिका की 15 8 और नार्वे-स्वीडन की 14·2 है। हमारी मृत्यु दर 11.7 (1982)* जबकि इङ्गलैंड की 11·9, अमेरिका की 8.9 और नार्वे स्वीडन की 10.6 है। हमारी मातृ-मृत्यु दर 4 से 5 है जबकि इङ्गलैंड व अमेरिका की क्रमशः 0·13 व 0·15। हमारी शिशु मृत्यु दर 11.4 (1982)* है जबकि इङ्गलैंड व अमेरिका की क्रमशः केवल 11.7 व 12·1 है। इन देशों में मलेरिया, हैजा, टाइफाइड, डिपथीरिया, शीतला आदि रोगों का उन्मूलन हो चुका हैं जबकि हमारे यहाँ मलेरिया, हैजा आदि अभी कुछ हद तक प्रचलित हैं, हालांकि इनका उन्मूलन एवं नियन्त्रण अभियान चालू हैं।

Health Statistics of India 1984—Ministry of Health, Govt. of India.

वर्तमान निम्न स्वास्थ्य स्तर के मुख्य कारण

(i) **गरीबी एवं बेरोजगारी**—गरीबी और बीमारी का बहुत कुछ गठबन्धन रहता है। गरीबी एवं बेरोजगारी, निम्न स्तर का रहन-सहन और निम्न पोषण, निम्न स्तर का शारीरिक प्रतिरक्षण पैदा करते हैं जिसके कारण बीमारियो को अपनी जड़ जमाने का अच्छा अवसर मिलता है।

(ii) **अशिक्षा, अज्ञानता एवं अन्धविश्वास**—अज्ञानता और अन्धविश्वास का मूल कारण अशिक्षा ही है। अशिक्षित लोग स्वस्थ रहने और स्वास्थ्य साधनों का उचित उपयोग करने के प्रति उदासीन रहते है; समय पर निरोधात्मक टीकों का लाभ न उठाकर रोगी बनते हैं और बीमार हो जाने पर भी उचित इलाज न करवा कर केवल देवी-देवताओं की मनौतियां ही मनाते रहते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में इनका स्वास्थ्य निम्न स्तर का होगा। आज भी हमारे यहाँ साक्षरता केवल 36 23% (1981)* है जो बहुत ही कम है।

(iii) **सामाजिक व्यवस्था**—अल्पायु में विवाह, बडे परिवार, परिवार नियोजन के प्रति उदासीनता और इसी के कारण दिनोदिन बढती आबादी व अभाव की स्थिति, पर्दाप्रथा आदि ऐसे कारण है जो हमारे स्वास्थ्य स्तर को गिराते हैं।

(iv) **अपर्याप्त पोषण**—आज भी हमारी औसतन खुराक केवल *2017* कैलोरी ही की है जो न्यूनतम आवश्यकता से काफी कम है। लगभग 60% बच्चे जिन्हे पर्याप्त पोषण की आवश्यकता होती है, अल्पपोषित हैं और विविध अभाव रोगों से विशेषकर अरक्तता से—ग्रसित हैं।

(v) **स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर वातावरण का अभाव**—आज भी देश के लगभग 75% क्षेत्र मे स्वच्छ एवं सुरक्षित जल प्रदाय व्यवस्था का अभाव है और लगभग 85% क्षेत्रों मे वाहित मल निस्तारण व्यवस्था का अभाव है। ग्रामीण क्षेत्रों मे लगभग 5% घरों में ही स्वच्छ-स्वतः साफ होने वाले-शौचालयो की व्यवस्था हो पाई है। यही कारण है कि अशन पथ के रोगो का अभी भी स्थानिक रूप में प्रचलन है। यदि सुरक्षित जल व्यवस्था और स्वास्थ्यकर मल निस्तारण व्यवस्था का सम्यक् प्रबन्ध हो जाय तो हैजा, टाइफाइड, पेचिश, प्रवाहिका, पोलियो, पीलिया व नारू आदि रोगों का उल्लेखनीय अन्त हो सके।

(vi) **आवासीय मकानों की कमी**—अधिकांश शहरी क्षेत्रो मे और विशेषकर औद्योगिक नगरों की श्रमिक बस्तियों में स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर मकानो की भारी कमी है। बहुत से परिवार असंवातित छोटे-छोटे घुटनभरे कमरो व चालों में—अधिक जनवास की स्थिति मे—रहते हैं जहाँ श्वसन एवं सम्पर्क-जनित रोगों के प्रसार की अधिक सम्भावना रहती है।

* Health Statistics of India 1984—Ministry of Health, Govt. of India,

(vii) संक्रामक एवं निवार्य रोगों का प्रचलन—हालांकि इन रोगों के उन्मूलन एवं नियन्त्रण की योजनायें प्रभावकारी ढंग से कार्यान्वित की जा चुकी हैं, और अब तक की उपलब्धि काफी आशाजनक रही है फिर भी शीतला के अतिरिक्त अन्य रोगो के पूर्ण उन्मूलन या वांछित नियन्त्रण मे अभी कुछ और समय लगना स्वाभाविक ही है।

(viii) प्रशिक्षित स्वास्थ्य कर्मचारियों की कमी—हमारे यहाँ आज भी एक डॉक्टर लगभग 2,610 (1982)* की आबादी पर उपलब्ध हो पाया है हालांकि मेडिकल कॉलेजों की संख्या 27 से बढ़ाकर 106 कर दी गई है; जबकि रूस, अमेरिका व इङ्गलैंड में एक डाक्टर क्रमशः 290, 520 व 660 की आबादी पर उपलब्ध है। हमारे यहाँ एक नर्स 8,000 की आबादी के लिए है जबकि इङ्गलैंड में 280 के लिए। अन्य तकनीकी कर्मचारियो की भी कमी है। हालांकि कई प्रशिक्षण संस्थाएँ स्थापित की जा चुकी है। हमारी न्यूनतम आवश्यकता की तुलना में स्वास्थ्य कर्मचारियो की जो वर्तमान स्थिति है* वह है :—

कर्मचारी	आबादी के अनुपात में वर्तमान उपलब्धि	कम से कम आवश्यकता
डाक्टर	1 : 2610	1 : 1,000
नर्स	1 : 8,000	1 : 5,000
मिडवाइफ	1 : 12,000	1 : 5,000
दन्त चिकित्सक	1 : 63,361	1 : 30,000
स्वास्थ्य निरीक्षक	1 : 26,900	1 : 10,900
हैल्थ विजिटर	1 : 12,000	1 : 5,000
एक्सरे व प्रयोगशाला तकनीशियन	1 : 160,000	1 : 10,000

(ix) रोगी शय्याओं की कमी—हालांकि पिछले 35–36 वर्षों मे हमारी उपचारीय संस्थाओं मे रोगी शय्याओं की काफी वृद्धि हुई है, फिर भी प्रति हजार आबादी पर केवल 0 68 (1982)* रोगी शय्या ही उपलब्ध हो पाई है जबकि इङ्गलैंड में 12 और अमेरिका में लगभग 10 रोगी शय्याएँ उपलब्ध हैं।

(x) हमारी आर्थिक स्थिति भी कुछ हद तक वांछित सेवा विस्तार में बाधा उत्पन्न कर रही है। अभी हम अनुमानित केवल 30.63 (1982)* रुपये ही प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च कर पा रहे हैं—छठी पंचवर्षीय योजना के प्रावधानों के अनुसार—जबकि इङ्गलैंड लगभग 158 डॉलर और अमेरिका लगभग 179 डॉलर खर्च कर रहा है।

Health Statistics of India 1984—Ministry of Health.

इन परिस्थितियों में भारत ने अपनी मुख्य-मुख्य निम्न स्वास्थ्य समस्याओं के समाधान के लिए जो राष्ट्रीय योजनायें एव कार्यक्रम वनाये है और जिन्हें क्रियान्वित किया जा रहा है, वे हैं :—

(i) समाकलित उपचारीय एवं निरोधक स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार
(ii) संक्रामक एवं निवार्य रोगों का निराकरण
(iii) स्वच्छ वातावरण
(iv) समुचित पोषण
(v) परिवार नियोजन
(vi) स्वास्थ्य कर्मचारियों की निर्धारित सख्या मे उपलब्धि एवं उनका समुचित प्रशिक्षण
(vii) उपचारीय एवं निरोधक औषधियो, रसायनों व प्रतिरोधात्मक टीकों आदि का निर्माण, और
(viii) इन योजनाओं में जन-सहयोग के लिए जन-जागरण।

उपचारीय एवं निरोधक–सेवाओं का विस्तार

भोर कमेटी की सिफारिशो के अनुसार एकीकृत स्वास्थ्य-सेवाओं के विस्तार के लिए अल्पकालिक और दीर्घकालिक योजनायें वनाई गई और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र को, इन सेवाओं के सचरण की मूल इकाई बनाया गया। अल्पकालिक योजना में प्रति 40,000 की आवादी पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र जिसमे 4 रोगी शय्याएँ हों—2 प्रसूती और 2 आपातकालीन इलाज के लिए, स्थापित करने का निर्णय लिया गया। प्रति 4 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के लिए एक 30 रोगी शय्याओ वाले अस्पताल की स्थापना और जिला स्तर पर एक द्वितीयक स्वास्थ्य केन्द्र, जिसमे 200 रोगी शय्याएँ हो, स्थापित करने का निर्णय लिया गया। दीर्घकालीन योजना में प्रति 10 से 20 हजार की आवादी पर एक प्रा० स्वा. केन्द्र, प्रत्येक केन्द्र के लिए 75 रोगी शय्याओं का अस्पताल, प्रति 3 से 5 प्रा० स्वा. केन्द्रों के लिए एक द्वितीयक स्वास्थ्य-केन्द्र जिसमें 650 रोगी शय्याओं के अस्पताल की व्यवस्था और जिला स्तर पर जिला स्वास्थ्य केन्द्र या यूनिट जिसमें 2,500 रोगी शय्याओं के अस्पताल की व्यवस्था का निर्णय लिया गया। लेकिन समय-समय के अनुभवों के आधार पर अब इस व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण फेर बदल कर दिया गया है। प्रा. स्वा केन्द्र के क्षेत्र को 80,000 की आबादी से घटाकर 30,000/20,000 (कठिन क्षेत्र) की आवादी का कर दिया गया है और प्रत्येक उपकेन्द्र को 10,000 से घटाकर 5000/3000 की आवादी का। प्रति 4 प्रा० स्वा. केन्द्रो पर एक कम्यूनिटी हेल्थ सेन्टर CHC की स्थापना की जा रही है जिसमें 20 रोगी शय्याओं की व्यवस्था है। ग्राम स्तर तक न्यूनतम प्राथमिक उपचार हेतु HGs की व्यवस्था से लेकर CHC तक की स्वास्थ्य सेवा इकाइयों में वाञ्छित स्वास्थ्य कर्मचारी-वर्ग के परिवर्तित पदस्थापन

व्यवस्था से निश्चय ही ग्रामीण क्षेत्रीय स्वास्थ्य सेवाओं का यथोचित विकास एवं विस्तार हुआ है। इस सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण अध्याय एक में दिया जा चुका है।

इनके अतिरिक्त जिला स्तरीय अस्पतालों, क्लिनिकों, प्रान्तीय मुख्यालयों के अस्पतालों, शिक्षण अस्पतालों, उपचार गृहों आदि का विशेष विस्तार किया गया है और किया जा रहा है। कई प्रान्तों में भ्रमणशील अस्पतालों की भी व्यवस्था की गई है। राजस्थान का 500 रोगी शय्याओं का भ्रमणशील अस्पताल ग्रामीण क्षेत्रों मे अत्यन्त ही विशिष्ट सेवायें उपलब्ध करा रहा है।

संक्रामक एवं निवार्य रोगों का निराकरण—राष्ट्रीय अभियान

(a) मलेरिया उन्मूलन कानून—यह कार्यक्रम 1958 मे लागू किया गया। इससे पूर्व मलेरिया नियन्त्रण अभियान 1953 में चालू किया गया था। मलेरिया उन्मूलन कार्य के लिए सारे देश को–5000 फुट या इससे ऊँचाई वाले क्षेत्र को छोड कर–393 इकाइयो में विभक्त किया गया। एक इकाई लगभग दस लाख कीआबादी के लिए नियत की गई। प्रत्येक इकाई में एक मेडिकल ऑफीसर, एक या इससे अधिक सहायक मलेरिया ऑफिसर, 25 सर्वेलेन्स इन्सपेक्टर, 100 सर्वेलेन्स वर्कर, 8 मलेरिया इन्सपेक्टर, 6 से 8 प्रयोगशाला तकनीशियन, आवश्यकतानुसार ड्राइवर चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी और डी. डी.टी. छिड़कने के लिए सैकड़ों अस्थायी कर्मचारियों की नियुक्ति की गई।

(b) शीतला उन्मूलन अभियान—विस्तृत विवरण अध्याय 9 मे दिया जा चुका है।

(c) फाइलेरिया नियन्त्रण अभियान—लगभग 23 करोड़ 60 लाख व्यक्ति फाइलेरिया ग्रसित क्षेत्रों में—अर्थात् आन्ध्र-प्रदेश, उडीसा, विहार, तामिलनाडू, कर्नाटक, केरला, पूर्वी-उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश व समुद्री तटों के आस-पास के क्षेत्रों में—रहते है, जहाँ यह कार्यक्रम सन् 1955 मे लागू किया गया। आरम्भ मे 22 सर्वे केन्द्र और 13 नियन्त्रण केन्द्र स्थापित किए गए पर अब (1981) नियन्त्रण केन्द्रों की संख्या बढाकर 173 कर दी गई है। नियन्त्रण केन्द्र रोगियो के रक्त परीक्षण आदि से ढूंढ-तलाश करके समुचित उपचार करते हैं और क्यूलेक्स मच्छरो की उत्पत्ति पर रोकथाम व बड़े मच्छरों के निराकरण के सभी उपाय करते हैं। अब तक (1980) लगभग 2 करोड़ 50 लाख लोगों को इस योजना के अन्तर्गत लाभान्वित किया जा चुका है।

(d) क्षय रोग नियन्त्रण अभियान—यह अभियान प्रथम पंचवर्षीय योजना में चालू किया गया। इसके अन्तर्गत जिला स्तर पर क्षय-नियन्त्रण-केन्द्रों की स्थापना की गई। बी सी जी. वेक्सीनेशन का अभियान इससे पूर्व सन् 1951 में ही प्रारम्भ कर दिया गया था। क्षय नियंत्रण केन्द्र–टी. बी. क्लिनिक, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र

अस्पताल तथा डिस्पेन्सरियों के माध्यम से और स्वयं अपने-स्तर पर भी रोगियों की ढूंढ़-तलाश, समुचित निदान, रोगी के सम्पर्क मे आये व्यक्तियों का समय-समय पर स्वास्थ्य परीक्षण और आवश्यकतानुसार उपचार आदि की व्यवस्था करते हैं और बी. सी. जी. के प्रतिरोधात्मक टीके लगाने का विस्तृत कार्य सम्पादित करते हैं। रोगियों का इलाज अधिकतर घरो पर ही किया जाता है पर जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ सम्बन्धित संस्थाओं-क्षय रोग अस्पतालों, सामान्य अस्पतालों के क्षयरोग वार्डों व सैनेटेरिया आदि में—समुचित इलाज की व्यवस्था की जाती है। इस सम्बन्ध मे विस्तृत विचार हम अध्याय 9 मे कर चुके हैं। अब तक (march 1983) लगभग 354 जिला क्षय रोग नियन्त्रण केन्द्र स्थापित किये जा चुके हैं, प्रत्येक प्रान्त मे एक क्षयरोग डिमोन्स्ट्रेशन एवं ट्रेनिग केन्द्र स्थापित किया गया है; बी. सी. जी वैक्सीन तैयार करने वाली प्रयोगशालाओं का विस्तार किया गया है; अस्पतालो में लगभग 45,254 अतिरिक्त रोगी शय्याएँ उपलब्ध की जा चुकी हैं और लगभग 21 करोड व्यक्तियों को बी.सी.जी. के टीके लगाये जा चुके हैं। सम्बन्धित स्वास्थ्य कर्मचारियों के प्रशिक्षण हेतु बङ्गलौर और दिल्ली मे विशिष्ट ट्रेनिग संस्थाओं की स्थापना की गई है।

(e) **कुष्ट रोग नियन्त्रण अभियान**—इस अभियान के अन्तर्गत-जो सन् 1954-55 में प्रारम्भ किया गया था—प्रभावित क्षेत्रों में कुष्ट रोग नियन्त्रण केन्द्रों की स्थापना की गई है। ये केन्द्र रोगी का समुचित उपचार करते हैं तथा सम्पर्क में आये व्यक्तियों का स्वास्थ्य-परीक्षण और आवश्यकतानुसार संगरोध व बचाव आदि के उपाय करते है। अब तक (1983) देश मे कुल 385 नियन्त्रण केन्द्रों की स्थापना की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त लगभग 6985 सर्वे एज्यूकेशन तथा ट्रीटमेंट (SET) केन्द्रों की स्थापना की गई है जो कुष्ट रोग का सर्वेक्षण, स्वास्थ्य शिक्षण और उपचार आदि का कार्य करते है। कुछ केन्द्र स्वयं-सेवी संस्थाओ द्वारा भी चलाये जा रहे है जिन्हे सरकार की ओर से आर्थिक अनुदान दिया जा रहा है।

(f) **रतिज रोग (Venereal Diseases) नियन्त्रण अभियान**—हिमालय के पहाडी क्षेत्र में इस रोग का प्रसार अधिक होने के कारण इस अभियान के अन्तर्गत सर्वश्रेष्ठ विश्व स्वास्थ्य संघ के सहयोग से शिमला में सन् 1949में एक डिमोन्स्ट्रेशन केन्द्र की स्थापना की गई और अनेको टोलियों को प्रभावित क्षेत्रों में निदान एवं उपचार के लिये भेजा गया। इस केन्द्र की देख-रेख में इन टोलियों ने दो वर्षों के अथक प्रयास से लगभग सभी रोगियों का सम्यक् इलाज किया और अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार के सर्वेक्षण, निदान और उपचार हेतु रतिजरोग नियन्त्रण क्लिनिक्स की स्थापना की गई और इनमें काम करने के लिए सम्बन्धित स्वास्थ्य कर्मचारियों के विशिष्ट प्रशिक्षण की व्यवस्था शिमला केन्द्र में की गई। इस समय (1982) देश भर के लगभग 240 रतिजरोग क्लिनिक्स कार्य कर रहे हैं।

(g) ट्रेकोमा नियन्त्रण अभियान—इस अभियान का विस्तृत विवरण अध्याय 9 में दिया जा चुका है।

(h) हैजा नियन्त्रण अभियान–उन क्षेत्रों मे, जहाँ हैजे का स्थानिक प्रसार होता रहता है—विशेषकर पश्चिमी बंगाल, बिहार, आंध्रप्रदेश, उड़ीसा, महाराष्ट्र और तामिलनाडू आदि प्रान्तो मे—इस रोग के नियन्त्रण का विशिष्ट कार्यक्रम लागू किया गया है जिसमे निदानीय प्रयोगशालाओं की व्यवस्था, उपचारीय व्यवस्था, शुद्ध एवं सुरक्षित जल प्रदाय व्यवस्था और शहर सफाई व्यवस्था आदि पर विशेष बल दिया जा रहा है और अन्वेषण एवं शोध कार्य को बढ़ावा दिया जा रहा है। हैजे के आघटन (Incidence) मे अब काफी कमी हो गई है। सन् 1950 में जहाँ 1,76,307रोगी हुए और लगभग 87,000 मृत्युएँ, वहां सन् 1981 मे 4137 रोगी और 131 मौतें ही हुईं।

(i) ग्वाइटर नियन्त्रण अभियान—ग्वाइटर की बीमारी भी हिमालय के पहाडी क्षेत्रो में अधिक होनी पाई गई है, हालांकि कुछ रोगी महाराष्ट्र व मध्यप्रदेश के क्रमशः 4-4 जिलों मे होने पाये गये हैं और चण्डीगढ में भी। अत. इन क्षेत्रों में, इसकी रोकथाम के लिये आयोडीन (पोटाशियम आयोडाइड) मिश्रित नमक वितरित करने की व्यापक व्यवस्था की गई। ग्वाइटर की बीमारी जल में पोटाशियम आयोडाइड की कमी के कारण होती है, जो पहाडी क्षेत्रों के जल में कम होता है। नमक के साथ अतिरिक्त आयोडाइड्स के सम्भरण से यह कमी दूर करदी जाती है और रोग का निवारण कर दिया जाता है। आयोडाइड मिश्रित नमक तैयार करने के संयत्र UNICEF के सहयोग से सांभर, कलकत्ता, खरगोदा आदि में लगाये गये हैं जहाँ 12 इकाइयों से प्रतिवर्ष लगभग 2 लाख टन नमक तैयार किया जाता है। यह कार्य सन् 1954मे प्रारम्भ किया गया। उस समय प्रभावित क्षेत्रों मे औसतन 40 प्रतिशत लोगो को यह रोग था लेकिन इस नमक के प्रयोग से आशाजनक सुधार हुआ है। नवीनतम सर्वेक्षण अभी करना है। नियन्त्रण अभियान चालू है।

स्वच्छ वातावरण

जन-स्वास्थ्य मे स्वच्छ वातावरण का कितना महत्त्व है इस पर हम पीछे यथास्थान विवेचन करते आये हैं। स्वच्छ वातावरण मे शुद्ध एव सुरक्षित जल व्यवस्था मलिन-जल-निकास (drainage), कूडे-कचरे का निकास एव मल-मूत्र के स्वास्थ्यकर निस्तारण को विशेष महत्त्व दिया जाता है। ग्रामों मे इस व्यवस्था का दायित्व ग्राम पंचायतों एवं ग्राम स्वास्थ्य समितियों पर रखा गया है, जिन्हे प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रो से सम्यक् निर्देशन व सहयोग प्राप्त होता है और शहरो मे यही दायित्व नगरपालिकाओं का है। केन्द्रीय सरकार ने सन् 1954 मे राष्ट्रीय जल प्रदाय एव सेनिटेशन (Water Supply and Sanitation) योजना को लागू किया जिसमे शहरी क्षेत्रो मे इन कार्यों के लिये राज्य सरकारों को लम्बी अवधि के ऋण और ग्रामीण

क्षेत्रों के लिये यथोचित आर्थिक अनुदान देने की व्यवस्था की गई। प्रथम पचवर्षीय योजना में इन कार्यों के लिये लगभग 11 करोड़ रुपया खर्च किया गया और द्वितीय तृतीय, चतुर्थ एवं पाँचवीं योजनाओं मे क्रमश: 74, 105, 458 व 1091 करोड़ तथा छठी योजना मे 3922 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है जिसमे से 1983-84 तक 2089·5 करोड़ रुपया खर्च किया गया।* उन राज्यो को प्राथमिकता दी गई जिनमें हैजा फाइलेरिया व नारू रोगो का अधिक प्रचलन है। केन्द्रीय स्वास्थ्य निदेशालय में व प्रान्तीय स्वास्थ्य मन्त्रालयों या निदेशालयो में विशेष जनस्वास्थ्य इंजीनियरिंग प्रकोष्ठो या विभागों की स्थापना की गई जो इस कार्य मे विशिष्ट तकनीकी सलाह दे सकें और नियोजित कार्यों का सम्पादन कर सकें।

समुचित पोषण :

भारत में आज भी लगभग 75 प्रतिशत लोग अपर्याप्त पोषण की स्थिति मे है। 1 से 5 वर्ष के बच्चे लगभग 30 से 40 प्रतिशत की संख्या में प्रोटीन कैलोरीज का अभाव प्रदर्शित करते है और लगभग 70 प्रतिशत अरक्तता के शिकार बने हुए हैं। विटामिन 'ए' के अभाव मे हजारो बच्चे केरेटोमलेशिया से पीड़ित होकर अन्धे हो जाते है। केवल पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, आंध्रप्रदेश, तामिलनाडू व केरल मे प्रतिवर्ष 12,000 से 14,000 बच्चे केरेटोमलेशिया के कारण दृष्टिहीन हो जाते है। समुचित पोषण के लिये यह आवश्यक है कि खाद्य पदार्थों की पर्याप्त उपज हो, इनके वितरण की ठीक व्यवस्था हो और जन-साधारण को विशेषकर महिलाओ को—व्यावहारिक पोषण की ठीक से जानकारी हो। खाद्य पदार्थों की उपज मे देश ने पिछले वर्षों मे काफी सन्तोषप्रद प्रगति की है। सन् 1950-51 में अनाज व दालो की उपज जहाँ 5 करोड़ टन की ही थी, आज वह लगभग 15 करोड़ टन है। फिर भी सामान्य वितरण एवं आर्थिक परिस्थितियो के कारण वांछित उपलब्धि न होने से आवश्यकता के अनुरूप प्रति-व्यक्ति-प्राप्ति कुछ कम ही रहती है। अन्य खाद्य-पदार्थों की उपज अभी भी पर्याप्त नही है। उत्पादन के हमारे प्रयासों से एक ओर जहाँ अतिवृष्टि एवं बाढ़ आदि समय-समय पर बाधा पैदा करने वाले कारण बनते हैं, वहाँ सिचाई के बढ़ते साधन, उत्तम बीज, रासायनिक खाद आदि हमारे प्रयासो को समुचित सफल बना रहे हैं।

बच्चों व प्रसूति एवं धात्री माताओं के लिये अतिरिक्त पोषाहार की व्यवस्था UNICEF, WHO, FAO और CARE के सहयोग से सन् 1962 मे व्यावहारिक पोषण योजना के रूप मे प्रारम्भ की गई। इससे पूर्व प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रो, मातृ एवं शिशु कल्याण केन्द्रों, डिस्पेन्सरियों, अस्पतालों व स्कूलो मे UNICEF की

* Health Statistics of India 1984—Ministry of Health Govt. of India.

सहायता से दुग्ध पाउडर से तैयार किये गये दूध से बच्चों व माताओं को दूध पिलाने की व्यवस्था की गई।

व्यावहारिक पोषण योजना के अन्तर्गत पौष्टिक खाद्य पदार्थों के उत्पादन, सम्भरण और सन्तुलित आहार सम्बन्धी व्यावहारिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। इस सम्बन्ध में कुछ चर्चा पूर्व में अध्याय 11 में की जा चुकी है। इस योजना के अन्तर्गत सन् 1982 तक लगभग 1375 विकास खण्डों में लगभग 1 करोड़ 74 लाख बच्चों व प्रसूति एवं धात्री माताओं को सम्भरण दिया गया।

परिवार नियोजन

भारत की तेज रफ्तार से बढ़ती हुई आबादी के लिये जो 2.4%की दर से प्रति वर्ष बढ़ती रही है और जो हमारे चहुँमुखी विकास में बाधक हो रही है, भारत सरकार ने परिवार कल्याण एवं परिवार नियोजन के कार्यक्रम को तत्परता से लागू करने का निर्णय लिया और प्रथम पंचवर्षीय योजना में–सन् 1951 में इसे–सीमित क्षेत्र में लागू किया गया। तदुपरान्त इसमें व्यापक विस्तार किया गया और आज इसे देशभर में अत्यन्त ही प्रमुखता एवं प्राथमिकता से चलाया जा रहा है। सन् 1966 में केन्द्र में अलग से परिवार नियोजन विभाग की स्थापना की गई और केन्द्रीय स्वास्थ्य निदेशालय में एक परिवार नियोजन कमिश्नर की नियुक्ति की गई। राज्य सरकारों के स्वास्थ्य निदेशालयों में भी अलग से परिवार नियोजन प्रकोष्ठ स्थापित किये गये और राज्य की सभी उपचारीय संस्थाओं और स्वास्थ्य केन्द्रों में परिवार नियोजन सम्बन्धी सभी सेवाएँ उपलब्ध कराई गई। जन-जागरण एवं जन-सहयोग के लिये विस्तृत स्तर पर सभी उपलब्ध साधनों से प्रचार कार्य प्रारम्भ किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस कार्य के लिये लगभग 10 लाख रुपये खर्च किये गये लेकिन द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाओं में क्रमशः 2 करोड़ 20 लाख, 24 करोड़ 90 लाख और 278 करोड़ रुपये खर्च किये गये। पाँचवी पंचवर्षीय योजना में 491.8 करोड़ रुपये खर्च किये गये और छठी में 1010 करोड़ का प्रावधान किया गया है। सन् 1980 के अन्त तक देश में लगभग 335 डिस्ट्रिक्ट फेमिली प्लानिंग ब्यूरो, 5429 ग्रामीण क्षेत्रीय परिवार नियोजन केन्द्र, 57,638 ग्रामीण उपकेन्द्र, 1827 शहरी केन्द्र और 50 विशिष्ट प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गई।

स्वास्थ्य कर्मचारियों की उपलब्धि

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, डॉक्टरी प्रशिक्षण के लिये मेडिकल कॉलेजों की संख्या 28 से बढ़ाकर 106 कर दी गई है और लगभग एक-तिहाई कॉलेजों में स्नातकोत्तर प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य सेवाओं के संचालन एवं प्रशासन सम्बन्धी विशिष्ट प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध विशिष्ट शिक्षण

संस्थाओं में किया गया है और एक संस्था तो विशेष रूप से प्रशासनिक प्रशिक्षण के लिये ही दिल्ली मे स्वास्थ्य निदेशालय की देख-रेख में नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ हैल्थ एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड एज्यूकेशन (NIHAE) के नाम से सन् 1963 में स्थापित की गयी। विदेशों मे भी डॉक्टरों के विशेष प्रशिक्षण की, विविध छात्रवृत्तियों पर, व्यवस्था की गई है जिसमें WHO का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त नर्स, मिडवाइफ, हैल्थ विजिटर, हैल्थ एसिस्टेंट, ओक्जिलरि-नर्स-मिडवाइफ, बहुउद्देशीय हैल्थ वर्कर, सेनिटरी इन्सपेक्टर, फार्मेसिस्ट, तकनीशियन, दाई आदि के प्रशिक्षण की संस्थाएँ नये रूप में स्थापित की गई हैं या स्थापित संस्थाओं का सम्यक् विस्तार किया गया है जिससे इन कर्मचारियों की वर्तमान संख्या में उपलब्धि हो पायी है। उपलब्ध संख्या अध्याय I मे दर्शाई जा चुकी है।

उपचारीय एवं निरोधक औषधियों, रसायनों व प्रतिरोधात्मक टीकों का निर्माण

स्वास्थ्य सेवाओं के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक था कि सभी आवश्यक औषधियाँ, रसायन, प्रतिरोधात्मक टीके—वैक्सीन आदि— और साज-सामान पर्याप्त मात्रा में मिलते रहें और इनका निर्माण नियन्त्रित विधि और निर्धारित मानक स्तर का हो, नकली या मिलावटी न हो। इसके लिए भारत सरकार ने देश भर में ड्रग्स एक्ट (1940) सन् 1955 मे लागू किया और सभी दवाई निर्माता कम्पनियों को और दवाई विक्रेताओं को इसके अन्तर्गत नियन्त्रित किया तथा औषध उत्पादन को भी प्रोत्साहन दिया। नई-नई कम्पनियाँ निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों मे स्थापित की गयी, जिनकी संख्या 31-3-80 को लगभग 5156 थी। निजी क्षेत्र की मुख्य-मुख्य कम्पनियाँ महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, उत्तरप्रदेश, तमिलनाडु और गुजरात प्रान्त मे हैं। अन्य प्रान्तों मे भी बहुत-सी कम्पनियाँ हैं पर उनकी संख्या सीमित है और अधिकांश लघु उद्योग क्षेत्र की हैं। सार्वजनिक क्षेत्र मे हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक लिमिटेड पिम्परी, इण्डियन ड्रग्स एण्ड फार्मास्युटिकल लिमिटेड, ऋषिकेश और हैदराबाद व मद्रास मे (उपकरण एवं साज-सामान तैयार करने वाली शाखा) प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त डी.डी.टी. तैयार करने वाली फैक्ट्री—दिल्ली और बी एच सी. तैयार करने वाली इम्पीरियल केमिकल इन्डस्ट्री व टाटा इन्डस्ट्री मुख्य हैं। वैक्सीन व अन्य टीके तैयार करने वाली प्रयोगशालाएँ जिनका व्यापक विस्तार किया गया वे है—गुइन्डी इन्स्टीट्यूट मद्रास जो B.C.G. वैक्सीन व ट्युबरक्युलिन तैयार करती है, हेफ्फकिन इन्स्टीट्यूट—बम्बई जो हैजा, प्लेग, टाइफाइड आदि के वैक्सीन, एण्टीटॉक्सीन व अन्य बायोलोजिकल्स तैयार करती है; सेन्ट्रल रिसर्च इन्स्टीट्यूट—कसौली—रेबीज, इन्फ्लुएन्जा, हैजा व टाइफाइड के वैक्सीन्स, एण्टीवीनम-सीरम, टेटनस-टॉक्सॉइड्स आदि तैयार करती है और पटवाडागर, हैदराबाद, बेलगाव व गुइन्डी की प्रयोगशालाएँ फ्रीज ड्राइड वैक्सीन तैयार करती है।

देश भर में सरकारी, मिलिट्री व स्वयंसेवी संस्थाओं के अस्पतालों व अन्य स्वास्थ्य संस्थानों को नियमित दवाइयों व साज-सामानों की आपूर्ति के लिए 6 क्षेत्रीय मेडिकल स्टोर स्थापित किये गये हैं जो बम्बई, कलकत्ता, गौहाटी, हैदराबाद, करनाल और मद्रास मे स्थित हैं। ये स्टोर्स लगभग 16,000 अस्पतालों व डिस्पेन्सरियों की आवश्यकता पूर्ति करते हैं। यहां कुछ सामान्य किस्म की औषधियों व ड्रेसिंग्स आदि का निर्माण भी किया जाता है और साज-सामानों की मरम्मत भी।

जन-सहयोग के लिये जन-जागरण

स्वास्थ्य-शिक्षा और जन-जागरण के निमित्त किये गये जन-सम्पर्क के सम्बन्ध में पीछे समुचित प्रकाश डाला जा चुका है। यहां केवल इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त होगा कि केन्द्र व राज्य सरकारों के स्वास्थ्य निदेशालयों में हैल्थ एज्युकेशन ब्यूरोज की स्थापना की जा चुकी है जहां से स्वास्थ्य शिक्षा सम्बन्धी विविध सामग्री तैयार करके प्रचारार्थ प्रसारित की जाती है और प्रचार कार्य में लगे सभी सम्बन्धित स्वास्थ्य कर्मचारियों को समय-समय पर यथोचित प्रशिक्षण एवं निर्देशन दिया जाता है तथा आवश्यकतानुसार सहयोग एवं मार्गदर्शन भी।

———

अनुक्रमणिका

ख

ग

फ

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
14	6	4.5	4-5
20	31	मायताओ	मान्यताओं
70	24	चरण	भरण
78	13 व 17	गंभीर	गभीर
93	21	जो	To be deleted
137	29	Tr Ethyleglycol	Tri Ethyleglycol
144	21	वैरिलेसा	वैरिसेला
164	12	Rediography	Radiography
177	2	पूस	पूय
183	5	40 से 50	40 से 50%
185	पृष्ठ शीर्ष	उग्र	ग्रेड
200	15	प्रभावित	संभावित
207	30	भगोष्ट मे	भगोष्ट से
212	28	रहना	रखना
213	27	से कहते	मे करते
249	26	नली के	नली में
257	19	संक्रामण	संक्रमण
300	28	11.4	114
305	27	सर्वश्रेष्ठ	सर्वप्रथम
312	23	8	7
317	1	25	256
318	15	घुमेरिया	वुमेरेरिया
	31	तेस्टिस	वेस्टिस
321	अन्तिम	125	124